र-प्राप्त

कार

प्रवर्दी

रचनाएँ

१—न्याय—'जस्टिस' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक—श्रीयुत प्रेमचंद। मूल्य २।)

२—हड़ताल—'स्ट्राइक' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक—श्रीयुत प्रेमचंद। मूल्य २)

३—धोखाधड़ी—'स्किन गेम' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक—श्रीयुत लालता-प्रसाद शुक्ल, एम्० ए०। मूल्य १॥।)

४—चाँदी की डिबिया—'सिल्वर बॉक्स' नामक नाटक का अनुवाद। अनुवादक—श्रीयुत प्रेमचंद। मूल्य १॥)

सभी पुस्तकों पर सुंदर सुनहरी कपड़े की मज़बूत जिल्दें हैं।

प्रकाशक

हिंदुस्तानी एकेडेमी,

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

विज्ञान हस्तामलक
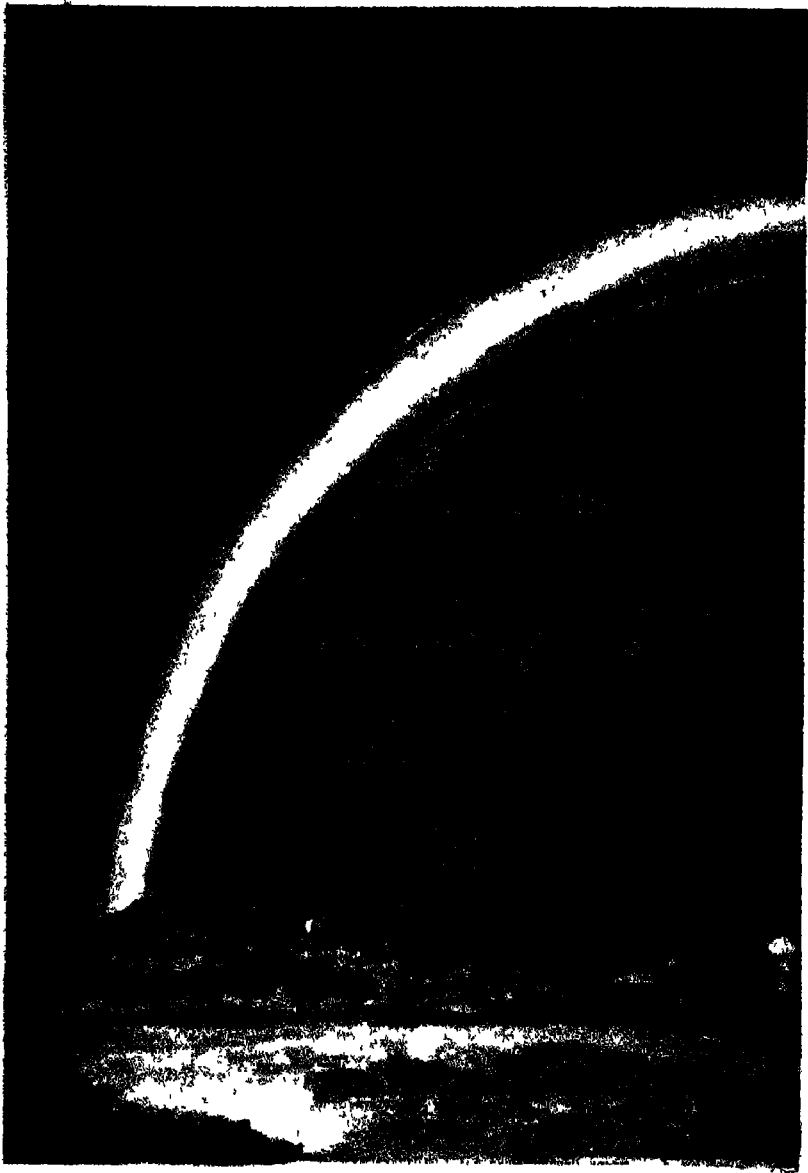
चित्र १ - इन्द्र-धनुष

जहां-कहीं जल-सीकर-राशि पर सामने से सूर्य किरणें पड़ती हैं, वहां इन्द्र-धनुष बन जाता है। आकाश में कभी-कभी इन्हीं कारणों से दीखता है। प्रत्येक सीकर, त्रिपार्श्व कांच की तरह, श्वेत किरण को सातों रंगों की किरणों में विभक्त कर देता है। सफेद किरण वस्तुतः असंख्य विविध रंगों की किरणों से बनी हुई है।

[विज्ञान हस्तामलक, पृ० १७ के सामने]   [सौर-परिवार से

विज्ञान हस्तामलक

अर्थात्

सीधी-सादी भाषा में रोचक क्रम से अठारह विज्ञानों की कहानी

लेखक

श्रीकाशी हिन्दू-विश्वविद्यालय और गुरुकुल-कांगड़ी के भूतपूर्व रसायनाचार्य तथा "विज्ञान" के प्रधान सम्पादक

रामदास गौड़, एम्० ए०

"विज्ञानं ब्रह्म"

—तै० उ० । ३ । ५

प्रयाग

हिन्दुस्तानी एकेडमी

१६३६

प्रकाशक
हिन्दुस्तानी एकेडमी, यू० पी०
इलाहाबाद

मूल्य { सजिल्द ६॥)
बिना जिल्द ६)

मुद्रक—भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव्य
कायस्थ पाठशाला प्रेस
इलाहाबाद

श्रीसीतारामाभ्यां नमः

प्रस्तावना

यस्यैवायोगयोगौहि कारणं बन्धमोक्षयोः
विज्ञानं तमहं वन्दे तपसा विद्यया धृतम्

विज्ञान एक ऐसा महासागर है जिसका वारपार नहीं है, जिसकी गहराई की थाह आज तक नहीं मिली। मोती की खोज में मरजीवे नित्य डुबकियां लगाते रहते हैं। पार की तलाश में कितने जहाज मारे-मारे फिरे। वह आज भी चक्कर में फँसे हुए हैं। इधर-उधर बरसों की यात्रा करके उनपर के सवार इसी किनारे लौट आते हैं। मरजीवों के साहस की हम सराहना करते हैं, उनके मोतों के आब को देख अचरज करते हैं, गुणग्राहक उनका आदर करते हैं, परंतु सैर करनेवालों में यह हिम्मत कहां कि गहराई में जायं और मोती लावें। वह तो माला की शोभा देखकर ही सुखी होते हैं। सागर के ऊपरी तल पर जहां-जहां चक्कर का भय नहीं है, जहां भयानक जलजंतु नहीं हैं वहां-वहां घूमकर सैर कर सकते हैं। दूर से ऐसे तमाशे भी देख सकते हैं जिनके पास न जाकर भी उनका कुछ आनंद मिल सकता है। यह पुस्तक पाठकों की इसी तरह की सैर के लिये बजरा-स्वरूप तैयार है।

हाथ में आँवला हो तो उलट-पलटकर जैसे-चाहे-वैसे उसके बाहर-बाहर का तल आदमी देख सकता है। उसी तरह इस पोथी से विज्ञान का ऊपरी विस्तार कुछ समझ में आ जाता है। कुछ थोड़ा-बहुत तह के भीतर का भी अनुमान हो जाता है। इसी लिये यह "विज्ञान हस्तामलक" है।

इस पोथी का यह दावा नहीं है कि इसके पढ़नेवाले को किसी विशेष विज्ञान का संपूर्ण ज्ञान हो जायगा, क्योंकि किसी एक शाखा का संपूर्ण ज्ञान तो उसे भी नहीं होता जो अपना जीवन उसके संपादन में निछावर कर देता है। इस पोथी से अवश्य ही अनेक विज्ञानों का इतना थोड़ा-थोड़ा ज्ञान हो जायगा कि पढ़नेवाले को यह समझ में आ जाय कि अब तक मनुष्य कहां तक उन्नति कर सका है और उसके ज्ञानवृक्ष की भिन्न-भिन्न शाखाएं किस तरह आपस में मिली-जुली हैं और किस तरह सब के मूल का मार्ग एक ही तना है जिससे सभी शाखाएं निकली हुई हैं। पाठक इस पोथी में विज्ञान के विविध अंगों को यथा-स्थान देखेंगे और उनके प्रायः पूरे शरीर का एक साथ दर्शन करेंगे। यह सुभीता उन्हें किसी विश्व-विद्यालय में नहीं मिल सकता।

विद्यालयों में पढ़नेवाले यदि इस पोथी को पढ़ेंगे तो उनकी विद्या-संबंधी संस्कृति का वर्त्तमान काल के अनुरूप विकास हो जायगा, संसार के संबंध में उनकी दृष्टि अधिक दूरगामी और विस्तृत हो जायगी। यह पोथी सांस्कृतिक शिक्षा के लिये अत्यंत उपयोगी होनी चाहिये। विज्ञान के विद्यार्थी भी जितना कुछ पढ़ते हैं, उसी में उनका ज्ञान सीमित रहता है। मुझे दृढ़ आशा है कि आनुषंगिक विज्ञानों के बोध की इच्छा वे इस पुस्तक द्वारा सहज में पूर्ण कर सकेंगे। जिन्होंने पन्द्रह-बीस बरस पहले वैज्ञानिक शिक्षा पायी है वह इधर के वैज्ञानिक विकास की जानकारी इस पुस्तक से प्राप्त कर के वर्त्तमान काल से सम्बन्ध जोड़ लेंगे।

विश्वविद्यालय की शिक्षा के दो उद्देश्य होते हैं। पहला यह कि थोड़ा-थोड़ा सभी विषयों को मनुष्य जाने, दूसरा यह कि किसी एक विषय को पूर्णतया जाने। यह पोथी पहले उद्देश्य को दृष्टि मे रखकर लिखी गया है।

इस पोथी मे सृष्टि की वह कहानी है जो मनुष्य ने उसी की जबानी सुनी है। इसमें पहले तो यह बताया गया है कि सब विश्वों में हमारे विश्व की क्या स्थिति है, फिर उस विश्व में हमारी दुनिया की क्या हैसियत है। उसमें क्या-क्या है, उसमें की शक्ति के क्या-क्या रूप हैं और वह कैसे-कैसे काम करती है। उसमें वस्तु की क्या दशा है और उसके क्या-क्या रूप हैं, मनुष्य की परिस्थिति कैसी है, स्वयं मनुष्य क्या है, कैसा है, किस तरह की उसकी मनोवृत्ति है, वह किस तरह परिस्थिति के साथ विकास करता रहा है। वह अपनी परिस्थिति पर कितना काबू कर पाया है। उसने किस तरह जल, स्थल, और आकाश पर विजय पायी है और उसने पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश को कैसे अपने वश मे कर लिया है। विकास के क्रम से जितनी बातें विज्ञान को अब तक पक्की तौर से मालूम हो चुकी हैं, उन्हीं को सिलसिलेवार रोचक और सुबोध रूप में इस पोथी मे वर्णन करने की कोशिश की गयी है।

थोड़े मे इस पुस्तक मे निम्न-लिखित अठारह मुख्य विषयों की ऐसी चर्चा की गयी है कि पाठक को उन विषयों का स्थूल ज्ञान अवश्य हो जाय—

१ ज्यौतिष	१० सापेक्षवाद
२ भौतिक भूगोल	११ रसायन-शास्त्र
३ भूगर्भ-विज्ञान	१२ सागर-विज्ञान
४ जीव-विज्ञान	१३ अंतरिक्ष-विज्ञान
५ विकास-शास्त्र	१४ जीवाणु-विज्ञान
६ मानव-शरीर-विज्ञान	१५ बनस्पति-शास्त्र
७ मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण	१६ शिल्प-शास्त्र
८ मरणोत्तर-जीवन-विज्ञान	१७ स्वास्थ्य-विज्ञान
९ भौतिक विज्ञान	१८ विज्ञान-विधान

फिर भी इसमें गणित-विज्ञान, तर्क-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, इतिहास-शास्त्र, स्थित्यंक-शास्त्र आदि आवश्यक शास्त्रों का समावेश नहीं हो सका है।

ऐसी पुस्तक लिखने की मेरी बहुत काल से अभिलाषा थी। इसके प्रकाशन की व्यय-साध्यता ही मेरे मार्ग में भारी बाधा थी। मेरे कभी के शिष्य और अब योग्य मित्र डाक्टर ताराचन्द जी प्रेरणा के लिये कृतज्ञता के पात्र हैं और हिन्दुस्तानी अकेडेमी अपने इस साहस के लिये बधाई के योग्य है।

जहां तक मुझे मालूम है, इस ढंग की पुस्तक अभी तक किसी भारतीय भाषा में प्रकाशित नहीं हुई है।

अंग्रेजी में टामसन की "औटलैन आफ सायंस" और "हार्म्सवर्थ पाप्युलर सायंस" इसी तरह की अच्छी पुस्तकें हैं। विषय-क्रम निर्धारण में इन्हीं पुस्तकों का आदर्श रखा गया है। हिन्दी पाठकों के लिये विदेशी भाषा में होने से ये ग्रंथ दुर्गम और दुर्लभ है। प्रस्तुत पोथी ने हिन्दी में एक साथ अठारह विषयों को सुलभ कर दिया है। इन में से अनेक विषयों पर अलग-अलग पोथियां हिन्दी में भी छप चुकी हैं, परंतु एक तो उनका ढंग रोचक और सुबोध नहीं है, दूसरे उन से विज्ञान के अलग-अलग अंगों का दर्शन होता है। सब अंगों को यथास्थान जोड़कर विज्ञान-शरीर का पूरा ढांचा एक साथ दिखाने का किसी भारतीय भाषा में शायद यह पहला प्रयास है।

इस कार्य्य में मैंने अनेक ग्रंथों से सहायता पायी है। उन में से प्रमुख का स्थान-स्थान पर उल्लेख है। यहाँ विस्तार-भय से सब का नामोल्लेख न करके मैं संसार के सभी वैज्ञानिकों के प्रति कृतज्ञता प्रकाश करता हूँ। विषय सभी औरों के है, शब्द-योजना मेरी है। फूल सभी विज्ञान-वाटिका के हैं, चुनाव मेरा है, और अपनी भाषा और भाव के सूत्र में उन्हें गुंफित करके सुविज्ञ पाठकों को भेंट करने की धृष्टता मेरी है।

इस पुस्तक में विषय को हृदयंगम कराने के लिये आवश्यक चित्र भी दिये गये हैं।

मैं सब से अधिक विज्ञान-परिषत का कृतज्ञ हूँ जिससे इस ग्रंथ के लिये बहुत से चित्रों के ब्लाक मिले हैं। मंगलाप्रसाद-पारितोषिक विजेता मेरे प्रिय शिष्य मित्रवर डा० त्रिलोकीनाथजी वर्म्मा ने अपने अनुपम ग्रंथ "हमारे शरीर की रचना" से यथेष्ट चित्रों के लेने की सहर्ष अनुमति और कई अत्यंत उपयोगी परामर्श दिये इसके लिये मैं उनका परम कृतज्ञ हूँ। पंडित-प्रवर विद्याभूषण श्री दीनानाथ शास्त्री चुलैट का मैं चार नकशों के लिये आभारी हूँ। "सौर-परिवार" तो अकेडेमी परिवार की चीज है और मंगलाप्रसाद-पारितोषिक विजेता मित्रवर डा० गोरखप्रसाद जी एक कुटुंबी सदृश हैं। उनसे तो अपनापे के नाते मैं ने बहुत सारे चित्र ले लिये हैं। एतदर्थ मैं उनका कम कृतज्ञ नहीं हूँ।

विदेशी प्रकाशकों का भी मैं ऋणी हूं। एक चित्र के लिये मकमिलन का, दो चित्रों के लिये विलियम्स-ऐंड-नारगेट का, तीन चित्रों के लिये सीली-सर्विस कम्पनी का, और एक दर्जन से अधिक चित्रों के लिये ज्यार्ज-न्यून्स का भी मैं अनुगृहीत हूँ। ये परोक्त चित्र प्रायः सभी अनुवर्त्तन में, कुछ परिवर्त्तन के साथ, चित्रकार द्वारा फिर से तैयार कराये गये और इस सम्बन्ध में सारा व्यय प्रकाशक ने किया। रेलवे इंजन के रंगीन चित्र के लिये, जब वह विज्ञान में छपनेवाला था, मेरे मित्र पं० ओंकारनाथ शर्म्मा ने रेलवे-बोर्ड से विशेष आज्ञा ले ली थी। उसके ब्लाक परिषत् की कृपा से मिले।

पाठक इस पुस्तकमें वर्त्तनी की असमानता एवं अनेक छापे की भूलें पावेंगे। उसके कारण कई हैं। अकेडमी के अपने नियम इस सम्बन्ध में और हैं और मेरा अपना चालीस बरसों का अभ्यास उनसे नितान्त भिन्न है इस के अतिरिक्त विशेष प्रकार के टाइपों की अपर्य्याप्तता भी एक कठिनाई थी। इन सब बातों के सिवा मेरी आंखों की कमजोरी, निश्चित अवधि में छपवाने की उतावली, प्रूफ-संशोधन में सहायता का अभाव, और मेरी मानव-सुलभ सब तरह की दुर्बलताएं, भूलों के लिये जिम्मेदार हैं। यह सब होते हुए भी मैनेजर श्री श्यामसुन्दरजी श्रीवास्तव्य एवं उनके अधीन प्रेस के कर्म्मचारियों ने दिन और रात निरन्तर काम करके इस पुस्तक को अवधि के भीतर निकाल देने के लिये जो जीतोड़ परिश्रम किया है उसके लिये मैं कृतज्ञ हूं और रहूंगा। एक अपरिचित प्रेस से इस कोटि की सहकारिता की आशा न थी।

गणिताचार्य मित्रवर स्वर्गीय डा० गणेशप्रसाद साहब कई महत्त्व की सलाहों के लिये, भौतिकाचार्य मित्रवर प्रोफेसर सालिगराम जी भार्गव, एम० एस सी०, कई तरह की सहायता के लिये, भौतिकाचार्य मित्रवर प्रोफेसर चंदीप्रसाद जी एम०, ए०, बी० एस-सी०, विद्युद्वाणी संबंधी कई ताजे नोटों के लिये, एवं परम मित्र और प्रिय शिष्य पंडित महावीरप्रसादजी श्रीवास्तव्य, बी० एस्-सी०, एल्० टी०, विशारद, आर्य्यभट की जीवनी के लिये, अत्यंत कृतज्ञता-पूर्वक स्मरणीय हैं।

अन्ये च बहवो विज्ञाः ज्ञानविज्ञानपारगाः।
पथप्रदर्शका ये स्युः तेभ्योऽपीह नमो नमः॥

बड़ी पियरी, बनारस शहर
कुशोत्पाटिनी ३०, १९९२

रामदास गौड़

विषयानुक्रमणिका

पहला खंड
विश्व-विज्ञान

दूसरा खंड
जीवन-विज्ञान

तीसरा खंड

जीव-विद्या और मानव-शरीर-विज्ञान

चौथा खंड

मनोविज्ञान

पांचवां खंड

शक्ति-विज्ञान और सूक्ष्म प्रकृति के रहस्य

छठा खंड

रसायन-विज्ञान

सातवां खंड

परिस्थिति-विज्ञान

आठवां खंड

परिस्थिति पर विजय

पहला खंड

विश्व-विज्ञान

चित्र २—मार्गशीर्ष मास की रात का दृश्य

[परिषत की कृपा

चित्र १— फाल्गुन मास की रात का दृश्य

[परिषद् की कृपा

पहला अध्याय

विश्व-दर्शन

१—हमारी जानकारी

संसार भर में सब से सुंदर, सब से अद्भुत और सब से बड़ा तमाशा हमारी आँखों के सामने होता रहता है, पर नित्य की बात होने से हम उस पर ध्यान कम देते हैं। उषा काल की अपूर्व शोभा, सूर्य का तड़के उदय होना, उस की मनोमोहक किरणों का दसों दिशाओं में छिटकना, उस का तेजोमय रूप, तरणि की तरुणाई, फिर दिन का ढलना, सूर्य का अस्त होना, सायंकाल की विचित्र छवि, फिर चाँद और तारों से सजी सजायी रात का आना और अपनी छटा दिखाना—यह सब नित्य का तमाशा है जो प्रकृति में हमारे सामने होता रहता है। तारों से जड़े हुए आकाश का परदा तो बराबर बदलता रहता है। घटाओं का छा जाना, बिजली का कौंदना, बादल की गरज, इन्द्रधनुष की छवि, उत्तरी दक्षिणी विद्युन्माला की आभाएं, वर्षा, कुहरा आदि नये नये दृश्य बदलते रहते हैं। उस का तमाशा नित्य नये ढंग पर परन्तु बड़े नियम और नाप से होता रहता है।

मनुष्य यह तमाशा अनादि काल से देखता आया है। उस ने काल का अनुमान और हिसाब इन्हीं परदों में होनेवाले फेर-फार से किया है। इसी लिये यह कोई अचरज की बात नहीं है कि उस ने इन तारों और चंद्रमा और सूर्य के बारे में भाँति भाँति की कल्पनाएं की हैं और तरह तरह के विचार पक्के किये हैं। अधिक विचार और विवेक वालों ने इन को समझने के लिये बारीक से बारीक हिसाब लगाये हैं। इन की जाँच के लिये विविध यंत्र बनाये हैं। भारत में तो अत्यंत प्राचीनकाल से, और भारत के बाहर के देशों में भी बहुत काल से इस विषय की खोज होती आयी है। हिसाब करने के लिये भारत में अनेक मानमंदिर, यंत्रमंदिर, और वेधशालाएं बनीं। युरोप और अमेरिका में भी बड़े बड़े विशालकाय दूरबीन, दूरदर्शक यंत्र, लगाये गये, और इधर तो कई सौ बरसों से पच्छांह के देशों ने बड़ी उन्नति की और ज्यौतिष विद्या की खोजों में उस भारत

को भी पीछे छोड़ दिया जो पहले संसार में ज्यौतिष का सब से बड़ा जानने वाला गिना जाता था।

सब से पहला विज्ञान यही है। देश काल और वस्तु का ज्ञान इसी विद्या से आरंभ हुआ। मान और नपना ज्यौतिष ने ही आरंभ किया और इसी ज्यौतिष के आधार पर भारत में मनुष्य के वैदिक और लौकिक सारे काम अवलंबित हुए।

संसार के सभी सभ्य देशों के विद्वानों ने आकाश मंडल को नित्य देखते हुए खगोल को नापने के उपाय किये। सारे खगोल को सत्ताईस नक्षत्रों में बाटा जिसमें महीने भर में चंद्रमा घूमता है और बारह राशियों में बाटा जिसमें साल भर में सूरज चक्कर लगाता है। ३६० अंशों में बाटा जिस के ३० ३० अंशों की एक एक राशि हुई। राशियों और नक्षत्रों के रूपों की भी कल्पना देखने के सुभीते के लिये की। पाश्चात्यों और प्राच्यों की रूप कल्पना में बहुत सादृश्य है, फिर भी भेद हैं। आज भी उन कल्पनाओं और नापों से काम लेते हैं। उदाहरण की भांति हम मेष राशि और श्रवण और धनिष्ठा नक्षत्रों के काल्पनिक चित्र देते हैं।

चित्र ४— मेष-राशि [विज्ञान-परिषत् की कृपा से

इन्हीं राशियों और नक्षत्रों में ग्रहों और उपग्रहों के प्रवेश और यात्रा से भारतीय पञ्चांग में दिन, तिथि, नक्षत्र, योग और करण की गणना हुई। अनादि काल से इस प्रकार की गणना चली आ रही है। ससार के सब से प्राचीन ग्रंथ वेदों में इनकी चर्चा है और ज्यौतिष विद्या वेद के छः अंगों में से एक प्रधान अंग समझी जाती है।

संसार के सभी पुराणों ने इसी विज्ञान के आधार पर सृष्टि और लय की भांति भांति की

कल्पनाएं की हैं। वह आज हमें चाहे कैसी ही लगें परंतु ये नित्य नियम वाले दृश्य हमारे लिये उतने ही अद्भुत हैं जितने कि करोड़ों बरस पहले हमारे पूर्वजों के लिये थे।

आज पच्छाहीं ज्यौतिष विज्ञान ने जितनी उन्नति कर रक्खी है उस से यह न समझना चाहिये कि वह विज्ञान की पराकाष्ठा को पहुँच चुका। बेशक, उस ने बहुत सी उलझनें सुलझायी हैं, परन्तु अनेक समस्याएं हैं जिनका हल होना बाकी है, और शायद उतनी ही या उस से भी अधिक उलझनें आज ऐसी हैं जो अछूती पड़ी हैं। सब से महत्व का प्रश्न उस के सामने यह है कि इस विश्व की रचना कैसे हुई है और यह कब तक बना रहेगा। जिस रूप में विश्व आज है क्या वही रूप बराबर बना रहेगा या बदलेगा, या इस में उस के विनाश के बीज मौजूद हैं, और कभी यह नष्ट भी हो जायगा, अथवा आज जिस रूप में है उससे धीरे धीरे अथवा कभी बड़े भयानक वेग से बदल कर बिलकुल भिन्न आकार प्रकार का हो जायगा? यह प्रश्न बड़े पुराने हैं और इनके उत्तर के लिये कल्पनाओं से आरंभ

४— श्रवण और धनिष्ठा नक्षत्र [विज्ञान-परिषत की कृपा से

कर के आजकल के बारीक से बारीक प्रयोगों से काम लिया गया है। परन्तु अब तक इन प्रश्नों का प्रामाणिक उत्तर नहीं मिल सका है। अभी तक जो कुछ मालूम हुआ है अधिकांश उस थोड़े से आकाश पिंडों के बारे में जाना गया है जिन से हमारा दूर या पास का ही कोई संबंध अवश्य है।

हम जिन वस्तुओं को जानते और समझते हैं उनका संबंध हम अपनी दुनियां से लगाते हैं। आकाश में हम दो तरह के पिंड मानते हैं। एक तो ग्रह हैं दूसरे तारे। हम

ग्रह उन पिंडों को कहते हैं जो बराबर सूरज के चारों ओर चक्कर लगाते रहते हैं। सूरज का अत्यंत बड़ा और भारी पिंड जिस मंडल का अधीश्वर है उस के सदस्य के रूप से जो पिंड ग्रहण किये जाते हैं उन्हें हम "ग्रह" कहें तो उचित ही है। सभी ग्रह सूर्य की परिक्रमा करते हैं। हमारी धरती भी ऐसा ही एक ग्रह है। जितने बड़े बड़े पिंड सूरज की परिक्रमा करते हैं और अब तक जाने गये हैं इस पृथ्वी को छोड़ कर आठ हैं। उनके नाम हैं बुध, शुक्र, मंगल, बृहस्पति, शनि, उरण, (इंद्र), वरुण और कुबेर। यह सब क्रम से सूर्य से अधिकाधिक दूरी पर हैं। इन में से बुध का दिखाई पड़ना अत्यंत कठिन है क्योंकि यह सूर्य-मंडल के बहुत पास है। इसी तरह वरुण और कुबेर का पिंड भी आंखों से नहीं दीखता क्योंकि ये सूर्य से सब से अधिक दूर है। उरण भी अदृश्य सा ही है। पृथ्वी ग्रह शुक्र की अपेक्षा सूर्य से अधिक दूर है और मंगल की अपेक्षा सूर्य के पास है। पृथ्वी के चारों ओर चंद्रमा परिक्रमा करता रहता है। पृथ्वी के एक ही चंद्रमा है परन्तु और ग्रहों के कई कई हैं। बृहस्पति के चार चंद्रमा हैं, शनि के दस हैं, और मंगल के दो। जिन जिन ग्रहों के जो चंद्रमा हैं उन उन ग्रहों की परिक्रमा करते हैं। सूर्य, ये नव ग्रह, और इन ग्रहों के चंद्रमा यह सब पिंड एक ही कुटुंब के से हैं जिस का सब में बड़ा कर्त्ता भर्त्ता और मालिक सूर्य है। हमारी दुनिया का इन सब से आपस का घना संबंध है।

इतना घना संबंध होते हुए भी इनकी आपस की दूरी बहुत है। इनका चक्कर सूर्य के चारों ओर अंडाकार लगता है, इस से कभी यह सूर्य से कुछ अधिक दूर हो जाते हैं और कभी अधिक पास। सबसे पास का चक्कर लगाने वाला बुध है, सब से दूर का और बड़ा चक्कर लगाने वाला कुबेर ग्रह है। इस के चक्कर के एक ओर से अगर तोप से एक गोला चला दिया जाय तो दूसरी ओर तक सीधे पहुंचने में उसे सात सौ बरस से कम न लगेंगे। इतनी बड़ी दूरी के भीतर ही भीतर सूर्य और उसका सारा परिवार चक्कर काटता रहता है। परन्तु यह दूरी भी इस विस्तीर्ण आकाश मंडल के भीतर बहुत नहीं है।

हमारी आंखों के सामने आकाश में अनगिनत तारे दीखते हैं। यह छोटे छोटे तारे कितनी कितनी दूरी पर हैं, इस बात की कल्पना भी कठिन है।

हमारे सूर्य मंडल से सबसे समीप जो तारा जाना गया है मूल नक्षत्र का आल्फा-केंटारी है। वही तोप का गोला जो पांच सौ बरसों में वरुण के चक्र को आर पार कर लेता, करोड़ों बरसों में कहीं आल्फाकेंटारी तक पहुंच सकेगा! मतलब यह कि सूर्य परिवार का

---

* भारतीय ज्योतिषी उरण (इन्द्र) और वरुण इन दो ग्रहों को नहीं जानते थे। वह चंद्रमा के दोनों पातों को राहु और केतु नाम देकर दो ग्रह गिनते हैं। सूर्य और चंद्रमा को भी "ग्रह" मानते हैं। भारतीय ज्योतिषी का ग्रह शब्द व्योमचारित्व से कोई संबंध नहीं रखता। यहाँ ग्रह शब्द इस लिए आया है कि फलित के विचार से दुनियाँ के प्राणियों की दशा को यह अपने अधिकार में रखते हैं, "ग्रहण" करते हैं। भिन्न अर्थों में एक ही शब्द के लिये जाने से भारतीय और पाश्चात्य ज्योतिष में कोई विरोध नहीं है।

कि उनके सामने हमारा सूर्य्य एक कण सा होगा। इनकी दूरी का तो हिसाब ही नहीं लग सकता। प्रकाश एक सेकंड में एक लाख छियासी हजार मील चलता है। साठ सेकंडों का एक मिनट, साठ मिनटों का एक घंटा और २४ घंटों का एक दिन रात होता है। ३६५ दिनों का हम एक साल मानते हैं तो एक साल में प्रकाश साढ़े सत्ताइस खरब मील से भी अधिक दूरी तय करता है। आल्फाकेंटारी से प्रकाश के आने में नव बरस से अधिक लगते हैं। अनेक तारे आकाश में ऐसे हैं जिनका प्रकाश हमारी धरती पर लाखों करोड़ों बरसों में पहुँच पाता है। यह तो इतनी बड़ी दूरी हुई कि इस की दूरी मीलों में गिनायी नहीं जा सकती। इस लिये मीलों की गिनती की परिपाटी तारों के संबंध में उठ गयी है। अब कहने का ढंग यह है कि अमुक तारा हम से इतने प्रकाश-वर्षों की दूरी पर है। आल्फाकेंटारी हम से नौ प्रकाश वर्षों की दूरी पर है।

ऐसे विशाल आकाश देश में दूरी कल्पना के बाहर हो जाती है। इस दूरी के सामने काल भी कल्पना से बाहर चला जाता है। देश और काल के इस अनंत विस्तार में यह छोटे छोटे तारे आपस में कितनी दूरी पर हैं? इस प्रश्न का उत्तर भी सहज नहीं है। देखने में जो तारे एक दूसरे से सटे से जान पड़ते हैं उन में परस्पर की दूरी इतनी अधिक हो सकती है कि सूर्य्य और उसके पास के आल्फाकेंटारी की दूरी भी उसके सामने कुछ नहीं के बराबर हो सकती है। यह तारे बड़े भारी भारी सूर्य्य हैं। हमारा सूर्य्य भी वास्तव में एक छोटा सा तारा है। कहीं हम आल्फाकेंटारी पर चले जाय तो यह तो देख न पड़ेगा और हमें सूर्य्य भी दीखेगा तो आकाश गंगा में एक अत्यंत नन्हा सा मंद ज्योति का तारा दीखेगा।

यह बहुत संभव है कि धरती से जो नन्हे नन्हे तारे दीखते हैं वह केवल अत्यंत बड़े बड़े सूर्य्य ही नहीं बल्कि हमारे सूर्य्य की तरह उनके भी अनेक ग्रहों और उपग्रहों के परिवार हों जो दूरी के कारण हमें बिल्कुल नहीं दीखते और जिस तरह अंडाकार वृत्त में हमारे सूर्य्य के चारों ओर उसके ग्रह घूमते हैं, उसी तरह उन के चारों ओर भी उन के ग्रह चक्कर लगाते रहते हों। फिर, जैसी धरती हमारी है, और जिस तरह असंख्य और अनंत प्राणी इस धरती पर रहते हैं उसी तरह उनकी भी दुनिया हो। परंतु यह कोरी कल्पना है। निश्चय रूप से हमें इस संबंध में कोई ज्ञान अब तक नहीं हुआ है।

३—सृष्टि में हमारा पता ठिकाना। अनंत देश

दूरबीन के सहारे जब इन तारों को देखते हैं तो भी सिवाय कुछ अधिक तेज के इन का आकार बढ़ा हुआ नहीं दीखता, क्योंकि यह दूरबीन के लिये भी अत्यंत दूर हैं। दूरबीन के सहारे एक और तरह के पिंड भी दीखते हैं जो तारों की तरह बिंदु के आकार के नहीं हैं। बल्कि फैले हुए ज्योति समूह की तरह लगते हैं। किसी किसी का आकार कुंडली का सा है जिसके चारों ओर असंख्य नन्हें नन्हें तारे भी दीखते हैं। इस समूह को नीहारिका
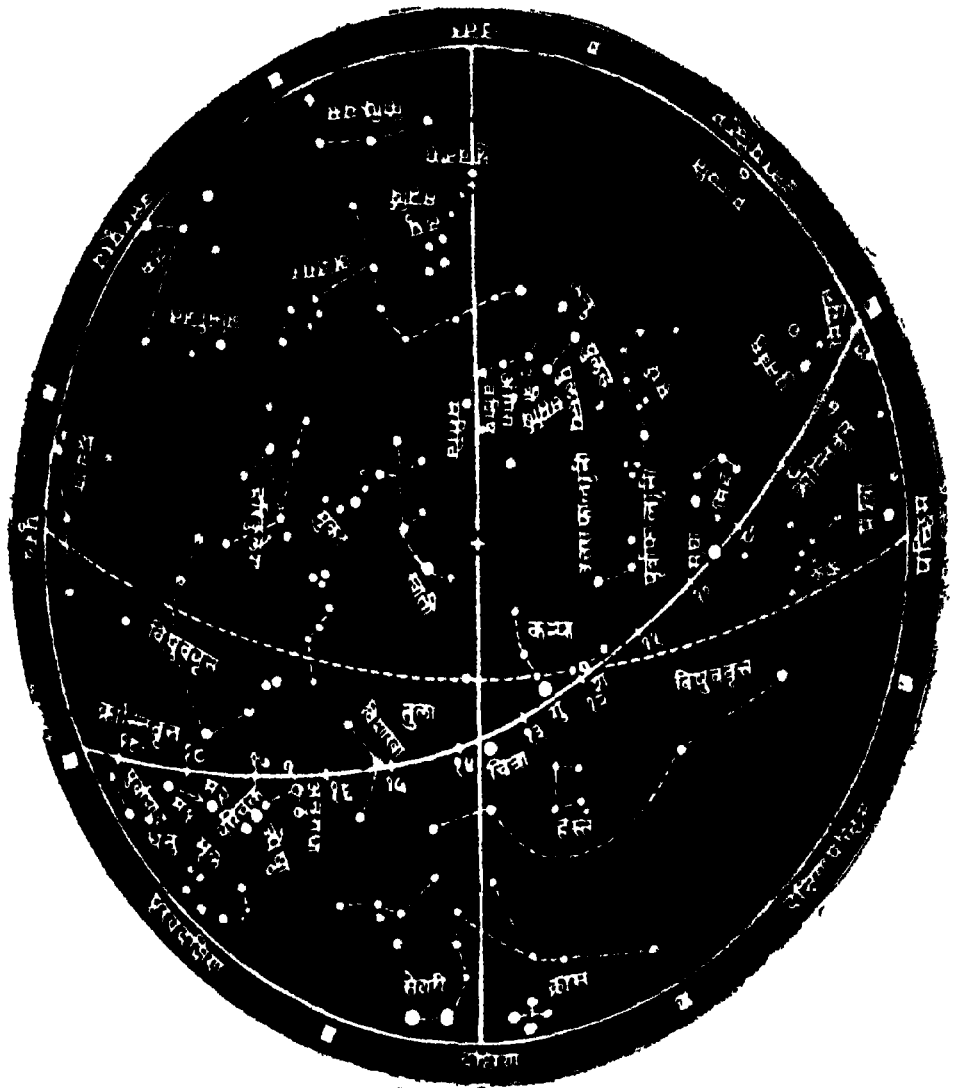
चित्र ७—ज्येष्ठ मास की रात का दृश्य

[परिषद् की कृपा

चित्र ८—आकाश-गंगा

हार्वर्ड-कालिज वेधशाला] [सौर-परिवार से
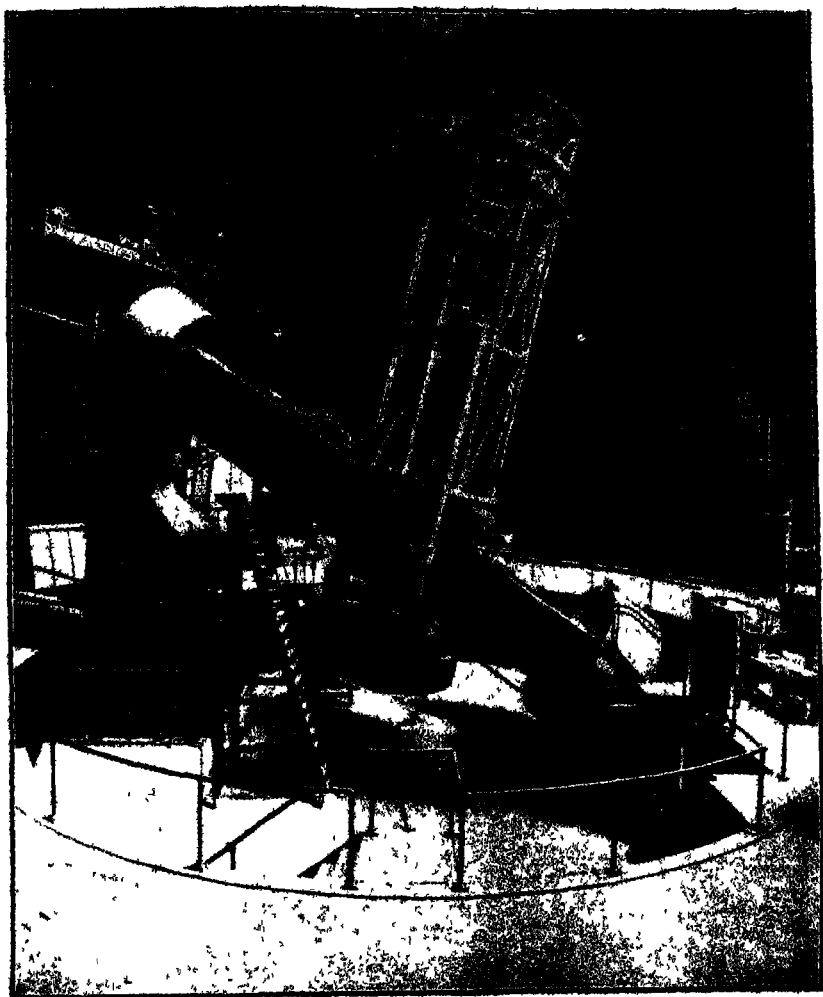
चित्र ६—संसार का सब से बड़ा दूर-दर्शक। इसका व्यास आठ फुट से भी अधिक है। [सौर-परिवार से
मौंटविल्सन वेधशाला]

कहते हैं। इद्रमाता तारा-समूह में ऐसी एक नीहारिका कभी-कभी नगी आखों से भी देख पड़ती है जो कुडली के आकार की है। जिस उजले डहर को आकाश-गंगा कहते हैं वह भी एक विशाल नीहारिका ही है। रात को उत्तर से दक्खिन की ओर पसरी हुई तारों भरी दूध के रग की पगडडी दो हैं जो एक दूसरे से मिली हुई हैं और एक दूसरे के आमने-सामने जान पड़ती हैं। यह एक समय में एक ही दीखती है। जान पड़ता है कि हमारा सौर-मंडल इसी आकाश-गंगा वाली नीहारिका के बीच में कहीं स्थित है। उस के दोनों ओर आकाश-गगा है। अनेक ज्योतिर्विज्ञानियों का अनुमान है कि यह आकाश-गंगा भी एक नीहारिका की कुंडली का अंश है जो हमें भीतर से देख पड़ता है। हम किसी कुंडली के भीतर घूमने वाले एक विंदु हों तो कुडली का फेरा हम को दोनों ओर से उसी तरह घूमा हुआ दीखेगा जैसे आकाश-गंगा की दोनों धाराएं दीखती हैं। यह भी अनुमान किया जाता है कि इसी तरह की जो कुडलिया हम को दूर-दूर कहीं-कहीं दीखती हैं, वह उसी तरह ताराओं और सूर्य-मडलों का समूह हैं, जैसे हमारा आकाश-

चित्र १०—हमारी धरती और चंद्रमा की तुलना। [सौर परिवार से
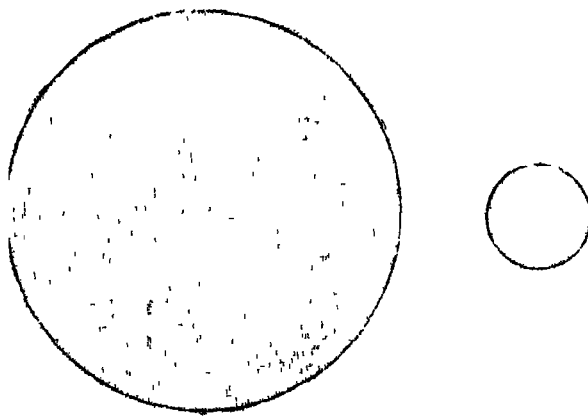
गंगावाला समूह। रात में जो तारा-मडल हम सारी दिशाओं में बिखरा हुआ देखते हैं, वह सब आकाश-गंगावाली कुडली के भीतर का है, और वास्तव में जैसे एक सूर्य मडल से दूसरे सूर्य-मडल की दूरी कम से कम कई खरब मील की है, उसी तरह एक कुडली से दूसरी कुंडली की दूरी तो अनत देश है, जिन में एक से दूसरे तक प्रकाश के पहुँचने में भी असख्य वा अनत प्रकाश-वर्ष लगते हैं। हम अगर आकाश गगाओं से घिरे अनत व्योम देश को अपना एक विश्व मानें तो अन्य नीहारिका-कुडलिया अन्य विश्व मानी जा सकती हैं। इस तरह हम व्योम-मडल में अनेक विश्वों का दर्शन कर लेते हैं। साधारणतया

चित्र १० ख—संसार के सब से बड़े दूरदर्शक को धुरी स्थापित की जा रही है। इस बड़े भारी यंत्र की डील-
मौंट विल्सन वेधशाला] डौल का अनुमान मनुष्यों के चित्र से किया जा सकता है। [सौर-परिवार से
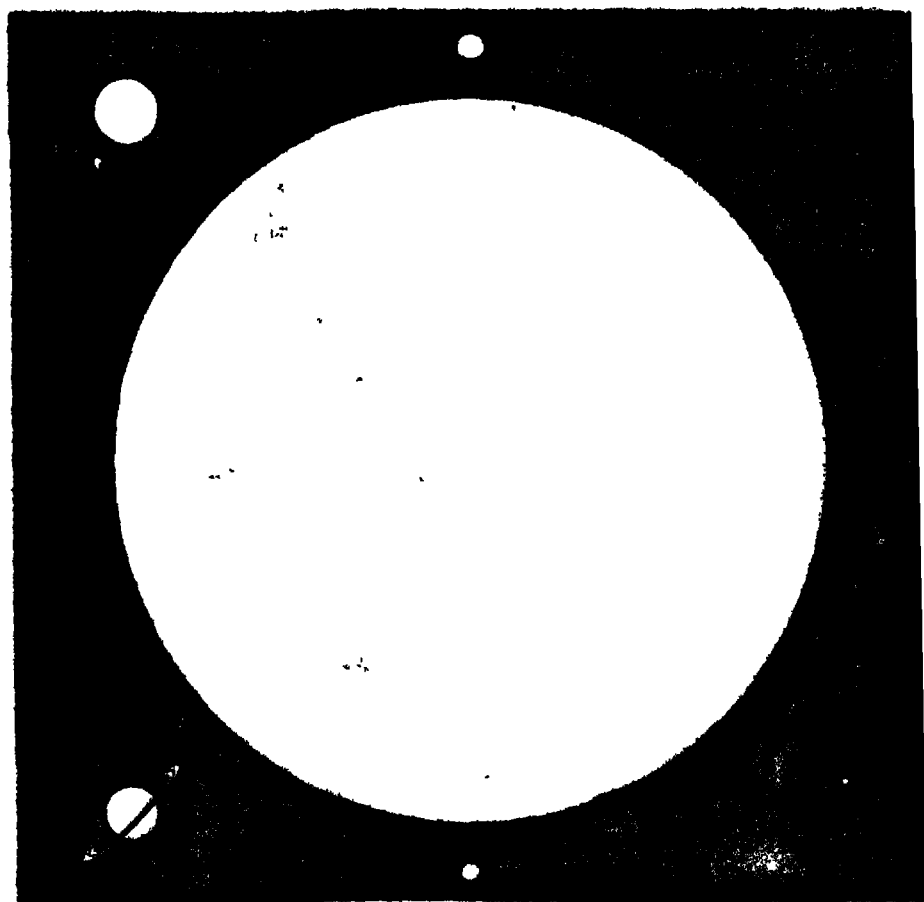
चित्र १२—ग्रहों की सापेक्ष छुटाई-बड़ाई। सूर्य बीच में है। ऊपरवाले दाहिने कोने में बृहस्पति और बायें में शनि हैं। इन से नीचे पृथ्वी और शुक्र हैं।

[सौर-परिवार से

देखने में नीहारिकाएं तो असंख्य नहीं जान पड़तीं, परंतु असल में अनंत नीहारिकाएं हैं, और दूरी के कारण नहीं देख पड़ती या अब तक हम लोगों के पास उन के प्रकाश के पहुँचने की नौबत नहीं आयी। दूरबीन से देखने पर तारों की तरह नीहारिकाएं भी असंख्य जान पड़ती हैं।

इस तरह हम जिस तारों-भरे आकाश को स्वच्छ रात्रि में देखते हैं, वह वस्तुतः अनंत देश है। इस अनंत देश में अनंत विश्व हैं। इन्हीं विश्वों में से एक विश्व आकाश-गंगा नाम की नीहारिका में घिरा हुआ है। इस आकाश गंगावाले विश्व में भी अनंत ब्रह्मांड हैं। हर एक ब्रह्मांड का नायक कोई सूर्य है। हमारा ब्रह्मांड उन सब में से एक है जिस का नायक विवस्वन् है। इसी ब्रह्मांड में हमारी यह धरती है जिसपर खड़े खड़े अनंत विश्वों और अनंत ब्रह्मांडों का हम तमाशा देख रहे हैं।

इस अनंत देश में, इन विश्वों के असंख्य समूह में, इन अनंत ब्रह्मांडों के बीच में हमारा ब्रह्मांड है जिस में नौ पिंड सूर्य के चारों ओर चक्कर लगा रहे हैं, जिस में से बुध से गिनते हुए हमारी धरती तीसरा पिंड है, जिसे हम अपनी दुनिया या जगत या संसार कहते हैं।

४—हमारी दुनियां । पृथ्वी का पिंड

साधारणतया जब आंधी नहीं चलती होती तब यह भूमंडल हमारे लिये एक अत्यंत शांत जगत जान पड़ता है। रात को जब बादल नहीं होते और शुद्ध स्वच्छ आकाश दिखाई देता है उस समय रात रात आकाश का तमाशा देखनेवाले के लिये एक अद्भुत बात सामने आती है। वह यह है कि धीरे धीरे बड़ी निश्चित गति से यह अनंत विश्वाकाश पच्छिम की ओर बढ़ता जाता है और पूरब की ओर से परदे का नया नया हिस्सा आंखों के सामने आता जाता है। आकाश की इस गति को मनुष्य अनादि काल से देखता आया है। यह गति ऐसी नियमित है कि इसी के आधार पर मनुष्य ने काल का हिसाब लगाया और इसी निरीक्षण के बल पर संसार में ज्यौतिष शास्त्र का आरंभ हुआ। पच्छिम के पुराने लोगों ने भी समझा था कि आकाश घूमता है परंतु भारत के प्राचीन और युरोप के पीछे के ज्योतिर्विदों ने इस संबंध में जो अनुमान किया वह आज-कल के ज्यौतिष-शास्त्र की सब से पहली खोज है। वह यह है कि सारा विश्व-मंडल जो पूरब से पच्छिम की तरफ निरंतर घूमता हुआ दिखाई पड़ता है, उस का कारण यह है कि हमारी धरती अपने धुरे पर बराबर पच्छिम से पूरब की ओर घूमा करती है[१]। सूर्य और

---

[१] हिंदू ज्यौतिषी आर्यभट्ट ने, जो विक्रम की छठी शताब्दी में हुआ था, अपने ग्रंथ 'आर्यभटीय' में पृथ्वी की अपने धुरे पर दैनिक गति पच्छिम से पूरब की ओर मानी है। हाल की खोजों से यह भी पता चला है कि तीस लाख बरस पहले वैदिक ऋषियों ने यह देख कर कि नक्षत्रों की पारस्परिक स्थिति अनंतकाल तक एक सी बनी रहती है और

दूसरे तारे पृथ्वी की परिक्रमा नहीं कर रहे हैं। पृथ्वी ही चौबीस घंटे में बड़े वेग से अपने धुरे पर एक बार घूम जाती है। इस विचार-परिवर्तन से हिसाब में अंतर नहीं पड़ता, क्योंकि यह समझ का ही फेर है। सापेक्ष गति में परिवर्तन नहीं है।

धरती की इस चाल के सिवाय सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाने वाली चाल भी है। पृथ्वी एक मिनट में एक हज़ार मील के ऊपर के वेग से सूर्य के चारों ओर घूमती है। साल भर में यह चक्कर अठ्ठावन करोड़ मील के लगभग होता है। पृथ्वी से सूर्य का पिंड तीन लाख तेंतीस हज़ार गुना अधिक भारी है। इस लिये पृथ्वी के पिंड पर सूर्य के पिंड का बहुत भारी खिंचाव पड़ता है। इसी से पृथ्वी बराबर तीन सौ पैंसठ दिन के चक्कर लगाती रहती है। पृथ्वी की गति में बाहर फेंके जाने की बड़ी भारी प्रवृत्ति है। एक क्षण के लिये भी सूर्य अपना खिंचाव बंद कर दे तो पृथ्वी सीधी रेखा में आकाश के अनंत देश में सीधे उड़ती चली जाय। सूर्य के खिंचाव और पृथ्वी के भागने की प्रवृत्ति दोनों के बीच ऐसी समान गति स्थापित है कि पृथ्वी एक विशाल वृत्त में निरंतर घूमती रहती है। इसी तरह और आठों ग्रह भी घूमते रहते हैं।

जैसे पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है, वैसे ही चंद्रमा पृथ्वी की परिक्रमा करता रहता है। कभी कभी इसी परिक्रमा में सूर्य और पृथ्वी के बीच में चंद्रमा आ पड़ता है। इस से सूर्य की किरणें रुक जाती हैं और 'सूर्य ग्रहण' लग जाता है। जैसे सूर्य की रोशनी धरती पर पड़ती है उसी तरह चंद्रमा पर भी धूप पड़ती है। इसी धूप को हम चंद्रमा की रोशनी समझते हैं। जब कभी चंद्रमा और सूर्य के बीच में पृथ्वी पड़ जाती है अर्थात चंद्रमा पृथ्वी की छाया के भीतर आ जाता है तभी 'चंद्र-ग्रहण' लग जाता है। उसी तरह जब धरती और सूर्य के बीच चंद्रमा आ जाता है तो 'सूर्य-ग्रहण' लग जाता है।

चित्र १४—ग्रहों की सापेक्ष दूरी
[सौर-परिवार से

सूर्य, चंद्रादि ग्रहों की स्थिति निश्चित समयों पर बदला करती है, आकाश के दरयार्थ को आजकल की घड़ी के चेहरे की तरह अचल और सूर्य चंद्रादि को घंटे और मिनिट की सूइयों की तरह चल मान कर "सुपर्णचिति" नामक शाश्वत पंचांग की रचना की। देखिये, पं० दीनानाथ शास्त्री चुलैट रचित "वेदकाल-निर्णय", पृ० ७६-८१ (हिंदी-साहित्य-समिति, इंदौर, सं० १९८७)।

सूर्य का पिंड इतना विशाल है कि नवो ग्रहों को और उपग्रहों को इकट्ठा कर लिया जाय तो भी सूर्य के पिंड की बराबरी को सब मिल कर नहीं पहुंच सकते। यह ग्रह इतने
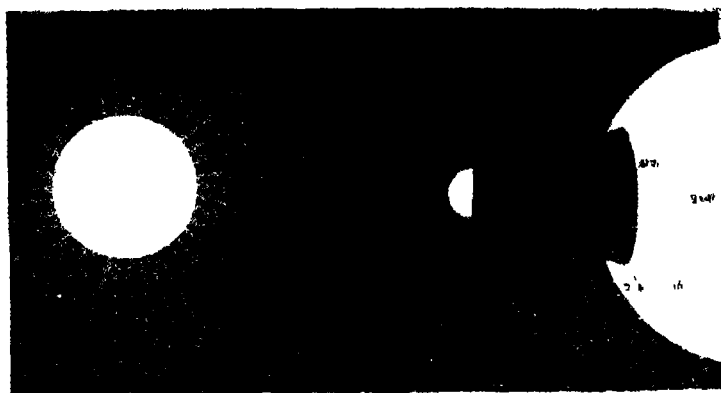
चित्र १४—चंद्रमा की प्रच्छाया और उपच्छाया [सौर परिवार से

छोटे हैं तोभी इन का महत्व बहुत है क्योंकि हमारी दुनिया से इन में बहुत कुछ मेल है और शायद हमारा-सा जीवन इन पिंडों में भी पाया जा सके।

५—दूरी नापने की विधि

पृथ्वी से सूर्य की औसत दूरी सवा नौ करोड़ मील के लगभग है। इस का यह मतलब है कि आज से छः महीने में पृथ्वी साढ़े अट्ठारह करोड़ मील की दूरी पर चली जायगी। अब यदि हम आकाश के किसी भाग की फोटो आज लें और फिर छः महीने बाद उसी भाग की फोटो लें तो हम साढ़े अट्ठारह करोड़ मील दूर के दो बिंदुओं से तारों की स्थिति देखते हैं। इस तरह निरीक्षण करके देखा जाता है तो जो तारे हम से बहुत निकट हैं वह कुछ तनिक-सा खसके हुए दीखते हैं। इसी खसकने के द्वारा सब से पासवाले तारों की दूरी नापी गयी है। अभी हाल में एक तारे का पता लगा है जो साढ़े बाईस नील मील की दूरी पर है। अब तक कुल तीस तारे ऐसे देखे गये हैं जो एक पद्म मील की दूरी के भीतर-भीतर के हैं।

इस प्रकार नापने से भी बहुत काम नहीं चलता। पांच पद्म मीलों की दूरी के भीतर भीतर दो चार सौ तारों से अधिक नहीं हो सकते। इतनी दूरी का हिसाब करना बहुत मुश्किल है क्योंकि खसकने की मात्रा इतनी कम है कि निश्चित अंक नहीं मिलते। इस लिये ज्योतिषी को दूसरा उपाय करना पड़ता है। वह तारों की भिन्न-भिन्न प्रकार से जांच करता है और उन की ज्योति की कमी और बेशी से थोड़ा बहुत अटकल कर लेता है

कि कौन तारा कितनी दूर होगा। उस के पास ज्योति को नापने के लिये यंत्र हैं। इस क्षेत्र मे बीस बरस तक काम करने के बाद अब यह मालूम हो गया है कि आकाश-गंगा के रहने वाले तारे सूर्य से कम से कम दस सख मील की दूरी पर हैं।
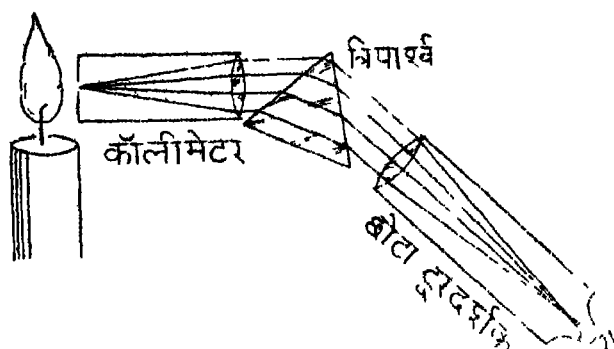
चित्र १६—रश्मि विश्लेषक यंत्र की बनावट। [सौर परिवार से

आकाश गंगावाले विश्व मे हमारा सूर्य बीचो बीच के लगभग है। अगर ठीक बीच मे नहीं है तो ठीक केंद्र से दस बीस पद्म मीलों से ज्यादा दूरी पर न होगा। बाकी जितने तारे हैं हमारे सूर्य-मंडल से बाहर विश्व मे चारों ओर फैले हुए हैं। इन का फैलाव इतना विशाल है कि एक सिरे से दूसरे सिरे तक चलने में प्रकाश की एक किरण को पचास हज़ार बरस से कम नहीं लगेंगे। हमारे विश्व का विस्तार इतना समझना चाहिये।

६—पिंडों की जांच के लिये यंत्र

हमने अपनी धरती से सूर्य का संबंध समझा और सूर्य से अपने विश्व का संबंध समझने की कोशिश की। अब यह देखना है कि सूर्य की तथा उस के परिवार वालों की क्या दशा है, आपस में कैसा संबंध है? कहां कैसा जीवन है या हो सकता है? प्रत्येक का जीवन कितना है?

सूर्य और तारों मे हर तरह की अवस्था के पिंड हैं। ग्रहों मे भी यही तारतम्य है। इन बातों को बारीकी से जानने के लिये ज्यौतिषी रश्मि-मापक यंत्र से काम लेता है। इस यंत्र में एक तिपहला कांच लगा रहता है।

लोगों ने देखा होगा कि तिपहले कांच से [देखो चित्र १६] जब सूर्य की रोशनी निकलती है तो इंद्र-धनुष के सात रंगों में बँट जाती है। सूरज की किरणों में यही सात रंगों की किरणें हैं। इंद्र-धनुष ही क्या है? [देखो मुख-पृष्ठ का रंगीन चित्र] जब सूरज के सामने की दिशा में कहीं बारीक बूंदें पड़ती रहती हैं और सूरज की रोशनी सामने से आती है तो पानी की हर बूंद तिपहले कांच का काम करती हैं और हर किरण को

इन्हीं सात रंगों में बांट देती है। किरणें गोलाकार पिंड से आती हैं इस लिये आकाश में धनुष का आकार दिखाई पड़ता है। चंद्र-मंडल भी इसी तरह बनता है। एक ओर रश्मि रेखाओं को समानान्तर करने वाली नलिका (कालिमेटर) लगा देते हैं और दूसरी ओर किरण-मापक यंत्र में एक तिपहला कांच लगा कर उस के सामने एक छोटी दूरबीन लगा देते हैं। समरश्मिकनलिका (कालिमेटर) के लंबे धज्जीनुमा छिद्र या शिगाफ के सामने तेज़ जलती हुई दशा में कोई गैस रक्खी जाय या दीपशिखा रहे तो यंत्र के भीतर किरणों का चित्र आता है। उसमें भिन्न-भिन्न रंगों के पट पर कम या अधिक
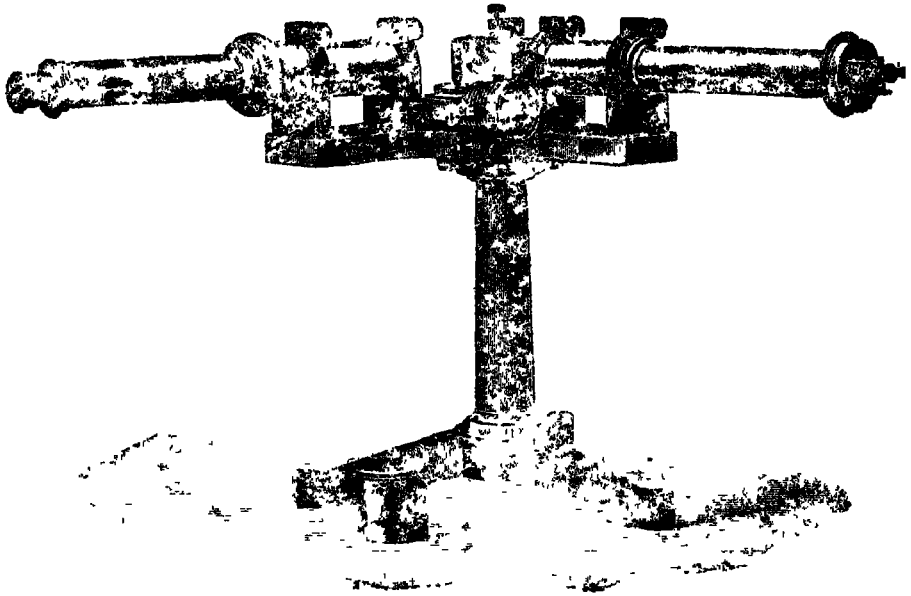
चित्र १७—रश्मि-विश्लेषक यंत्र [सौर-परिवार से

दूरी पर विशेष चमकीली रेखाएं देख पड़ती हैं। हर धातु की रेखाएं विशेष रंग की और विशेष स्थानों में पायी जाती हैं। जितने मौलिक पदार्थ इस विश्व में हैं उन में से हर एक की रेखाएं अलग-अलग रंग की और किरणों के पट पर अलग-अलग सदा अपने विशेष स्थानों पर ही दिखाई पड़ती हैं। जब एक तेज जलती हुई शिखा की किरणें उसी पदार्थ की ठंडी दशा में से होकर निकलती हैं तो किरण-पट पर रंगीन और चमकीली रेखाओं के बदले काली रेखाएं देख पड़ती हैं। इस यंत्र में जब सूर्य की किरणों की जांच की जाती है तो पता लगता है कि जितने पदार्थ हमारे धरती पर हैं सब अत्यन्त उत्तम और मूल पदार्थ के रूप में सूर्य के पिंड में भी मौजूद हैं। जब सूर्य का सर्वग्रहण लगता है और हम इस यंत्र के सहारे देखते हैं तो हमें सूर्य के बिंब से ऊपर उठती हुई लाल-लाल शिखाएं देख

पड़ती हैं। रश्मि-यंत्र हम को यह बताता है कि यह उज्ज्वल वायु की शिखाएं हैं जो खटिकम की वायु से मिल कर लाल-लाल बन कर सूर्य के पिंड में बहुत ऊँचे कभी-कभी पांच-पांच लाख मील तक उठती हैं। यद्यपि सूर्य का पिंड हमसे नौ करोड़ मील से ज़्यादा दूर है तो भी इस यंत्र के सहारे हम यह जान लेते हैं कि सूर्य का पिंड किन-किन पदार्थों से मिल कर बना है। आकाश में जितने पिंड प्रकाश देते हैं वह सब किन-किन मसालों को मिला कर
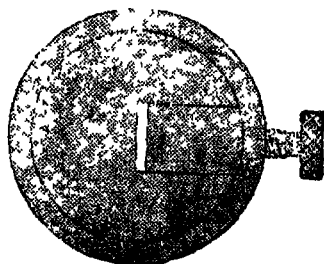
चित्र १८—शिगाफ जो रश्मि-विश्लेषक यंत्र में प्रकाश देने वाली वस्तु के सामने पड़ता है [सौर-परिवार से

बनाये गये हैं, यह बात इस यंत्र से मालूम होती है। दूरबीन से हम दूरी नाप सकते हैं, बहुतों की चाल की कुछ अटकल कर सकते हैं। परंतु यह नहीं जान सकते कि ये पिंड किन किन चीज़ों के बने हुए हैं। किरण मापक यंत्र से तो उन तारों के बारे में भी हम यह पता लगा सकते हैं कि वह पिंड किन वस्तुओं के बने हुए हैं जिनकी दूरी और चाल का पता दूरबीन आदि किसी और साधन से नहीं लगता।

७-सृष्टि और लय

ज्योतिषियों ने यह भी अनुमान किया है कि यह सारा विश्व जो आकाश-गंगा के अन्तर्गत है कभी किसी अत्यंत सुदूर और अनंत काल में बना होगा। सृष्टि-रचना के संबंध में उन के अनुमान अद्भुत हैं और वह अनुमान भी दिखी हुई घटनाओं के आधार पर हैं। उन्हों ने कभी-कभी किसी नये तारे का जन्म भी देखा है। ज्योतिषी लोग अक्सर नये तारे के देखे जाने की सूचना छपवाया करते हैं। आकाश-मंडल में संवत् १९८० में एकाएकी एक तारा निकल पड़ते देखा गया। वह नित्य-नित्य चमक में बढ़ने लगा और थोड़े ही दिनों में सैकड़ों गुना ज़्यादा तेज़ हो गया। यंत्रों के द्वारा जांचते और नापते हैं तो पता लगता है कि इस की रोशनी जो आज हमारे पास पहुँची है तीन सौ बरस पहिले उस तारे के पिंड से चल चुकी थी। जब हम यह सोचते हैं कि रोशनी एक सेकंड में एक लाख छियासी हज़ार मील के वेग से चलती है तो उस तारे की दूरी कितनी अनंत होगी

चित्र १६—रश्मि-चित्र

नीचे मोम बत्ती के प्रकाश का रश्मि चित्र है, बीच में सोडियम प्रकाश का, और ऊपर सौर प्रकाश का। जहां सोडियम रश्मि चित्र में दो चमकदार पीली रेखाएं हैं, ठीक वहीं सौर रश्मि-चित्र में दो काली रेखाएं हैं। इससे सूर्य्य में सोडियम का होना सिद्ध है।

[विज्ञान हस्तामलक पृ० ३५ के सामने]

[सौर-परिवार से

जहां से रोशनी को चल कर वहा पहुँचने में तीन सौ बरस लगते हैं* । पर इस से भी अधिक अचरज की बात यह है कि हम अपनी जगह पर बैठे-बैठे तीन सौ बरस पहले हो चुकी

चित्र २०—दो तारे चलते-चलते पास पहुंचे और खिंचाव मे

घटनाएं आज प्रत्यक्ष देख रहे हैं, पर और भी अधिक कुतूहल की बात यह है कि हम असल में एक नये सूर्य की सृष्टि देख रहे हैं । हमारे अनत विश्व के किसी भाग मे कोई शिथिल

चित्र २० क—दोनों लड़ गये [सौर-परिवार से

मरा हुआ ज्योतिहीन और शक्तिहीन पिड था, जिसने किसी और ऐसे ही पिड से अनत देश की अधी यात्रा में टक्कर खायी और दोनों के घिस-पिस जाने से एक प्रज्वलित और

चित्र २० ख—तीसरा पिड बनने लगा [सौर-परिवार से

सजीव सूर्य उत्पन्न हो गया । जिस व्योमदेश में यह घटना हुई होगी उस मे अरबों मील के चौगिर्दे में महा भयानक शब्द हुआ होगा और वह प्रचड प्रकाश हुआ होगा कि सूर्यों की

---

* हिसाब से इस तारे की दूरी हमारी धरती से लगभग सिरासी नील मीलों के होती है ।

आखे चौंधिया गयी होंगी और वह भीषण ताप निकला होगा जिस मे पास के अनेक ग्रह और तारे पिघल कर और खौल कर हवा हो गये होंगे। कई दिनों में उस की रोशनी जो बढ़ती

चित्र २० ग—तीसरा पिंड अलग हो गया [सौर-परिवार से

[चित्र २०, २० क, २० ख, २० ग सौर-परिवार में ए० डबल्यू० विकरटन की पुस्तक "बर्थ अफ़ वर्ल्ड्स ऐंड सिस्टम्स" से लिये गये हैं]

गयी वह उसी भारी घटना का पता दे रही थी, और हमारे लिये जो एक मामूली सी बात थी, वही तीन सौ बरस पहिले हो चुकी किसी ब्रह्मांड की सृष्टि थी।

ज्योतिषियों का अनुमान है कि जो अत्यंत सूक्ष्म ज्योतिर्मय पदार्थ नीहारिकाओं (नेब्युली) के भीतर देख पड़ता है उसी से नीहारिकाओं का आरंभ होता है। [देखो नीहारिकाओं के चित्र] यह ज्योतिर्मय पदार्थ अनंत देश में बहुत दूर-दूर तक पसरा और फैला हुआ रहता है। किसी अज्ञात कारण से इस अत्यंत सूक्ष्म पदार्थ के भीतर आंदोलन पैदा होता है, और बड़े वेग से यह पदार्थ चक्कर खाने लगता है और घना होने लगता है। यह भयानक चक्कर जो अनंत देश में फैल जाता है अंत में कुंडली का आकार ग्रहण करता है। इस आकार के ग्रहण करने में जितना समय लगता होगा उस के लिये हम महाशंख महाकल्प को इकाई मान कर भी कहना चाहें तो गिनती द्वारा बता नहीं सकते। इस कुंडली का बनना विश्व का बनना हुआ। इस विश्व के भीतर अनगिनती सूर्य-मंडलों की रचनाएँ, उन का विकास और उन का महाप्रलय होता रहता है। विश्व बना रहता है और यह सूर्यमंडल बनते बिगड़ते हैं। इस विश्व का महाप्रलय कब और कैसे होता है, इसका पता नहीं है।*

---

* पच्छाहीं सृष्टि-पुराण में लिखा है कि ईश्वर की आत्मा नारा पर बह रही थी और अंधकार छाया था। हिन्दू पुराणों में प्रायः सभी जगह सृष्टि की कथा कुछ इस तरह पर दी हुई है। अनंत और अपार क्षीरसागर में शेषनाग की शय्या पर नारायण शयन कर रहे हैं। उन की नाभि से कमल निकलता है और कमल पर चतुर्मुख ब्रह्मा प्रकट होते हैं। कमल-नाल की जड़ का पता लगाने के लिये ब्रह्मा जी कमल से नीचे उतरते हैं। हजारों बरस तक नीचे उतरते चले आते हैं परंतु नाभि तक नहीं पहुँच पाते। लौट कर फिर कमल पर आते हैं। फिर तपस्या करते हैं। इसी समय मधु और कैटभ दो भीषणाकार दानव

चित्र २१ — सूर्य के कलंक जो कभी-कभी बिना दूरबीन के भी देखे गये हैं। [सौर-परिवार से

इस विश्व के भीतर हमारे सूर्य के परिवार की तरह अनगिनतियों परिवार हैं। हमारे सूर्य की गिनती उन में से बहुत छोटे सूर्यों में है। हम नहीं जानते कि और तारों के भी, जिन में से प्रत्येक अपने अपने मंडल का सूर्य है,—उसी तरह ग्रह और उपग्रह हैं जैसे हमारे सूर्य के गिर्द घूमने वाले हैं, क्योंकि वह तारे इतनी दूरी पर हैं कि बड़ी से बड़ी दूरबीन में भी हम उन्हें नहीं देख सकते। जो तारा हमारे लिये सब से पास है वहां से अगर दूरबीन के द्वारा हमारे सौर मंडल को वहां का कोई आदमी देखे तो वह भी हमारे सूर्य के परिवार के सब से बड़े ग्रह बृहस्पति को भी नहीं देख सकेगा। परन्तु ऐसा नहीं हो सकता कि विश्व भर में केवल हमारे ही सूर्य के पास ग्रहों का परिवार हो और उस में भी केवल हमारी धरती पर ही प्राणियों की बस्ती हो और इस सारे विश्व में केवल हम ही लोग इसे आबाद करते हों और बाकी सारा अनंत देश सूना हो। ऐसा अनुमान करना बुद्धि के अनुकूल नहीं मालूम होता। इस लिये हम देखते भी नहीं, तो भी हमारा पक्का अनुमान है कि हर तारे के चारों ओर उस के ग्रह और उपग्रह चक्कर लगाया करते हैं और उन ग्रहों और उपग्रहों में से किसी किसी में तो अवश्य ही प्राणियों की आबादी होगी।

हमारे सूर्य के चारों ओर जितने ग्रह और उपग्रह चक्कर लगाते हैं सब ही अंडाकार घूमते हैं। सूर्य को मध्य में मान कर वरुण और कुबेर ग्रह को अंतिम चक्कर लगाने वाला देख कर हम यह कह सकते हैं कि विश्व के भीतर हमारे सूर्य का परिवार इस अनंत देश में अंडाकार स्थान घेरता है। हम इस संपूर्ण परिवार के चक्कर लगाने के देश को और उस देश में चक्कर लगाने वाले पिंडों के समूह को ब्रह्मांड कह सकते हैं और हमारे सूर्य का नाम यदि विवस्वत् माना जाय तो हम अपने ब्रह्मांड को वैवस्वत ब्रह्मांड कह सकते हैं। जैसा हमारा ब्रह्मांड है वैसा ही ब्रह्मांड हर एक तारे का है और जिस तरह हमारे विश्व में असंख्य तारे हैं उसी तरह असंख्य ब्रह्मांड भी हैं। हम रात को जो आकाश में दोनों आकाश-गंगाओं के बीच और आस-पास तारों को देखते हैं तो सचमुच अगणित ब्रह्मांडों के नायक सूर्यों के दर्शन करते हैं। और जिन जिन नीहारिकाओं को हम देखते हैं हम वस्तुतः अपने विश्व के सिवाय और बाहर के विश्वों की एक झलक देख लेते हैं। आकाश गंगा में स्थित इस विश्व को हम क्षीराब्धि-विश्व कह सकते हैं।

प्रकट होते हैं। शक्ति भगवती की माया से वह दोनों लड़ कर मर जाते हैं। उन के मेद से मेदिनी बनती है। आज कल के ज्योतिषियों के अनुमानों को पुराणों की इन कथाओं से मिलाना बड़ा कौतूहल-जनक है। आधुनिक ज्योतिर्विद् भी नीहारिका की कुंडली के भीतर ही विश्व-निर्माण का अनुमान करता है, और तमोमय पिंडों के लड़ जाने पर नये पिंड की रचना बताता है। साथ ही इस कुंडली का विस्तार भी अनंत और अपार दिखाता है। सृष्टि के गूढ़ तत्व पुराण के इन रूपकों में प्रतिध्वनि रूप से निहित हैं।

चित्र २२—सौर परिवार। इसमें डेढ़ हज़ार के लगभग नन्हे-नन्हें अवांतर ग्रह भी हैं, जो दिखाये नहीं जा सके हैं [सौर-परिवार से
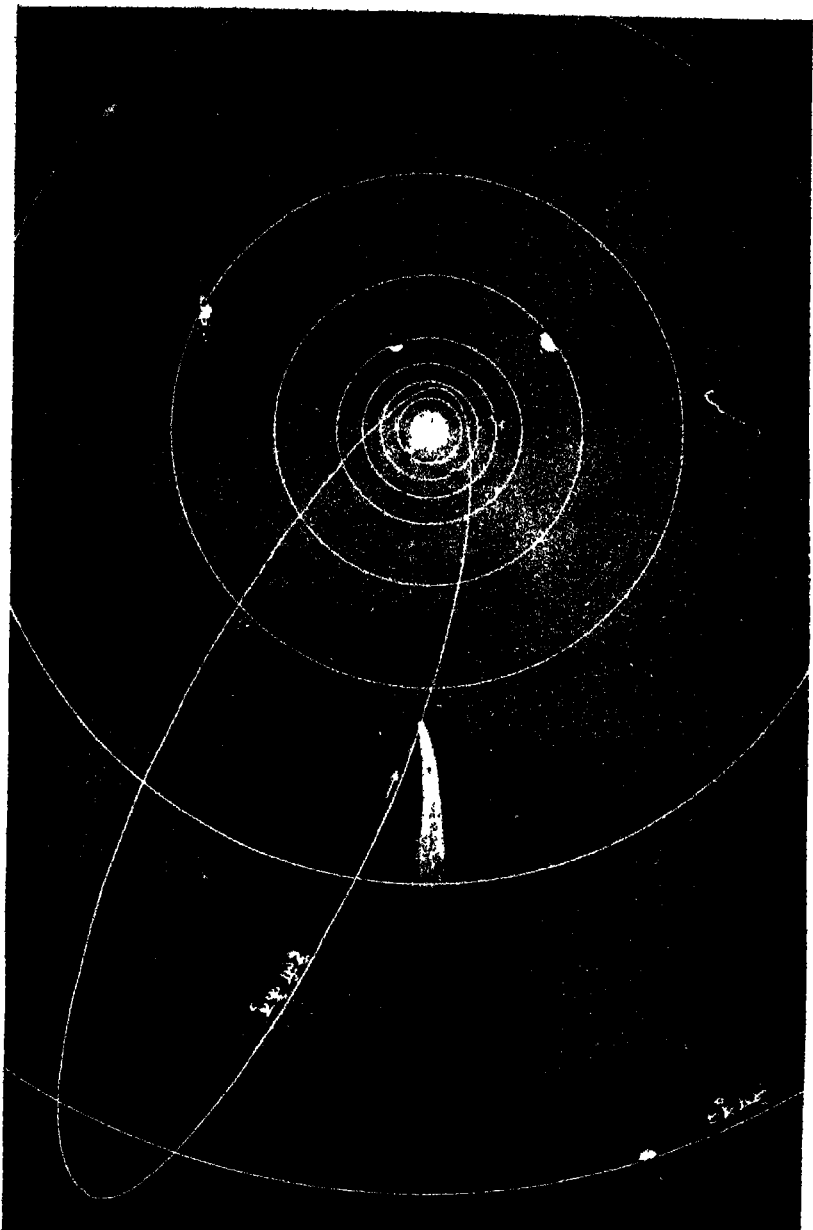
दूसरा अध्याय

हमारा ब्रह्मांड

१—सूर्य

हम ने यह देखा कि इस अनत सृष्टि मे हमारी क्या स्थिति है। अब यह देखना है कि इस ब्रह्मांड मे सूर्य के परिवार के लोगों की क्या दशा है।

पहले सूर्य को ही लीजिये। सूर्य एक अत्यंत विशाल गोला है जिस का व्यास ८,६६,४०० मील है। इस के ऊपरी तल का क्षेत्र फल २३ खरब ६० अरब वर्ग मील है। इस का घनफल २४ शंख घन-मील के लगभग है। सूर्य के पिंड के भारी होने का अनुमान करने की कोशिश मे दिमाग़ चकरा जाता है। थोड़ी देर के लिए मान लीजिये कि ऐनक और घड़ी लगाये पृथ्वी का एक भला मानुस जो वज़न मे डेढ़ मन होगा सूर्य के पिंड पर पहुँच गया है। सूर्य पर अब उस का वज़न बयालीस मन हो गया। उस के एक-एक हाथ का वज़न जो पृथ्वी पर दो-दो सेर रहा होगा तो सूर्य पर डेढ़-डेढ़ मन के लगभग हो जायगा और उस की कलाई में अगर लगभग आधी छटाक के वज़न की रिस्ट वाच हुई तो वह भी साढ़े तीन पाव के लगभग भारी हो जायगी। एक तोले वज़न की ऐनक डेढ़ पाव के लगभग हो जायगी। अगर वह हाथ उठाना चाहेगा तो उसे डेढ़ मन वज़न उठाना पड़ेगा। वह सयोग-वश गिर पड़ा तो फिर उठ न सकेगा।

परंतु उस के पहुँचने ही की बात लीजिये। पृथ्वी से सूर्य ९॥ करोड़ मील दूर है। पृथ्वी से ८ करोड़ मील चलने पर ही वह आंच से घबड़ाने लगेगा। आगे बढ़ने में कुशल नहीं है, क्योंकि उस का शरीर आंच से जलने लगेगा। जब दो लाख मील की दूरी रह जायगी तभी उस का शरीर जल कर और पिघल कर परमाणु-परमाणु अलग हो चुका रहेगा। लगभग १७ प्रकार के परमाणु मनुष्य के शरीर में सयुक्त दशा मे हैं। वह सब के सब अलग हो चुके रहेंगे। और प्राण ? उस की तो बात ही न पूंछो। वह तो कभी का निकल चुका होगा। धरती पर कुछ वायव्यों को और सोना आदि धातुओं को छोड़ सभी पदार्थ संयुक्त दशा में हैं। परंतु सूर्य पर इतनी प्रचंड आंच है कि सयुक्त दशा में कोई पदार्थ रह नही सकता। घन दशा मे भी

चित्र २३—सूर्य के भंवर जो विशेष यंत्र से ही देखे जा सकते हैं [सौर-परिवार से

किसी पदार्थ का रहना असंभव है। उस में जितने पदार्थ हैं सब के सब मौलिक हैं। सभी वायु-रूप में हैं और वह वायु भी ऐसे प्रचंड ताप पर है कि आंच के कारण ज्योतिर्मय हैं। जो कुछ हमें सूर्य का ऊपरी तल मालूम होता है उस का तापक्रम पांच हज़ार से लेकर सात हज़ार शतांश तक आँका गया है। उसकी आँच का यह हाल है कि सर्वग्रहण के समय में उस के किनारों पर पांच लाख मील की ऊँचाई तक प्रज्वलित उज्जन वायु की लाल शिखाएं लह-राती रहती हैं। यह शिखाएं लाल इस लिये हैं कि इस में खटिकम धातु से वायव्य की शिखा साथ ही साथ मिली-जुली लहरा रही है। साधारण समय में यह दिव्य दर्शन नहीं हो पाता क्योंकि उस की सफेद चमक इतनी तेज़ होती है कि इन लाल शिखाओं को छिपा लेती है।

इसी चमक के कारण साधारणतया यह समझ में नहीं आता कि सूर्य का पिंड कैसा होगा। दूरबीन से देखने में कभी-कभी सूर्य के बिम्ब के ऊपर काले काले धब्बे दिखाई पड़ते हैं। ये धब्बे काले होते हैं और खसकते हुए भी मालूम होते हैं। अनुमान किया जाता है कि तेज़ सफ़ेद रोशनी सूर्य के पिंड के ऊपर के अग्निमय बादलों से आती होगी और पिंड का भीतरी भाग काला होगा जो बादलों के फट जाने से काले धब्बे सा दीखने लगता है। अनुमान है कि भीतरी भाग भी प्रचंड तापमय है परन्तु वह भी वायव्य पदार्थ का बना हुआ है। बड़ी तेज़ आंच पर हवाई चीज़ के होते हुए भी गैस इतनी घनी होगी कि यहां के सीसे से भी ज्यादा उसकी घनता अनुमान की जा सकती है। यही प्रचंड ताप और प्रकाशवाला वायव्यों का महापिंड जो आत्यन्तिक वेग से अपनी धुरी के चारों ओर घूम रहा है और अपने महाकाय के खिचाव से करोड़ों मील की दूरी पर के ग्रहों को अपने चारों ओर नचा रहा है, सूर्य का पिंड है। यही सूर्य अपने प्रचंड ताप को लगातार अपने ब्रह्मांड भर में बिखेरता रहता है। करोड़ों नहीं शायद अरबों बरस से बिखेरता आया है। तब भी इस के ताप में कोई कमी नहीं दीखती। इस का प्रकाश घटता नहीं दीखता। यह अन्याय तेज़ कहां से आया? इस संबंध में कई मत हैं। अगर कहा जाय कि सूर्य बहुत धीरे-धीरे ठंढा हो रहा है, इतने धीरे कि हमें पता नहीं लगता, तो इस दलील की गुंजाइश इस लिये नहीं है कि अगर ठंढे ही होने की बात है तो सूर्य जैसे पिंड के ठंढे होने में लाखों बरस नहीं लग सकते। इस लिये यह नहीं कहा जा सकता कि सूर्य बहुत धीरे धीरे ठंढा हो रहा है। पृथ्वी पर अनेक ऐसी धातुएं हैं जो सूर्य में भी पायी जाती हैं जिन की आयु निश्चित रूप से सात आठ अरब बरस से कई गुना अधिक है। इस से अनुमान होता है कि जिस मसाले के ये पिंड बने हुए हैं वे चाहे जहां से आये हों पर हैं बहुत पुराने। यदि सूर्य अरबों नहीं, केवल करोड़ों ही बरस से इस ब्रह्मांड का नायक होता तो भी कब का ठंढा हो चुका होता। इस लिये वैज्ञानिकों का कहना है कि सूर्य की गुरुत्वाकर्षण शक्ति जो बड़ी प्रचंड है उसे सुकड़ा रही है। सुकड़ने से ही उस में से बराबर आंच निकलती आती है। यदि प्रत्येक परमाणु दूसरे परमाणु को गुरुत्वाकर्षण से खींचता है और यदि सूर्य का व्यास चारों ओर से इस तरह एक मील सुकड़ जाय तो उसका अर्थ यह होगा कि अरबों मन पदार्थ चारों ओर से केंद्र की ओर एक मील के लगभग डूब गया, परंतु बात इतनी ही नहीं है। एक मील नीचे का अरबों मन पदार्थ भी अपने से और नीचे एक मील से कुछ कम डूब
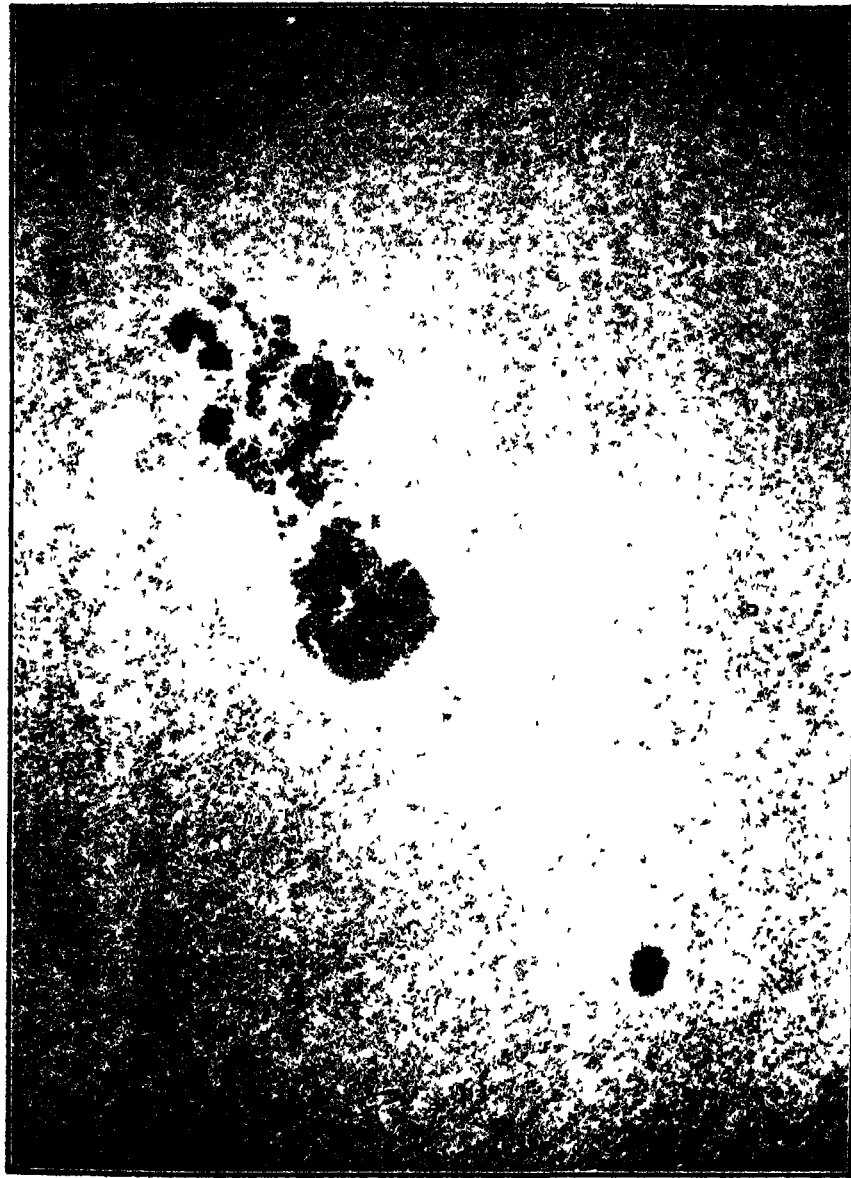
चित्र २४—सूर्य का तल। इस पर अनेक चमकीले दाने और दो चार बड़े बड़े कलंक दिखाई पड़ते हैं [सौर-परिवार से

गया होगा। इसी तरह केंद्र तक कुछ थोड़ा-थोड़ा घटते हुए परिमाण में सुकड़न होगी। यह सुकड़न अरबों बरस तक अत्यंत धीरे-धीरे होती हुई भी, और प्रचंड ताप देते हुए भी समाप्त न होगी।

कोई तीस बरस हुए इसी धरती पर ऐसे अनेक पदार्थों का पता लगा है जिन के परमाणु खंड-खंड होते रहते हैं और इस क्रिया में लगातार आंच निकलती रहती है और हिसाब लगाया गया है कि कोई कोई पदार्थ ऐसे भी हैं जिन के परमाणुओं का खंड अरबों बरस तक बराबर होता रहेगा और लगातार आंच निकलती रहेगी। इस तरह के पदार्थ सूर्य में भी बहुत भारी परिमाण में पाये जाते हैं। इन से लगातार ऐसी आंच निकल सकती है जो असंख्य कल्पों तक क्षय न होगी। बहुत संभव है कि सूर्य का भीतरी पिंड इन्हीं पदार्थों का बना हो और इसी लिये सूर्य का तेज कभी क्षीण नहीं होता।

सूर्य के पिंड के भीतर इतना प्रचंड ताप है कि दोनों बातें संभव हैं। परमाणुओं का बनना भी संभव है और उन का खंड खंड होना भी संभव है। यह खंड-खंड होते हों तो अपरिमित काल तक आंच में कमी नहीं हो सकती।

२—और ग्रह

सूर्य से सब से पास बुध है और सब से दूर वरुण और कुबेर हैं। पिछले दोनों तो शायद इतना तप रहे हैं कि उन के बारे में विचार करना व्यर्थ है। बुध उतने ही दिनों में अपने धुरे की परिक्रमा करता है जितने में सूर्य की, इस लिये उस का एक ही भाग सदा सूर्य के सामने बना रहता है। बुध के पिंड पर जिधर धूप बनी होगी उधर निरंतर धूप रहती होगी। कभी न तो सूर्य का उदय होता होगा, न अस्त। बुध की दूसरी ओर लगातार रात ही बनी रहती होगी। कभी दिन हुआ ही न होगा। बुध के जिस भाग में लगातार के रात और दिन का मेल होता होगा अर्थात् लगातार सांझ बनी रहती होगी वहां शायद कोई प्राणी रहते होंगे। क्योंकि जिस देश में बराबर धूप रहती होगी वह ऐसा तपता होगा कि वहां धरती के से प्राणी रह न सकेंगे। और जिधर लगातार रात बनी रहती है उधर इतना ठंढा होगा कि वहां भी कोई प्राणी रह न सकेगा। बुध के कोई चंद्रमा नहीं है इस लिये वहां चांदनी रात भी नहीं हो सकती। धूप की ओर तो इतनी गरमी होगी जिस से कि पानी खौलता रहता होगा और रात वाली ओर बरफ से दो तीन सौ दरजा नीचे की सरदी होगी।

बुध के बाद सूर्य से सब से अधिक पास शुक्र है। हम लोग बुध को तो मुश्किल से कभी देख सकते हैं पर शुक्र तो सबेरे तड़के या शाम को रात में बहुत चमकीला दिखाई पड़ता है। इस का पिंड लगभग पृथ्वी के ही बराबर है। शुक्र का वायुमंडल भी अच्छा ही है। उसके ऊपर निरंतर बादल घिरे रहते हैं। इस लिये उसका ऊपरी तल कभी दिखाई नहीं देता और यह पता नहीं लग सकता कि वह अपने धुरे पर कितने समय में घूमता है। कुछ ज्योतिषी समझते हैं कि हम ने पता लगा लिया है कि वह बुध की तरह अपनी धुरी के

चित्र २६—सूर्य-सर्वग्रहण
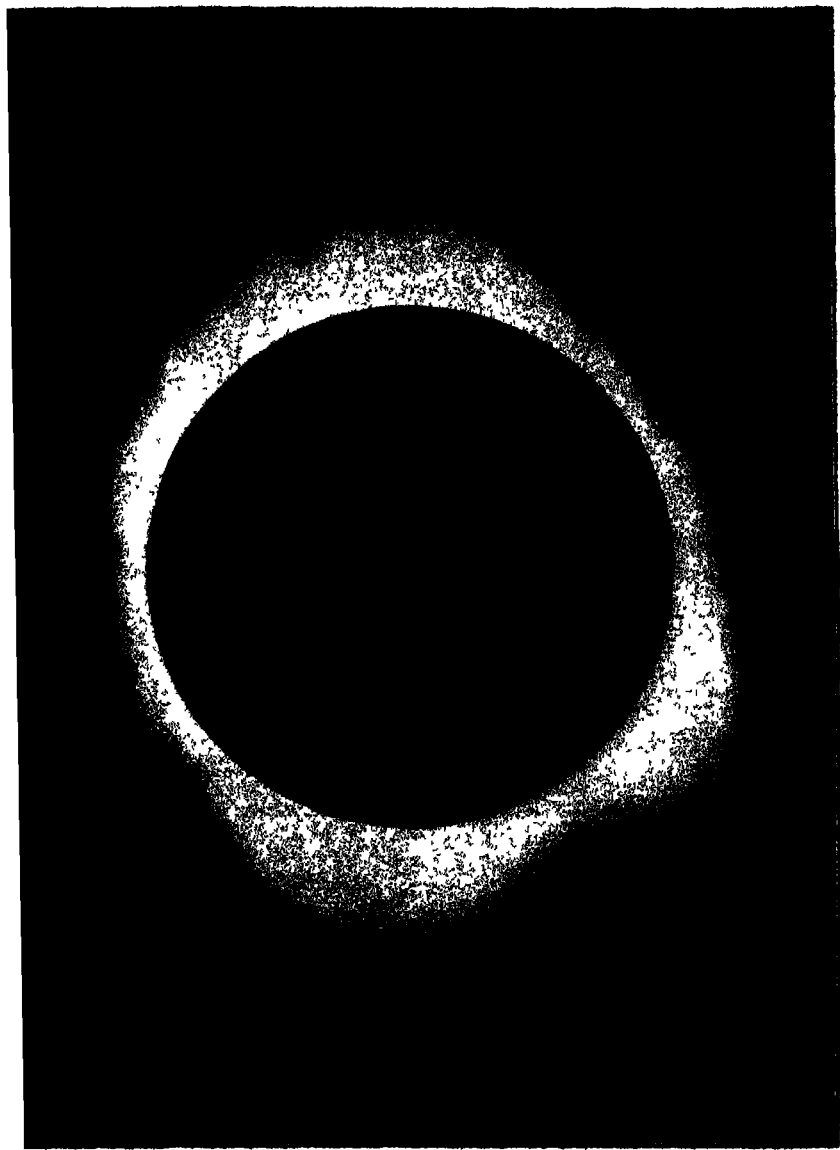
चारों ओर उतने दिनों में घूमता है जितने दिनों में सूर्य की परिक्रमा करता है। अगर यह ज्यौतिषी ठीक कहते हैं तो शुक्र की दशा भी सब बातों में बुध की सी होगी। परन्तु अधिकांश ज्यौतिषी इस मत के नहीं हैं।

मंगल ग्रह पृथ्वी से बहुत छोटा है और इसी लिये यह माना जाता है कि इस का पिंड पृथ्वी की अपेक्षा जल्दी ठंढा हुआ होगा। जिस पिंड पर पानी को उबालने वाली आँच हो उस पर पृथ्वी पर रहने वाले सरीखे प्राणी न हो सकते हैं और न जी सकते हैं। इस लिये ज्यौतिषियों का अनुमान है कि मंगल पर प्राणियों का निवास और विकास पृथ्वी से लाखों बरस पहिले हो चुका होगा और इस समय जो प्राणी मौजूद होंगे उन्हें अपने विकास में मनुष्यों से कहीं अधिक आगे बढ़ा-चढ़ा होना चाहिये। इस तरह का अनुमान कर के जो वैज्ञानिक मंगल ग्रह पर खोज करते हैं वह यह भी कहते हैं कि मंगल ग्रह पर का जीवन पृथ्वी पर के जीवन से ज़रूर भिन्न होगा क्योंकि वहां वायु और जल की इस समय उतनी काफी मात्रा नहीं है, जितनी पृथ्वी पर के से जीवन के लिये चाहिए।

चित्र २८—बुध

चित्रकार श्रेटर] [मौर परिवार से

प्रोफेसर लोवेल ने दूरबीन से देखा कि मंगल के पिंड पर सैकड़ों सीधी रेखाएं बनी हुई हैं, जिस के लिये उन्होंने अनुमान किया कि ये नहरें होंगी जिन से खेतों की सिंचाई होती होगी। मंगल के ध्रुवों पर सफ़ेद सफ़ेद बरफ़ की तहें जमी हुई देखी गयी हैं जिस से जल का अनुमान किया जाता है। परन्तु मंगल के वायुमंडल में कहीं बादल या जलवाष्प नहीं दीखता।

हमारे दूरबीनों से इन बातों का ठीक फैसला नहीं हो सकता क्योंकि मंगल ग्रह पृथ्वी से तीन करोड़ चालीस लाख मीलों से कम फासलों पर नहीं रहता और यह नज़दीकी भी पन्द्रह या सत्रह बरसों में एक बार ही होती है। बड़े बड़े दूरबीनों से मंगल ग्रह की जो फ़ोटो
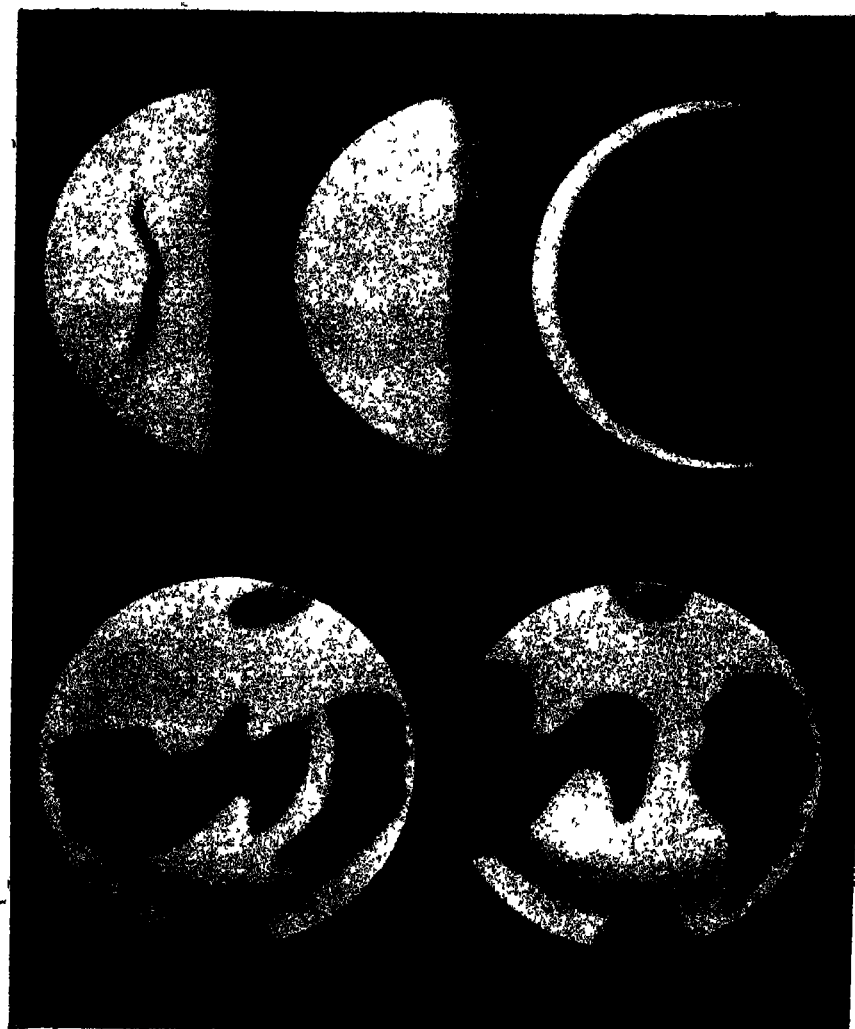
चित्र २१—शुक्र की कलाएं

[सौर-परिवार से

खींची जाती है वह अत्यन्त छोटा होता है। आँखें फोटो के ताल से ज़्यादा अच्छा देख लेती हैं। इस लिये यह झगड़ा आसानी से सुलझ नहीं सकता। हम तो भी देखते हैं कि हमारी धरती पर अफ़रीक़ा के सहारा जैसे मरुस्थल में और ध्रुवप्रदेश जैसी ठंढी से ठंढी जगह में प्राणी होते हैं और रहते हैं। उसी तरह जहां अनुकूल जलवायु नहीं. है वहां भी प्राणियों का होना बहुत संभव है।

यदि मंगल ग्रह में प्राणियों का निवास है तो उन की रातें बड़ी मज़ेदार होती होंगी क्योंकि मंगल के दो चन्द्रमा हैं और साथ ही साथ और कभी एक के बाद दूसरे चन्द्रमा का उदय होता होगा, जिससे रात की रमणीयता बढ़ जाती होगी।
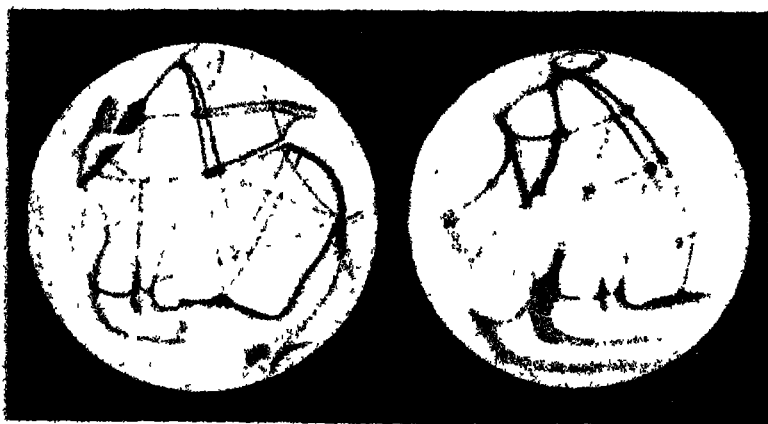
चित्र ३० —मंगल का दृश्य बड़ी दूरबीनों से

शापारेली] [सौर-परिवार से

बृहस्पति इस परिवार में सब से बड़ा ग्रह है। मंगल और बृहस्पति के बीच में लगभग तीस करोड़ मील के आकाश-मंडल ख़ाली-सा है। कोई बड़ा ग्रह इस बीच में नहीं है। आज-कल के ज्योतिषियों ने इस विस्तृत व्योम-देश में लगभग नौ सौ के छोटे-छोटे ग्रहों का पता लगाया है। इन में से जो बहुत छोटे हैं, उनका व्यास पांच मील से ज़्यादा नहीं है और जो सब से बड़े हैं उन का व्यास पांच सौ मील से ज़्यादा नहीं है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि बृहस्पति सरीखे विशालकाय पिंड के पास होने के कारण विश्व के इस व्योम भाग में जो पदार्थ बिखरा हुआ था मिल कर कभी एक पिंड न बन पाया।

इस विशालकाय पिंड के भार का खिंचाव चारों ओर आकाश में बहुत बड़ा प्रभाव डालता होगा, क्योंकि यह पृथ्वी से तेरह सौ गुना बड़ा है। इस के नौ चन्द्रमा हैं जिन में से सब से बाहर वाले उलटी दिशा में उस की परिक्रमा करते हैं। अनुमान होता है कि बृहस्पति

के पिंड पर अभी तक प्राणियों का निवास नहीं हुआ होगा क्योंकि अभी तक धरती का ठोस छिप्पड़ बृहस्पति पर बना हुआ नहीं जान पड़ता। इस की फ़ोटो में यह बराबर बादलों से या भाफ से घिरा मालूम होता है। इस का पिंड आंच से लाल मालूम होता है। पिछले पचास बरसो से इस के भीतर एक लाल धब्बा सा दिखाई पड़ रहा है जो लगभग २४ हजार मील लंबा होगा। इस का अतर्हृदय सभव है कि ठोस या द्रव हो पर यह समूचा पिंड अभी वायव्य दशा में जान पड़ता है। इस पिंड के भिन्न भिन्न देश भिन्न वेगो से अपने धुरे की

चित्र ३२—बृहस्पति

एस्ट्रोफिग्राफो] [सौर-परिवार से

परिक्रमा करते हैं। इस का औसत वेग दस घटा है। तो भी यह ग्रह अपने तेज से नहीं चमकता। आकाश मे बृहस्पति और शुक्र बड़े चमकीले हैं, पर यह तेज सूर्य का है।

शनि की भी वैसी ही दशा है। उस के ऊपर वाले हिस्से मे भाफ के बादल हैं और भीतर के पिंड में प्रचड ज्वाला है। इतनी तेज़ आच है कि पानी जमा नहीं हो सकता। यह भी दस घटे में अपने धुरे पर घूम जाता है।

दूरबीन में शनि बड़ा ही सुंदर दिखाई पड़ता है। जान पड़ता है कि सफाचट मुड़े हुए सिर पर महाजनो की सी पगड़ी रक्खी हुई है। उल्काओं के झुड के झुड निरतर एक ही तल में बड़े वेग से उसके चारो ओर घूमते रहते हैं, इसी कारण ऐसा मालूम होता है। शनि के दस चंद्रमा हैं। सूर्य से अत्यंत दूर होने के कारण उस पर सूर्य की आंच का

कम प्रभाव पड़ता है। तो भी उलका के भुंडों के ऊपर जो धूप पड़ती है उसी से यह पगड़ी सा मालूम होता है। यह पदार्थ समुद्र कई मील गहरा है और इस पिंड के ऊपरी तल से लेकर बाहर की ओर एक लाख बहत्तर हज़ार मील तक पसरा हुआ है। कुछ ज्योतिषियों का कहना है कि इसी ग्रह के पिंड में से ज्वालामुखी पर्वतों के फटने से इस के चारों ओर छल्ला सा बन गया है। औरों का कहना है कि ग्यारहवां चन्द्रमा बननेवाला पदार्थ चन्द्रमा न
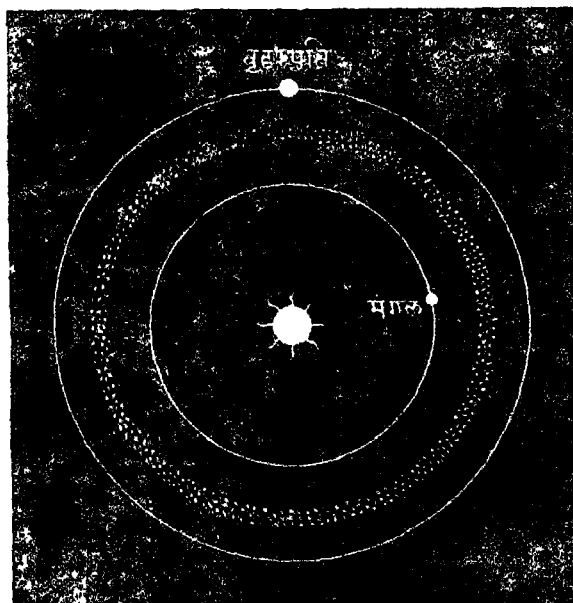
चित्र ३६—मंगल और गुरु के बीच असंख्य छोटे अवांतर ग्रह हैं　　[सौर-परिवार से

बन पाया बल्कि इसी तरह बिखरा हुआ चक्कर लगा रहा है। इस ग्रह की दशा ऐसी है कि इस पर भी हमारी धरती के से प्राणियों का होना सम्भव नहीं है। शनि की अपेक्षा अधिकाधिक दूरी के चक्कर लगाने वाले क्रम से उरण, वरुण और कुबेर ग्रह हैं। उरण और वरुण का पता तो युरोप वालों ने पहले लगाया था परन्तु अभी संवत् १९८८ में कुबेर का पता लगा है जो हमारे ब्रह्माण्ड की सीमा को कुछ और बढ़ा देता है। चित्र में कुबेर ग्रह भी दिखाया गया है।

३—उपग्रह

मंगल और शुक्र यही दो ग्रह हमारी धरती के सिवा ऐसे मालूम होते हैं जिन पर इस दुनिया के से प्राणियों के होने की संभावना है। परन्तु इन दोनों में से भी शुक्र पर फिर

चित्र २९--चंद्रमा। अमावस्या के बारह दिन बारह घंटे बाद का चित्र

पेरिस वेधशाला] [सौर-परिवार से

भी कम है। अब रही इन के चांदों की बात। उरण के चार चद्रमा हैं। वरुण के एक ही है, मंगल के दो हैं। पृथ्वी के एक है और बुध और शुक्र के कोई चद्रमा नहीं है। मंगल के चद्रमा दस दस मील से अधिक व्यास के न होंगे। परंतु बृहस्पति और शनि के एक एक चद्रमा तीन तीन हज़ार मील व्यास के हैं, अर्थात् बड़ाई में सब से छोटे ग्रह बुध के बराबर हैं जिस का व्यास तीन हज़ार तीस मील है। सभव है कि इन बड़े बड़े चद्रमाओं में हमारी धरती के से प्राणी रहते हों। हम इस बात पर अपने चद्रमा को ही उदाहरण रूप लेकर विचार करेंगे।

कहा जाता है कि इसी पृथ्वी के बहुत उत्तप्त दशा में किसी प्राचीन युग में इस के दक्षिण भाग से कुछ पिण्ड सा पदार्थ कटकर दूर हो गया और वही पृथ्वी का चंद्रमा हुआ। यही बात है कि पृथ्वी के गोले में उत्तर ध्रुव की ओर सूखी धरती का भाग बहुत ज्यादा है और दक्षिण ध्रुव की ओर गहरे समुद्र का ही भाग ज्यादा है। परन्तु जान पड़ता है कि पृथ्वी का पिड बहुत बड़ा होने से बहुत काल में सिकुड़ा और आज कल की दशा तक ठडा हुआ। परन्तु चद्रमा का पिड तो बहुत छोटा था इस लिये वह बहुत जल्दी सिकुड़ गया और ठडा हो गया। यह पिड शायद उस दशा में पृथ्वी से अलग हुआ है कि जब पृथ्वी के तल पर जल नहीं बना था क्योंकि चद्रमा के पिड पर जल का अभाव मालूम होता है।

चद्रमा ही एक आकाश पिड है जो पृथ्वी से बहुत पास है और दूरबीन के द्वारा जिसे हम बहुत अच्छी तरह देख सकते हैं। एक तरह से दूरबीन से चद्रमा इतने पास हो जाता है कि मानो उसे हम पचीस कोस की दूरी ही से देख रहे हो। अगर चद्रमा पर कोई विशाल हवाई जहाज चलता होता तो हम उसे उस के तल पर चलते हुए बिन्दु की तरह से देखते। परन्तु चद्रमा पर कोई चलता हुआ पदार्थ हम नहीं देख पाते। इस से जान पड़ता है कि इस पिड पर कोई इस तरह का बड़ा काम नहीं होता होगा। कुछ ज्योतिषियों का अनुमान है कि चद्रमा के ऊपर किसी तरह के जीवन के चिन्ह जरूर मिलते हैं। प्रोफेसर पिकरिंग का ख्याल है कि चद्रमा के ऊपर ज्वालामुखी पर्वत फटा करते हैं। उन का यह भी ख्याल है कि चद्रमा पर हरियाली के भी मैदान हैं। परन्तु यह हरियाली काई आदि की तरह नीच प्रकार की होगी, और चंद्रमा की धरती में कुछ नमी भी होगी क्योंकि वहा के पतले वायु-मडल में कभी कभी बरफ भी गिरता है और कुछ प्रकार के परिवर्तन भी उस के तल पर होते रहते हैं।

हवा इतनी पतली है कि चंद्रमा पर शब्द बहुत कम होते होंगे। शायद न होते होंगे। क्योंकि वायु की तरंगें ही शब्द हैं। वहा धूल नहीं हो सकती, गन्ध नहीं हो सकती। आकाश घोर काला होगा और तारे दिन और रात दोनों में दिखाई देते होंगे। सूर्य का लाल मंडल और उठती हुई ज्वालाएं जो हम केवल सूर्य-ग्रहण में कठिनाई से देखते हैं वहा बराबर दिन में दिखाई पड़ते होंगे। चद्रमा पर हमारे एक पाख का दिन और एक पाख की रात होती है। परन्तु दिन में पड़ने वाली धूप चद्रमा के ऊपरी तल को इतना गरम भी नहीं करती होगी कि बरफ को पिघला सके क्योंकि आंच तुरत निकल जाती होगी। रात
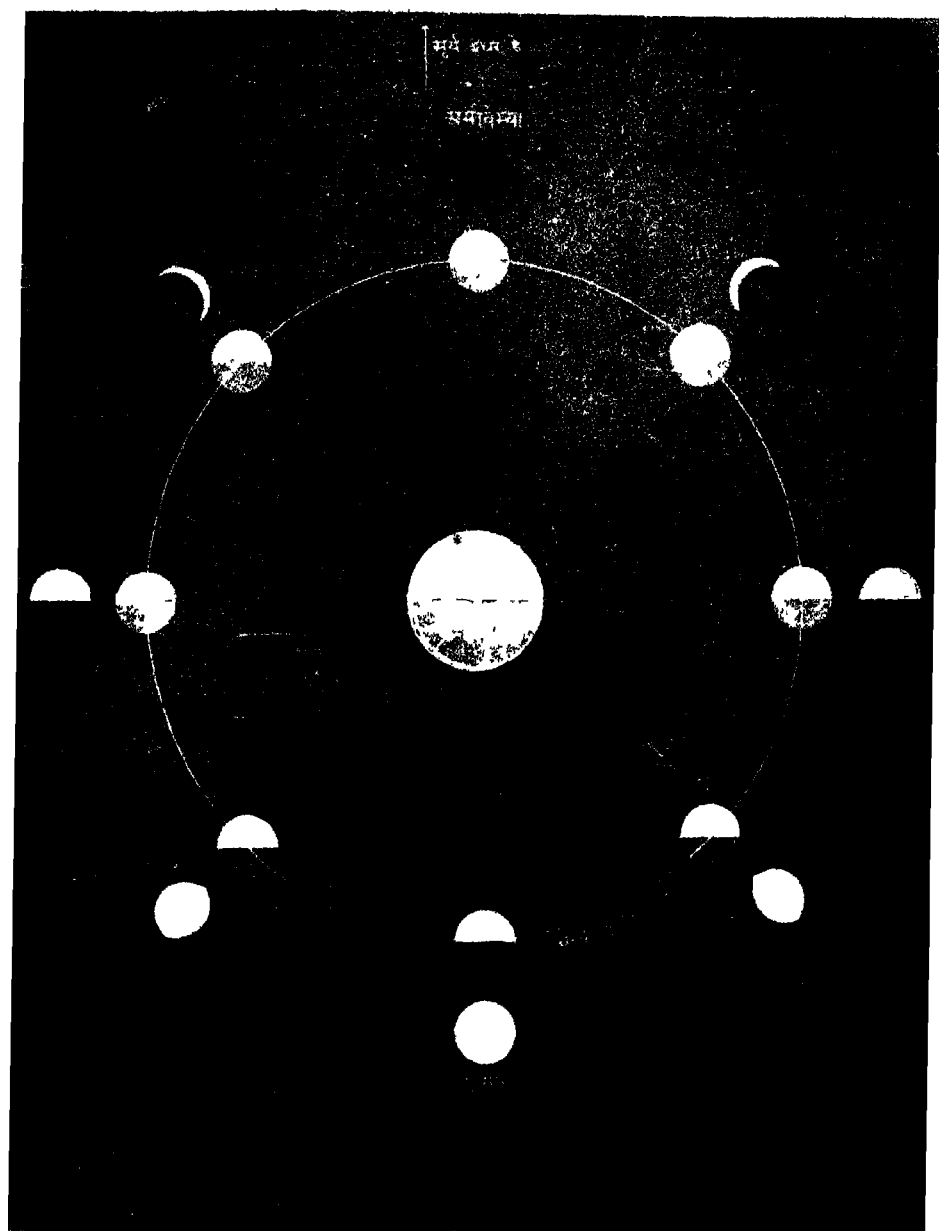
चित्र २६—चंद्रमा की कलाएं

[सौर-परिवार से
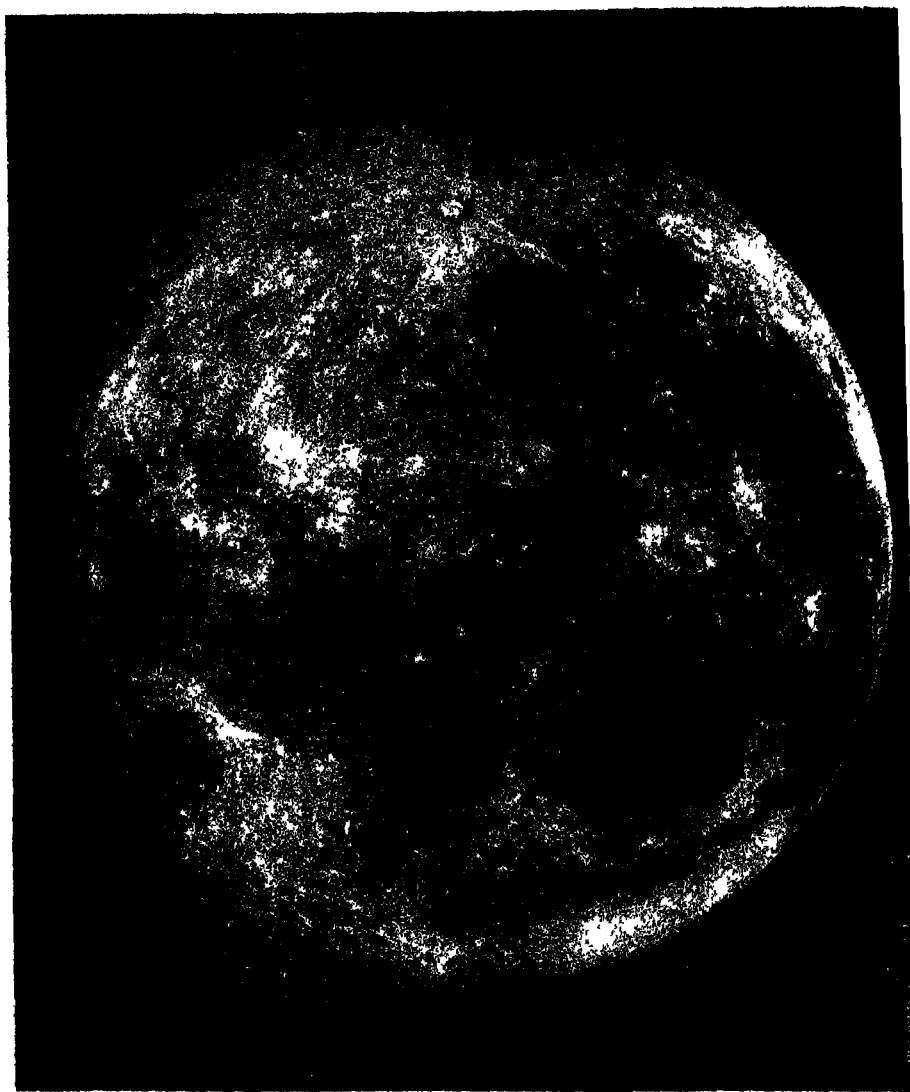
चित्र ३८—चंद्रमा पर अनेक पहाड़ पहाड़ियाँ

लिक वेधशाला] [सौर-परिवार से

चित्र १६—चंद्रमा पर के गड्ढे

यरकिज वेधशाला] [सौर-परिवार से
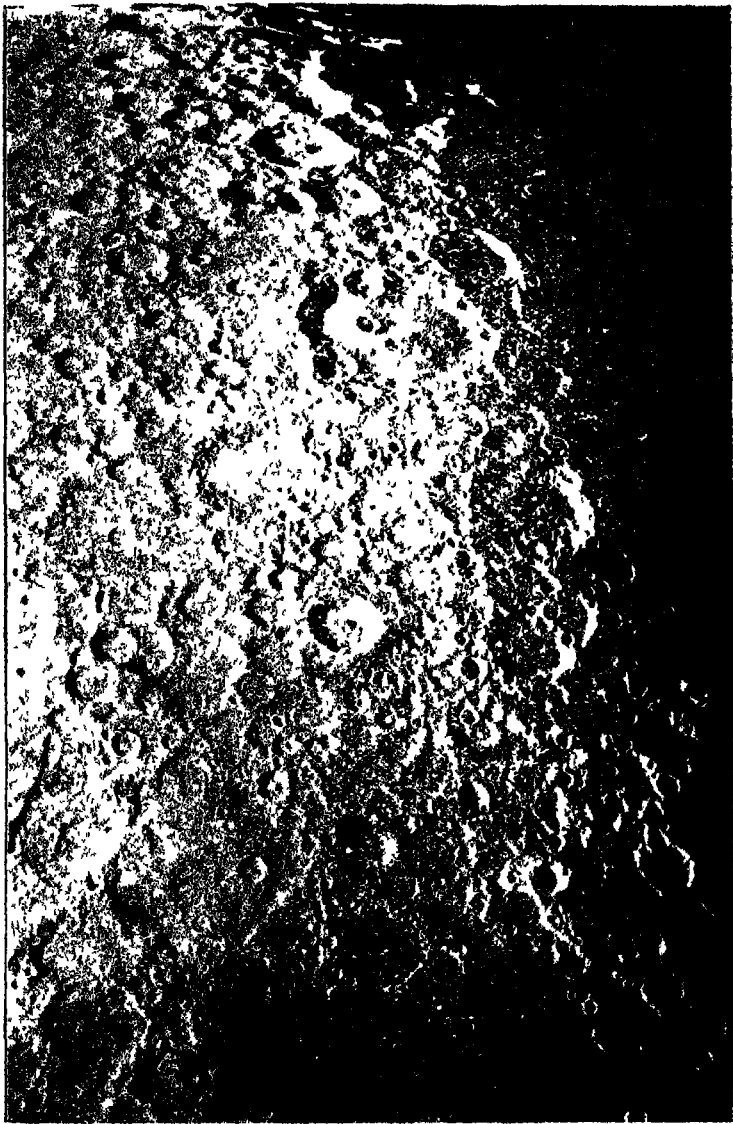
बहुत ठंढी होती होगी। कुछ लोगों का यह भी ख्याल है कि दिन के समय चन्द्रमा का तल इतना गरम हो जाता होगा कि पानी खौलने लगे।

चित्र ४०—गिरी हुई उल्का की चट्टान

[सौर-परिवार से

देखने में चन्द्रमा के तल पर लाखों की संख्या में गोल गोल आकार हैं। ज्योतिषियों का अनुमान है कि भयंकर उल्कापातों के कारण यह विवर से बन गये हैं जिनके मुंदने की कभी नौबत नहीं आयी। यह उल्कापात तब हुए होंगे जब चन्द्रमा का तल आंच के कारण बहुत नरम था। औरों का विचार है कि जिस समय चन्द्रमा पिघली हुई दशा में था उसी

समय ज्वालामुखी गैसों के फूट पड़ने से यह गोल गोल बड़े बड़े छेद बन गये हैं, और बहुतेरे यह समझते हैं कि ये ज्वालामुखी के मुख हैं जो शांत हो गये हैं। इन में से सब से बड़े का व्यास एक सौ तेईस मील है।

चंद्रमा पर के पहाड़ बहुत ऊँचे हैं और बड़े ही ऊबड़-खाबड़ हैं। कोई कोई २६।२७ हजार फीट ऊंचे हैं। हमारी धरती के पहाड़ पानी और बरफ की क्रियाओं से टूटते और बदलते रहते हैं पर वहां के पहाड़ ज्यों के त्यों बने रहते हैं। जान पड़ता है कि चंद्रमा एक प्रकार का मृत पिंड है। संभव है कभी इस में जीवन रहा हो पर अब मर गया है।

हम ने देखा कि सूर्य में पिंड की विशालता के कारण हमारे यहां की एक छटांक की चीज़ सूर्य में सत्ताईस छटांक की हो जाती है। परन्तु चंद्रमा में उस के पिंड के छोटे होने के कारण यहां की भारी से भारी चीज़ वहां हलकी से हलकी हो जायगी। सूर्य में गिर कर उठना मुश्किल है। चंद्रमा में इस दर्जे की हलकाई आ जायगी कि एक आदमी सहज में उछल कर गंगा पार कर सकेगा।

हम ने अपने ब्रह्मांड में देखा कि उरण वरुण शनि और बृहस्पति सरीखे ऐसे ग्रह हैं जो इतने ठंढे नहीं हुए हैं कि उन के ऊपरी तल पर जल रह सके। वे ठंढे हो रहे हैं और शायद लाखों बरस में हमारी पृथ्वी की तरह प्राणियों के रहने के योग्य हो जायँगे। हम ने देखा कि बुध और शुक्र की दशा हमारी धरती की दशा के लगभग है। हमारी धरती में लाखों बरस पहिले से प्राणियों का निवास है। मंगल ग्रह में जो दशा हमारी धरती के प्राणियों की आज है वह लाखों बरस पहिले हो चुकी होगी। मंगल की जो दशा शायद लाखों बरस बाद होगी चंद्रमा की वही दशा वर्तमान समय में है। सूर्य के इस परिवार में सभी अवस्थाओं के कुटुम्बी हैं उन में से उरण, वरुण, शनि और बृहस्पति होनहार बच्चे हैं। बुध, शुक्र, पृथ्वी और मंगल मध्य अवस्था के प्राणी हैं। और सत्ताईसा चंद्रमा प्रायः मरे लोक हैं अथवा इस समय मर रहे होंगे।*

४—धूम्रकेतु और उल्कापात

आकाश में कभी-कभी हम टूटते हुए तारे देखते हैं। एका-एकी एक जगह से दूसरी जगह को ज्योति की एक रेखा सी दौड़ जाती है। यह रेखा किसी छोटे से पिंड के कारण दिखाई पड़ती है। बाहरी आकाश से जब यह छोटा सा पिंड हमारे वायुमंडल में प्रवेश करता है तो वायु से रगड़ खाकर जल उठता है। बीस या तीस मील प्रति सेकंड के वेग

---

* हिंदू पुराणों में चंद्रमा में पितरों का अर्थात् मरे हुए लोगों का निवास बताया जाता है। बृहस्पति और गुरु दोनों नाम साभिप्राय हैं। दोनों का अर्थ है बड़ा और भारी। बृहस्पति ऐसा ही पिंड है।

चित्र ४१—ऊंचे से ऊंचा पहाड़ ५ मील ऊंचा है। परंतु साधारण से साधारण उल्काएं ४१ मील से भी अधिक ऊंचाई की होती हैं। [सौर-परिवार से
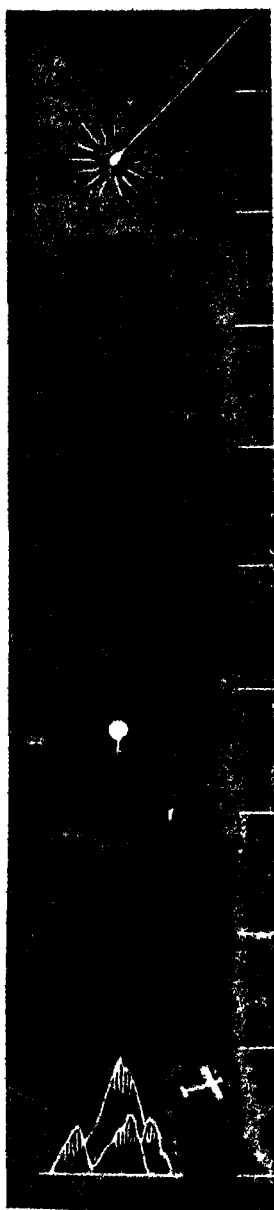
मे वह चला आ रहा था। धरती से ७०।८० मील पहिले ही वह सुलग कर चमकने लगा और ज्यो ज्यों वह घने वायुमंडल में आता गया उस की आंच बढ़ती गयी। धरतीतक पहुंचने को २०।२५ मील ही रह गये तभी वह आंच से गैस बनकर उड़ गया। लगभग एक करोड़ से लेकर दस करोड़ तक इस तरह के टूटते तारे नित्य हमारे वायुमडल मे प्रवेश करते हैं और जल कर समाप्त हो जाते हैं। उन मे से बहुतेरे तो छटाक आधी छटाक से ज्यादा नहीं होते और दिखाई भी नहीं पड़ते परन्तु कुछ २५।३० मन तक के होते हैं जो हमारे वायुमडल के जाल मे फंस कर समाप्त हो जाते हैं। वह प्रायः छोटे-छोटे टुकड़ो में बंट कर बिना कोई हानि पहुंचाये धरती पर गिर जाते हैं। जान पड़ता है कि इस ब्रह्माड के भीतर जितनी जगह ग्रहों और उपग्रहों से खाली है उस मे ये छोटे-छोटे पिंड भरे हुए है। यह उसी तरह झुंड के झुंड है जैसे समुद्र मे मछलियां होती हैं। बहुतेरे अकेली रहनेवाली मछलियों की तरह भी है। उल्कापात या टूटते हुए तारे इसी तरह के अकेले घूमने वाले पिंड हैं। नन्हे-नन्हे पिंड जो झाड़ू या पुच्छल तारे के आग में पसरे हुए है झुंड मे चलने वाली मछलियों की तरह है।

धूम्रकेतु क्या है? इन की भी कथा सुनिये। हमारे विश्व मे ऐसे छोटे बड़े असख्य पिंडो का झुंड-का-झुंड चक्कर मारता हुआ कहीं दूर से चला आ रहा है। इस में लोहा पत्थर आदि पदार्थ हैं। यह झुंड कभी कभी हजारों मील चौड़ाई का होता है। जब हमारे ब्रह्मांड के सूर्य के आकर्षण के प्रभाव मे पड़ता है तब उसे सूर्य की परिक्रमा करनी पड़ती है। तब तक यह पुच्छल तारा धूम्रकेतु या झाड़ू नहीं है क्योंकि इस के पूछ नहीं होती।
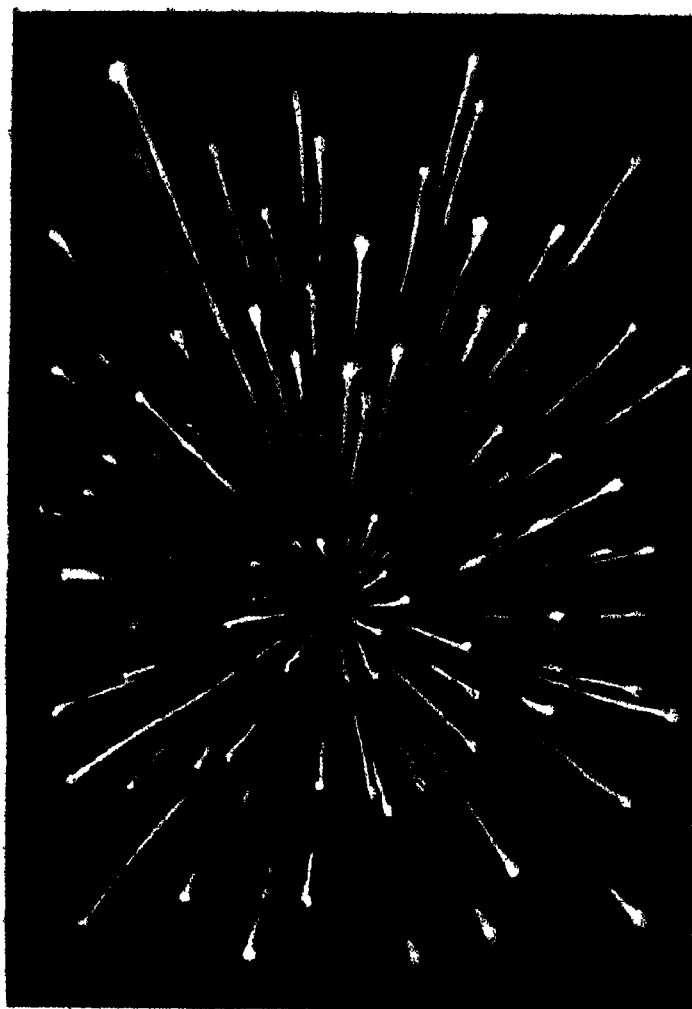
चित्र ४२—उल्का झड़ी में उल्काएं एक केंद्र से बरसती दीखती हैं, परंतु असल में वे समानांतर रेखाओं में चला करती हैं।

[सौर-परिवार से

चित्र ४३—काली नीहारिका
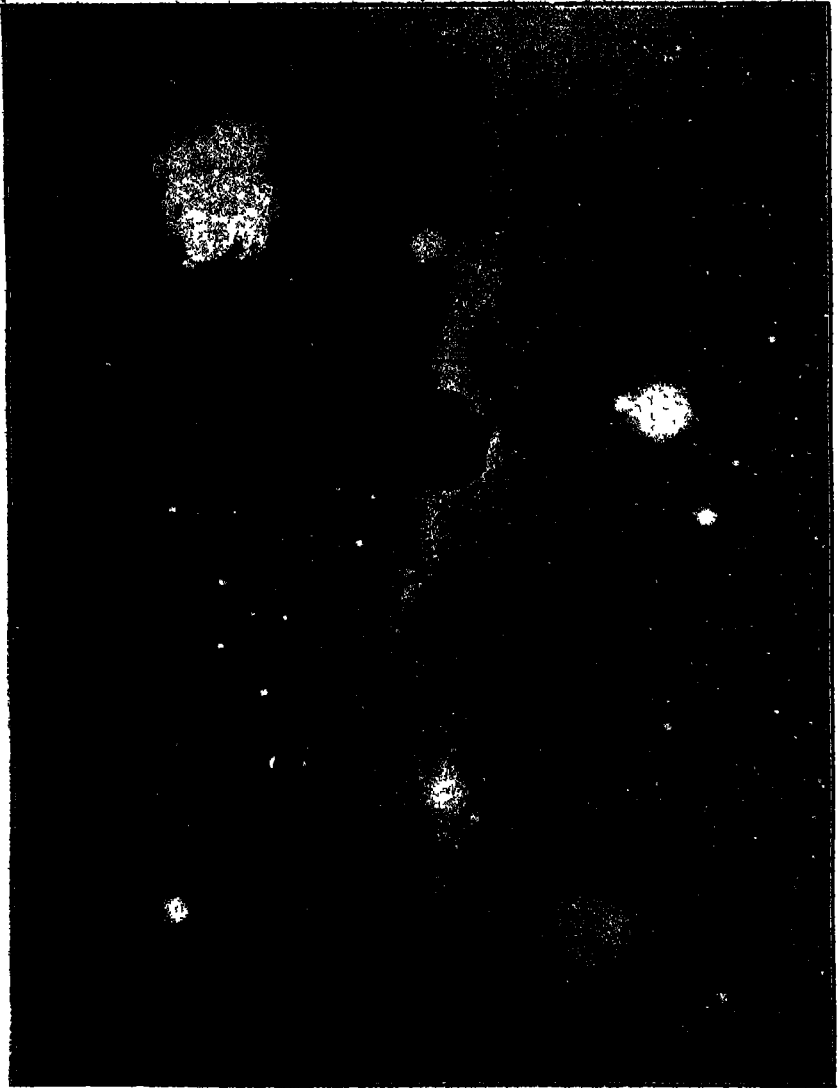
[सौर-परिवार से

बारनार्ड] चित्र ४४—केतु का छाया चित्र लेते समय सभी तारे लम्बोतरे से चित्रित हो जाते हैं [सौर-परिवार से

परन्तु जब यह झुंड सूर्य के पास पहुंचता है और इस का वेग बढ़ता है तो आपस में यह पिंड रगड़ खाते हैं। इस से एक बहुत बड़ा भाग आंच से तप उठता है और प्रचंड ताप से सफेद चमकने लगता है। इस में बहुत सूक्ष्म भाफ सा पदार्थ इस में से निकलने लगता है और सूर्य से बड़ी तेज रोशनी इस के ऊपर आकर पड़ती है तो इस को भाफ को एक लंबी पूंछ की शकल में प्रगट कर देती है। पुच्छल तारा चाहे जिस दशा में यात्रा कर रहा हो उस की पूंछ सूर्य से सदा दूर की दिशा में जाती हुई दिखाई पड़ती है। ज्यों ज्यों वह सूर्य के पास जाता है त्यों त्यों उस की पूंछ की लंबाई बढ़ती जाती है। संवत् १९०० विक्रमी में जो पुच्छल तारा दिखाई दिया था उस की पूंछ बीस करोड़ मील लंबी थी। परन्तु पूंछ जिस वाष्प की बनी होती है उस की सूक्ष्मता कल्पना में नहीं आ सकती। वह इतनी सूक्ष्म है कि शायद किसी बिजुली की ही शक्ति से उस में चमक है। जो हो धूम्रकेतु बहुधा तीन चार सौ मील के वेग से सूर्य का चक्कर लगा कर हमारे ब्रह्मांड से फिर बाहर चला जाता है। फिर कुछ काल या बहुत काल के बाद यही झुंड इस ब्रह्मांड के नायक की परिक्रमा करने आता है। इस तरह केतुओं की परिक्रमा भी समय समय पर हुआ करती है परन्तु यह सूर्य के परिवार के लोग नहीं हैं। ये ब्रह्मांड के बाहर से यात्रा करते हुए आते हैं और कुछ दिन मेहमानी करके लौट जाते हैं।

ग्रहों से सूर्य का दर्शन

बुध से शुक्र से पृथ्वी से मंगल से गुरु से शनि से वरुण से
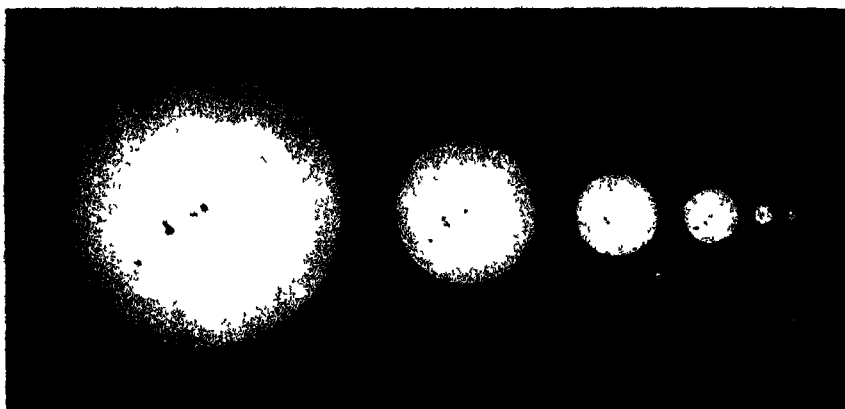
चित्र ४९—विभिन्न ग्रहों से सूर्य का सापेक्ष आकार। [सौर-परिवार से

तीसरा अध्याय

हमारी धरती

१—पृथ्वी-पिंड का दिग्दर्शन

हमारी पृथ्वी नजदीकी मे सूर्य से तीसरा ग्रह है। इस का व्यास ध्रुव से ध्रुव तक, जहां दोनों ओर कुछ चिपटी हो गयी है, ७८९९ मील है। मध्य में उस की लपेट पर पूर्व-पश्चिम का व्यास लें तो वह २७ मील और होगा। उस का घेरा लगभग २५,००० मील का है। उस के भीतर जो कुछ पदार्थ है उस का औसत घनत्व पानी का पाँच गुना है। इस के मुकाबिले में अगर शनि और वरुण का घनत्व लें तो उन का पदार्थ इतना हलका ठहरेगा जैसे पानी पर काग। बृहस्पति पृथ्वी से इतना बड़ा है जितना मटर के सामने एक कद्दू हो सकता है। अपने ५८ करोड़ मीलों के चक्कर को वह ३६५ दिनों में पूरा करती है। इस तरह सूर्य की परिक्रमा वह बड़े भयानक वेग से कर रही है अर्थात् १ सेकेंड में १८ मील चलती है। बन्दूक की गोली से ५० गुनी और डाकगाड़ी से हजार गुनी ज्यादा तेज है। बड़ा वेग है! परन्तु शुक्र और बुध पृथ्वी से भी ज्यादा तेज चलते हैं। और स्वाती नाम का तारा तो लगभग २०० मील प्रति सेकेंड चलता है। पृथ्वी की परिक्रमा चन्द्रमा करता है। और सूर्य की परिक्रमा पृथ्वी करती है। सूर्य भी अपने धुरे के चारों ओर तो घूमता ही है पर शायद वह भी किसी परिक्रमा में ही लगा हुआ है। वह अपनी परिक्रमा में पृथ्वी की अपेक्षा सुस्त है अर्थात् १० मील प्रति सेकेंड। इस समय जान पड़ता है कि वह अभिजित नक्षत्र की तरफ बड़े वेग से बढ़ता जा रहा है। परन्तु अनुमान किया जाता है कि इस व्योम मंडल में वह कृत्तिकाओं की परिक्रमा करता होगा। वह करोड़ों बरस में शायद अभिजित के पास पहुंच जाय। यह पता नहीं है कि वह इस रास्ते पर कितने दिनों से चल रहा है। वह हर साल तीस लाख मील के लगभग अपनी राह में आगे बढ़ जाता है। ये नक्षत्र ग्रह और तारे एक दूसरे के खिंचाव के सहारे अनंत देश में चक्कर लगा रहे हैं।

पृथ्वी का धुरा उस के परिक्रमा की रेखा से कुछ झुका हुआ है। इसी से इस बड़ी परिक्रमा में वसंत ऋतु और शरद् ऋतु में जब कि भूमंडल सूर्य के ठीक सामने पड़ जाता है

दिनरात बराबर हो जाते हैं। और समयों में ऐसा नहीं होता। धुरे के झुके होने से कभी उत्तर ध्रुव सूर्य के अधिक पास होता है कभी दक्खिन। जिस ध्रुव के पास सूर्य होता है
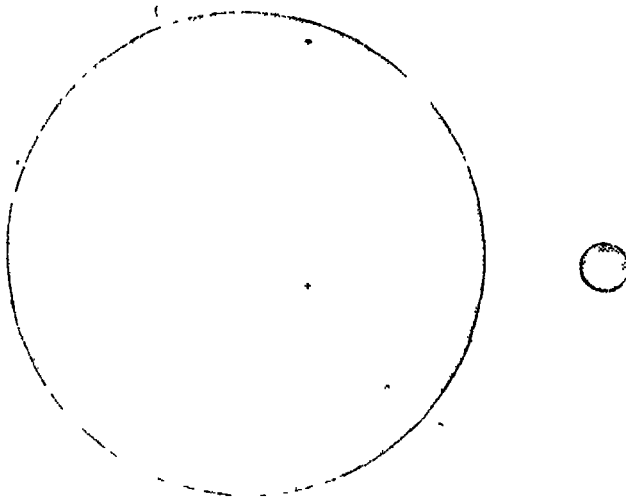
चित्र ४६--बृहस्पति और पृथ्वी की तुलना। पृथ्वी कितनी छोटी है! [सौर-परिवार से

उस की ओर पृथ्वी पर गरमी ज्यादा पड़ती है और जिस से दूर होता है उधर कम। इसी से पृथ्वी पर भिन्न-भिन्न ऋतुएं होती हैं और दिन-रात के परिमाण बदलते रहते हैं। जैसे लट्टू अपने धुरे पर घूमता है तो साथ ही साथ कुछ जरा सा मडलाता भी है, उसी तरह पृथ्वी घूमती हुई मडलाती भी है। पुराने हिंदू ज्योतिषियों ने इस मडलाने का हिसाब लगाया था कि पृथ्वी २६ हज़ार बरसों में मडलाने वाला एक चक्कर लगा लेती है। आजकल के कुछ ज्योतिषियों ने इस काल को २१ हज़ार बरस ठहराया है। इस भेद का कारण यह भी हो सकता है कि मडलाने के वेग में कमी बेशी भी होती रहती है।

सूर्य के चारों ओर पृथ्वी का चक्कर ठीक वृत्त के रूप में नहीं है। वह एक प्रकार का दीर्घवृत्त बनाती है जिस की एक नाभि पर सूर्य को ठीक स्थित समझा जा सकता है। इस तरह से वह कभी सूर्य के पास आती है और कभी दूर चली जाती है। जब सब से पास होती है तो नव करोड़ साढ़े बारह लाख मील होती है और जब सब से दूर होती है तो नव करोड़ पैंतालीस लाख मील होती है। यह हम वर्तमान काल की गणना बताते हैं, क्योंकि बृहस्पति और शुक्र के खिंचाव से अंतर पड़ जा सकता है। दो दो तीन तीन लाख बरसों में ऐसे अंतर पड़ जाते हैं कि सब से दूर और सब से पास की स्थितियों में डेढ़ करोड़ मील तक का अंतर पड़ सकता है। सूर्य की दूरी के घटने बढ़ने से जाड़े और गरमी पर असर नहीं पड़ता। पृथ्वी के धुरे के झुकने से इस तरह का अंतर पड़ता है।

इन तीनों गतियों के कारण पृथ्वी पर की गर्मी में घटबढ़ होता रहता है। वायु-मंडल की गति में भी अंतर पड़ता रहता है। इसी लिये जाड़ा गर्मी बरसात बसंत शरद और

चित्र ४७—पृथ्वी और वरुण (इंद्र) की तुलना। पृथ्वी कितनी छोटी है!
[सौर-परिवार से

शिशिर आदि ऋतुओं के भेद ही नहीं पड़ते बल्कि बिजली और चुम्बकत्व में भी तथा प्रकाश और रसायन की क्रिया में भी बड़ी अनुकूलता आ जाती है। और हम इस भूतल पर बड़ी
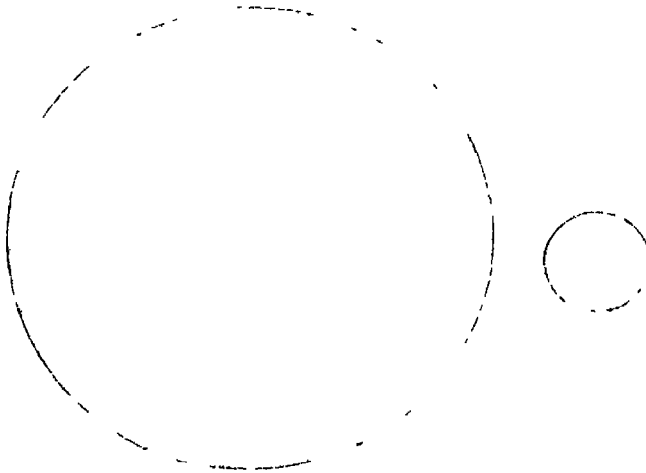
चित्र ४८—वरुण और पृथ्वी की तुलना-वरुण बहुत बड़ा है [सौर-परिवार से

सुहावनी फुलवाड़िया, वन, पर्वत आदि के सुंदर दृश्य देखते हैं। और अनंत प्रकार के प्राणियों का जन्म विकास और मरण होता रहता है। यह बातें और ग्रहों पर नहीं मालूम

होती क्योंकि वर्तमान काल में परिस्थिति की ऐसी अनुकूलता और किसी पिंड पर नहीं दीखती। इस वर्तमान काल इसलिये कहते हैं कि इस ग्रह परिवार में बहुत से ग्रह अभी बचे हैं उन में भविष्य के लिये तैयारियां हो रही हैं और लाखों करोड़ों बरस बाद जब शायद पृथ्वी शांत हो चुकी होगी तब इन आजकल के तप्त पिंडों के ऊपर भी हमारे सरीखे प्राणियों के जीवन के अनुकूल परिस्थितियां बन गयी रहेंगी। किसी समय इन बचे ग्रहों की तरह पृथ्वी को भी आबाद दुनिया बनने की उम्मेदवारी करनी पड़ी होगी।

२—पिंड का आरंभ

वैज्ञानिकों ने इस संबंध में कल्पना के घोड़े बहुत दौड़ाये हैं कि पृथ्वी कैसे बनी और कब बनी, परन्तु आज तक कोई सिद्धान्त ठहराया नहीं जा सका है। इस में तो संदेह नहीं कि किसी समय धरती बिलकुल वायव्य के रूप में थी, जब उस का पिंड सिकुड़ा न था और उस में आंच बहुत प्रचंड थी। उस समय शायद इस का पिंड लग भग उतना बड़ा रहा हो जितना बड़ा आज सूर्य का पिंड है। यद्यपि सूर्य का पदार्थ जितना घना इस समय है उतना घना पृथ्वी का पदार्थ उस समय न होगा बल्कि घनत्व उसी तरह कम रहा होगा जिस तरह आज कल वरुण या शनि का है। इस वायव्य पिंड में बड़ी भयानक आंच रही होगी और इस की परिक्रमा का वेग भी उस समय भयानक रहा होगा। आज कल की पृथ्वी अपने उस समय के आकार से कई लाख गुनी छोटी हो गयी है।

पृथ्वी के आरंभ के संबंध में वैज्ञानिकों का विचार इसी वायव्य के गोले से शुरू होता है परन्तु यह गोला कहां से आया और किस तरह बना, कोई नहीं कह सकता। आकाशमंडल में इसी विश्व में सर्वथा शून्य देश कहीं नहीं है। मरे हुए जगत और नष्ट ब्रह्मांडों के शांत ठंढे और निर्जीव सूर्य जिन में न आंच है न ज्योति है और उन्हीं के वह ग्रह उपग्रह जो बिलकुल बरबाद हो चुके हैं, निरंतर बेठिकाने परन्तु आकर्षण शक्ति के सहारे लगातार घूमते रहते हैं। उल्कापातों और धूम्रकेतुओं के वर्णन में हम इसी तरह के पदार्थों की चर्चा कर चुके हैं। कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि इस तरह के शिथिल और मृत पिंडों के आपस में टकरा जाने से ऐसी भयंकर आंच निकल सकती है जिस से कि दोनों पिंडों से निकले हुए ठोस पत्थर और लोहा गलकर द्रव और द्रव से हवा के रूप में बदल गये और इसी टक्कर का परिणाम एक नया वायव्य पिंड बन गया। यह बहुत संभव है कि उस समय नीहारिका की कुंडली में मौजूद पदार्थ के पिंडों के सब ओर से खिंचाव होने के कारण ऐसा बना हुआ पिंड किसी तरह का चक्कर लगाने लगा हो। इसी प्रकार के मृत पिंडों के संघर्ष से ही सूर्य और उस के और ग्रहों की रचना हो गयी होगी। नीहारिका जब तक कुंडली के आकार में नहीं आयी है, जब तक वह केवल किसी मरे हुए या महाप्रलय के बाद के विश्व के मसाले का बिखरा हुआ क्षेत्र है, तब तक समझना चाहिये कि वह नये विश्व के निर्माण के लिये सामग्री का गोदाम है। जैसे कोई किला या बहुत बड़ा महल तोड़वा दिया जाय और उस की सामग्री इधर उधर बेकार कहीं कम कहीं अधिक गंजी पड़ी हो और आसपास कहीं इमारत बनने के लिये उस का मसाला ढुलवाकर जाने लगे और कोई दूसरा महल बनने
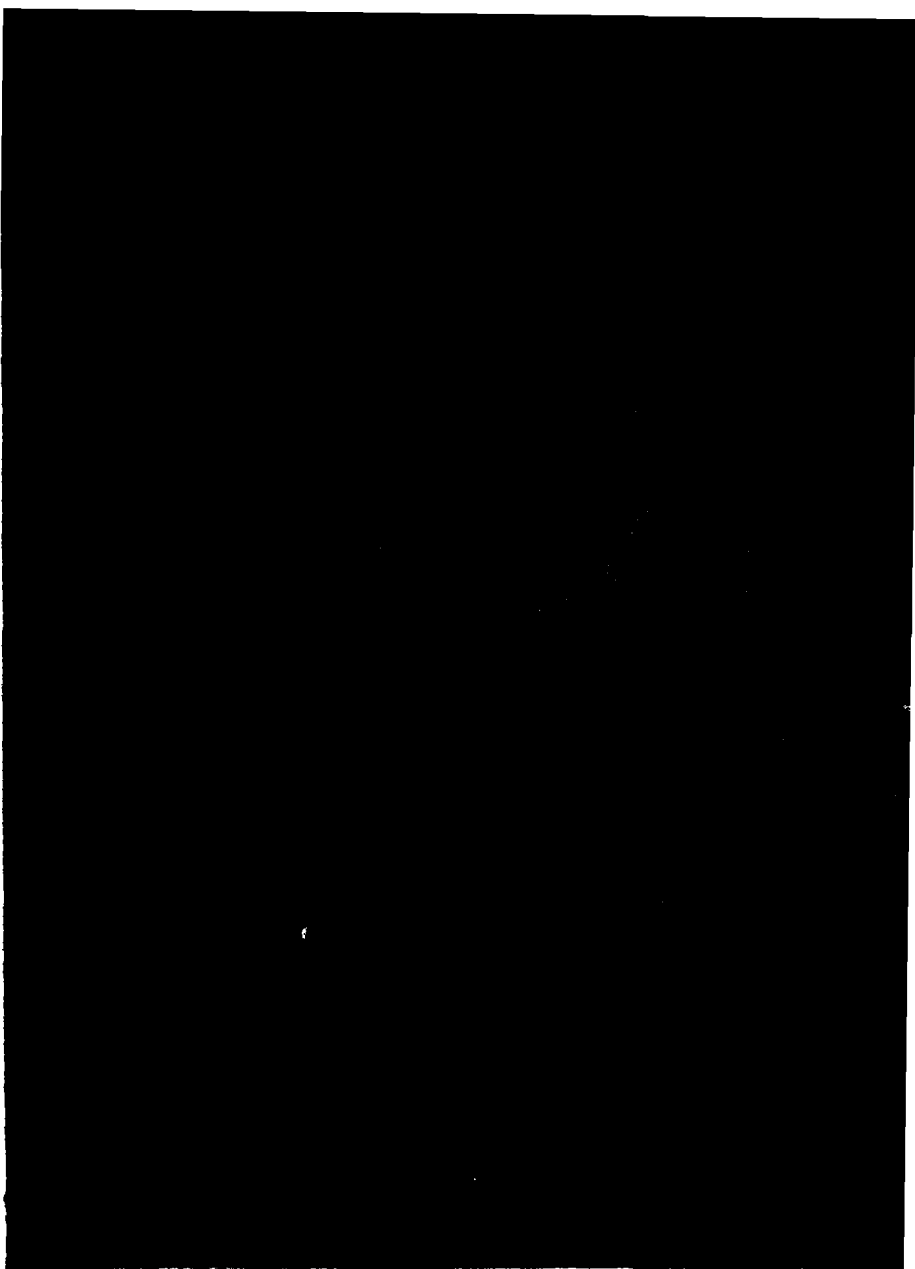
चित्र २७—सूर्य्य का सर्वग्रहण, ८ जून, १९१० ।

कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस की कृपा] [सौर-परिवार से

इस मे कारोना और रक्त ज्वालाएं बड़ी सुन्दर रीति से अंकित हैं । आकाश के हलके बादलों ने की शोभा बढ़ा दी है। चित्रकार श्री बटलर ने ओरीगन अमेरिका में इसे देखा था।

[विज्ञान हस्तामलक पृ० ६७ के सामने]

लग जाय तो देखते ही देखते उस खंडहर के तो पुराने ढूह गायब होने लगेंगे और नयी इमारतें देखने में आने लगेंगी। सूर्य, पृथ्वी और दूसरे ग्रहों का निर्माण कुछ ऐसे ही ढंग पर हुआ होगा। [चित्र २०-२० ग]

इस तरह की घटना हुए कितने बरस हुए होंगे यह कौन कह सकता है ? स्वयं यह घटनाएं जिन में भिन्न भिन्न ग्रहों की उत्पत्ति शामिल है, बहुत सम्भव है कि करोड़ो या अरबों बरस मे हुई हों। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मांड के प्रसव होने होने करोड़ों या अरबों बरस लग गये होंगे।*

---

*पुराणों में सृष्टि की कथा बड़ी विलक्षण है। भगवान के नाभिकमल पर बैठे ब्रह्मा इस विचार में मग्न होते हैं कि मैं कौन हूं कहाँ हूं और किस लिये आया हूं कि इतने में भगवान के कानों के मैल से दो विशाल शरीरवाले दानव उत्पन्न होते हैं। आपुस में लड़ जाते हैं और दोनों मर जाते है। उनके शरीर का मैल उसी क्षीरसमुद्र में जल में बहता है और उसी से मेदिनी बनती है। इस मेदिनी से कुछ काल पीछे मंगल नामक एक ग्रह उस का पुत्र उत्पन्न होता है और बहुत काल पीछे मेदिनी के समुद्र का मंथन होता है और उस में से चंद्रमा निकलते हैं। यह चंद्रमा समुद्र के पुत्र हैं। इस तरह यह पृथ्वी तो आरंभ में मधुकैटभ के मेद से बनी और इसके पिंड से मंगल और चंद्रमा धीरे धीरे अलग हो गये। ब्रह्मा ने पृथ्वी की रचना नहीं की। उन्होंने मरीचि और भृगु नाम मानसिक पुत्र उत्पन्न किये। मरीचि के पुत्र कश्यप ने सूर्य को उत्पन्न किया। मरीचि के बृहस्पति नाम का पुत्र भी उत्पन्न हुआ। और भृगु के शुक्र नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। सूर्य के शनि नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। बृहस्पति की पत्नी तारा के औरस से चंद्रमा ने बुध को उत्पन्न किया। इस तरह ग्रहों के परिवार की उत्पत्ति बतायी गयी है। हम पहिले भी क्षीरसागर में नारायण के शयन करने और कमल और ब्रह्मा की उत्पत्ति की बात टिप्पणी में दे चुके हैं। क्षीरसमुद्र शायद दूध सरीखा चमकनेवाला वह पदार्थ है जो नीहारिकाओं और आकाशगंगाओं में देख पड़ता है। इस तेजोमय पदार्थ का नाम नारा है। शेषनाग की कुंडली अनंत देश में पसरी हुई नीहारिकाओं की कुंडली है जिस पर भगवान शयन करते हैं।

सोना अकर्मण्य अवस्था बताता है। नारायण की नाभि से कमल उत्पन्न होता है जिस के दल चारों ओर फैले हुए हैं। केंद्र से नीहारिका के भीतर बड़े वेग की गति आरंभ होकर सब दिशाओं में छिटकती है। कान के मैल से दो दैत्यों का निकलना अनंत देश की या आकाश की किसी गुहा से दो मरे हुए पिंडों का निकल कर टकर खाना है और उन के मेद से अर्थात् टक्कर की प्रचंड आंच से पिघले हुए पदार्थ से मेदिनी बन जाती है। मेदिनी से ही लगभग उस के बराबर का टुकड़ा टूटकर मंगल उस का पुत्र उत्पन्न होता है। बहुत काल पीछे समुद्र के मंथन मे चंद्रमा उत्पन्न होता है अर्थात् पृथ्वी का एक टुकड़ा निकलकर अलग हो जाता है। इसी तरह यदि हम पुराणों में

इस बात में सभी वैज्ञानिकों का अनुमान एक सा है कि इस दुनियां की सृष्टि के आरंभ में हमारी पृथ्वी का पिंड वर्तमान काल के हमारे सूर्य के पिंड सरीखा अत्यंत विशाल धधकता गोला रहा होगा और उस में बड़ी उत्तम दशा में पत्थर और धातुएं भी वायु रूप में रही होंगी। ज्यों ज्यों अनंत देश में उस समय आंच बिखरती जाती थी त्यों त्यों पिंड सिकुड़ता और घना होता जाता था। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि एक अरब बरस से अधिक हुए होंगे कि पृथ्वी से एक भाग कट के निकलकर चंद्रमा बन गया।*

उस समय पृथ्वी गले पदार्थों की, नासपाती की शकल की, धधकती हुई एक विशाल काय चीज़ थी जो इस से पहिले बन चुके सूर्य के पिंड के चारों ओर भयानक वेग से घूम रही थी। एकाएकी सूर्य के भयानक खिंचाव से नासपाती का नुकीला हिस्सा इस महापिंड से टूटकर अलग हो गया और धरती में कोई २७ मील गहरा गड्ढा हो गया जिस के भीतर आज महासागर लहरा रहा है। उस समय तो जल का कहीं नाम न था। उस की जगह गली हुई धातुओं और पत्थरों का ही तरल द्रव था और उसी की भाप के धधकते हुए बादल थे। पृथ्वी भयानक वेग से चक्कर मारती थी। दो दो चार चार घंटों के दिन रात होते थे। इस लिये टूटते हुए चंद्रमा को भी वही वेग मिला। वह भी दिन रात में छः छः बार पृथ्वी की प्रदक्षिणा करने लगा। उस समय चंद्रमा देखने में बहुत बड़ा सा दीखता होगा क्योंकि पृथ्वी से केवल दस हजार मील की दूरी पर था। यदि उस समय मनुष्य होते तो वह चंद्रमा पर की ज्वालामुखियों की धधकती शिखाओं को देख सकते। आज हम को चंद्रमा के एक ही ओर का भाग देख पड़ता है परंतु उस समय चंद्रमा का दूसरा भाग भी दिखाई पड़ता था। चंद्रमा के पास रहने से उस समय अग्नि के समुद्र का ज्वारभाटा अत्यंत ऊंचा होगा। सर राबर्ट बाल ने हिसाब लगाया है कि ६०० फुट से ज्यादा ऊंची लहरें उठती होंगी। अब तो चंद्रमा २ लाख ३८ हजार मील दूर है।

बनावी सृष्टि का अनुमान करें तो पुराणों की कथा बहुत जगह विज्ञानियों के अनुमान से मेल खा जायगी। अनुमान कितना ही साधारण हो फिर भी अनुमान ही है। पुराणों के रूपकों में भी इसी तरह सृष्टि की सभी घटनाओं का अनुवाद हो सकता है।

* हिंदुओं की कल्पना है कि वर्तमान ब्रह्मांड के तैयार हुए कम से कम दो अरब बरस ज़रूर गुज़र गये हैं और चंद्रमा आदि पिंडों के निर्माण में जो कल्प के उदय के काल में बहुत पहले ही हुआ होगा अवश्य ही बहुत काल लगा होगा। प्रोफेसर रेले के अनुसार तो इस भूतल पर जीवन का उदय हुए एक अरब बरस के लगभग हो गये और चंद्रमा के अलग हुए या और पिंडों के बने तो कई अरब बरस हो चुके हैं। हिंदुओं के अनुसार सृष्टि के हुए आधे कल्प के लगभग हुए। क्योंकि वर्तमान काल सातवें मन्वंतर का अट्ठाईसवां कलियुग है। यह कुछ कम दो अरब बरस होता है, जो रेले के अनुमान के निकटतम है।

उसके ज्वालामुखी पर्वत बुझ गये हैं। फुरसत से चलता है। ज्वारभाटा बहुत साधारण उठाता है।*

४—जलस्थल का आरंभ

जब पृथ्वी इतनी ठंडी हो गयी कि उस के ऊपरी तल पर केवल १२०० दर्जे की आंच रही तो उस के ऊपर ठोस चिप्पड़ बनने लगे और जब आंच घटते घटते ३७० दर्जे तक पहुँची तो भयानक दबाव के कारण उस समय के वायुमंडल से जल की भाप कुछ कुछ धनी होने लगी और पानी बनने लगा। यह भी बड़े भयानक दिन थे। सारी धरती गली हुई धातुओं का एक महा भीषण कड़ाहा था जिस की धधकती हुई आंच आकाश मे बहुत ऊंचे तक पहुँचती थी। जगह जगह बिजली कौंद रही थी। बादल कड़क रहे थे। धरती कांप रही थी।† ज्वालामुखी उबले पड़ते थे। ज्यों ज्यों आंच घटती जाती थी त्यों त्यों धातुओं के बादल द्रव बनकर बरसने लगते थे। धरती आधे गले हुए पत्थरों और चट्टानों की बनी हुई थी और उसी दहकती हुई आंच के ऊपर पिघली हुई धातुओं और पत्थरों की मूसलाधार अग्निवर्षा होती थी। जब आंच कुछ और घटी तब आजकल हम जिसे पानी कहते हैं उस की बूंदें धरती पर गिरनी शुरू हुई, परंतु ज्यों ही गिरती थीं त्यों ही भाप बनकर उसी तरह उड़ जाती थीं जैसे आज भी लाल तपते हुए तवे पर पानी की बूंदें गिरती हैं और उड़ जाती हैं। धीरे धीरे धरती की आंच और भी घटी और किसी जगह जहां गलते हुए चट्टानों ने बहुत ही विस्तीर्ण गड्ढा कर दिया था वहां शतांश के १२५ और १५० दर्जों पर भयानक रीति से खौलते हुए जल का पहिला विशाल समुद्र बना। इतनी भारी आंच पर भी जल द्रव के रूप में बना रहा। उस का कारण यही है कि उस समय का वायुमंडल ऐसा घना था और उस का दबाव ऐसा भयानक था कि सौ दर्जे के बदले १५० से लेकर २०० दर्जे पर पानी उबलता था। यह समुद्र धीरे धीरे घटती हुई आंच के साथ बढ़ता गया और बढ़ते बढ़ते सारी धरती में फैल गया और पृथ्वी के समस्त ऊपरी तल को उस ने ढक लिया। इस समय जल अत्यंत उत्तप्त अवस्था में था। हर जगह पर लगातार उबल रहा था और मेघ धरती पर निरंतर छाये रहते थे, और बराबर बरसते रहते थे। लाखों बरस तक इसी तरह जल के उबलने और बरसते रहने से आंच धीरे धीरे घटती गयी। धरती के ऊपर अत्यंत उत्तप्त अवस्था में रहनेवाले सभी पदार्थों के ऊपर अत्यंत गरम जल जो ढके हुए

---

* यदि खौलते अरमद्रव से पृथ्वी के एक खंड का निकल कर अलग होना ही समुद्र के मथन से चंद्रमा का निकलना कहा समझा जाय तो चंद्रमा की पौराणिक उत्पत्ति यथार्थ मानी जा सकती है।

† ज़मीनज़ सपोलर्ज़ः आमद सितोह। फ़रोकोफ़्त बर दामनश मेख़े कोह। (बोस्तां-सादी)। ताप और कंपन से धरती घबड़ा गयी, तो (ईश्वर ने) उस के अंचल में पहाड़ का खूंटा ठोक दिया (कि वह स्थिर रहे)।

था बराबर अपने मे सैकड़ों चीजें घुलाता जाता था। पदार्थों में हजारों तरह के फेर बदल कराता जाता था और इस तरह अनेक जगह धरती सुकड़कर नीची होती जाती थी और बहुत जगह धरती बढ़कर ऊंची भी होती जाती थी। अनत देश मे धरती की आच बड़ी तेज़ी से बिखरती जाती थी, परतु साथ ही सुकड़ने के कारण प्रचंड आंच धरती के तल पर बढ़ती जाती थी। यह क्रिया आज तक जारी है, परतु दोनों क्रियाएं आज परिमाणतः बहुत घटी हुई हैं। उस समय दोनों क्रियाएं अत्यंत उग्र थी।

इस तरह आंच घटती जा रही थी, परंतु बहुत धीरे-धीरे। बहुत काल पीछे धीरे-धीरे जल के ऊपर थल भी दिखाई पड़ने लगा। इस समय बड़ी भयानक आंधियों और तूफानो का कुछ ठिकाना न था। जैसे बादल लगातार छाये रहते थे और बरसते रहते थे वैसे ही आंधी और तूफान लगातार धरती पर स्वच्छंद विचरते थे।

जिस समय धरती से चद्रमा अलग नहीं हुआ था उस समय इस के विचित्र वायु मंडल का दबाव ६० ७० मन प्रति वर्ग इंच रहा होगा। ज्यों ज्यों आंच घटती गयी त्यों त्यों दबाव भी घटता गया। यही दबाव घटते घटते आज ७॥ सेर प्रति वर्ग इंच रह गया। उस समय की आंच जो दो हज़ार दर्जों से कम न रही होगी घटते घटते आज औसत ७० दर्जे की हो गयी है। जिन दिनों पृथ्वी अश्मद्रव से ढकी हुई थी उन दिनो लगातार बादल छाये हुए रहते थे, इसी से सूर्य का दर्शन दुर्लभ था। जल के बन जाने पर भी यही दशा बनी रही।

धीरे-धीरे भूकंप ज्वालामुखी और लगातार की वर्षा घटी और सूखी भूमि कड़ी पड़ने लगी और नयी गीली भूमि निकलने लगी। बार-बार के सुकड़ने से और ऊपर के तल के अनेक पदार्थों के न घुल सकने से ऊंचे और कड़े चट्टान पैदा हो गये। उस समय यह नहीं जाना जा सकता था कि यह उबलते हुए जल के छिछले तालो मे ढकी धरती और ऊबड़-खाबड़ चट्टानें जो इधर उधर निकली हुई हैं, इन मे ही बड़े बड़े गहरे महासागर और ऊंचे ऊंचे पहाड़ों की चोटियां बन जायगी। यह सब चीज़े बनीं परन्तु बहुत धीरे धीरे बनीं और करोड़ों बरसों के समय में बनीं।

धरती बराबर सुकड़ती गयी। पहिले तो दूध पर की मलाई की तरह धरती की तह पर एक चिप्पड़ जमा। फिर वही धीरे-धीरे मोटा होता गया। उस के भीतर दहकती हुई आग पिघली हुई चट्टानें और बिलकुल गर्भ के भीतर को अत्यंत घनी और उत्तम लोहे की वायु भरी हुई रह गयीं, जिस मे कि निरंतर महाभयानक तूफान उठते रहते हैं, जिन से आज भी धरती का ऊपरी चिप्पड़ कहीं-कहीं और कभी कभी कांप जाया करता है और कहीं कहीं ज्वालामुखी के रूप में फूट पड़ा करता है।

सूखी धरती धीरे-धीरे बढ़ने लगी। ऊंचे-ऊंचे चट्टानों पर वर्षा होने से जल की धारा बड़े वेग से नीचे की ओर बहती थी और उसी के साथ-साथ चट्टानें कट कट कर बालू और मिट्टी बहती हुई चट्टान के नीचे समुद्र में पहुंच जाती थी। भूगर्भ विद्या के खोजियों ने सोलह हजार फीट की ऊँचाई पर हिमालय की पर्वत-माला में, घोंघे, शंख और सीपियों का पता लगाया है। इस से सिद्ध होता है कि किसी युग में धरती का वह भाग

चित्र २१—मंगल

छोटा सा सफ़ेद भाग बर्फ़ से ढका दक्षिणी ध्रुव-प्रदेश है। कुछ ज्योतिषियों का अनुमान है कि नहरों द्वारा यहां के बरफ़ का पानी और भागों में जाता है।

[विज्ञान हस्तामलक पृ० ७१ के सामने] [सौर-परिवार से

समुद्र के नीचे था। उस समय नदियों का बहाव शायद ठीक उसी दिशा में न होगा जिस में आज है। उन की संख्या भी कम रही होगी।

५—धरातल का विकास

धरातल का विकास बहुत धीरे-धीरे और अत्यन्त सुदीर्घ काल में हुआ है। विज्ञानियों का अनुमान है कि पृथ्वी पर एशिया वा जम्बूद्वीप ही सब से प्राचीन महाद्वीप है जिस पर जीवन की सृष्टि आरंभ हुई। जिसे पौराणिक पाताल कहते आये हैं और जो एशिया या जम्बूद्वीप के ठीक दूसरी ओर इसी धरती के गोले पर का स्थल है, जो आज अमेरिकन महाद्वीपों के नाम से प्रसिद्ध है, जम्बूद्वीप की ही तरह आदि युग से ही परिवर्त्तन शील रहा होगा, परन्तु उस के संबंध में प्रागैतिहासिक काल की बातें बहुत कम मालूम हो पायी हैं।

धरातल का परिवर्त्तन तो वास्तव में निरन्तर होता रहता है। सृष्टिकाल से लेकर आज तक परिवर्त्तन होता आया है और होता रहेगा। परन्तु यह इतने धीरे-धीरे होता रहता है कि लाखों बरस लग जाते हैं और मनुष्य इतने बृहत्काल के इतिहास को भूल जाता है। अनेक जातियों का उत्थान विकास और पतन देखनेवाला तो उन से भी अधिक आयु का होना चाहिये। फिर भी चट्टानों पर प्रकृति की कलम से अंकित कथा हमें कुछ पता बताती है और प्राचीन जातियों के पुराणों से उन का समर्थन भी होता है।

जब धरती इतनी दृढ़ हो गयी कि समूचा गोला एक साथ अपनी धुरी पर पच्छिम से पूरब की ओर, या घड़ी की सुई की उलटी दिशा में, घूमने लगा, उस समय यद्यपि उस का पूरा घूर्णन लगभग चौबीस घंटे का होने लगा था। तो भी उस की मडलानेवाली गति के कारण सभी देशों और कालों में दिन रात सदैव एक ही मान के नहीं हो सकते थे। लट्टू जिस तरह मडलाता है उसी तरह यह धरती भी मडलाती है। इस मडलाने की क्रिया इतनी सूक्ष्म है कि इस का चक्कर आजकल की गति के हिसाब से छब्बीस हजार बरसों में पूरा होना चाहिये। इतने दीर्घकाल का इतिहास भी मानव जाति के पास कहां है और यह पता कैसे लगे कि इस मडलाने से इस भूतल पर क्या क्या परिवर्त्तन हुए? सौभाग्य से भूतल पर के चिह्न, पत्थर पर के अंकन और वैदिक और पौराणिक साहित्य इन का पता देते हैं।

वैज्ञानिकों का अनुमान है कि अब से आठ दस लाख बरस पहले जम्बूद्वीप में अफ्रिका, अरब, शाम पूर्व दक्खिनी युरोप का अंश तुर्किस्तान, तिब्बत, चीन, भारतीय द्वीप समूह बरमा आदि सभी देश एक में मिले हुए महाद्वीप थे। [देखो मानचित्र सं० ४६] इस समय भारत के उत्तर में समुद्र नहीं था। किंतु बहुत दूरी पर अक्षांश ५५ तक धरती थी। उस के उत्तर में ध्रुव तक समुद्र था। ज्यौतिष की गणना से पता लगता है कि उस काल में सूर्य की परमक्रान्ति ८० अंश से अधिक होगी और इसी कारण सारे भूतल पर छः महीने की रात और छः महीने का दिन होता होगा। आज कल का मंगोलिया, सैबेरिया, मन्चूरिया युरोप आदि देश महासागर की तली में थे।

इस काल के बाद छः लाख बरस का धरती का नकशा बदला हुआ था। भारतवर्ष के उत्तर में हिमालय प्रदेश उत्तरी महासागर का तट था। मंगोलिया का उत्तरी अचल और सैबेरिया का दक्षिणी भाग उभरकर स्थल बन गया था। पूरा तिब्बत और चीन का अधिकांश सागर के अंदर था। मंचूरिया उभर ही रहा था। इस समय भारत में जो नदियां
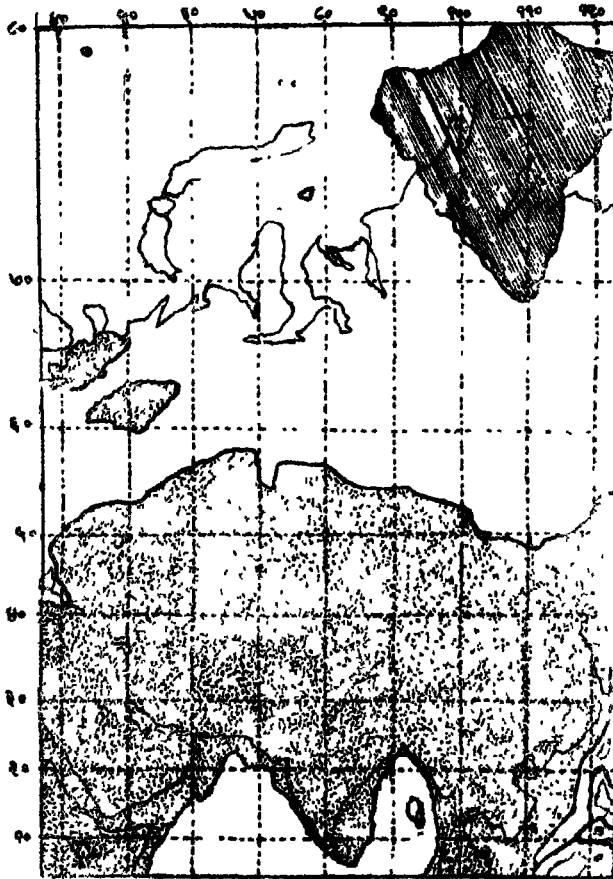
चित्र ४८—जंबू द्वीप, दस लाख से आठ लाख वर्ष पूर्व तक

ग्रंथकार की कृपा] [वेद काल-निर्णय से

हिमालय से निकलकर दक्षिणी समुद्रों में गिरती हैं वे शायद उस समय उत्तर समुद्र में गिरती होंगी। यह हिमप्रलय के पहले की अवस्था है। इस काल में जम्बूद्वीप में अहोरात्र का मान २४ घंटा के लगभग का रहा होगा। परंतु उत्तरी प्रदेशों में छः—छः मास का अहोरात्र होता होगा। इस काल का आनुमानिक मान चित्र सं० ४६ में दिखाया गया है।

हिमप्रलय से पहले हिमालय पर्वत कम ऊँचा रहा होगा। यह उत्तरगिरि कहलाता होगा और इस के उत्तर में समुद्र होगा। इसका प्रमाण ब्राह्मण ग्रन्थों में भी मिलता है।
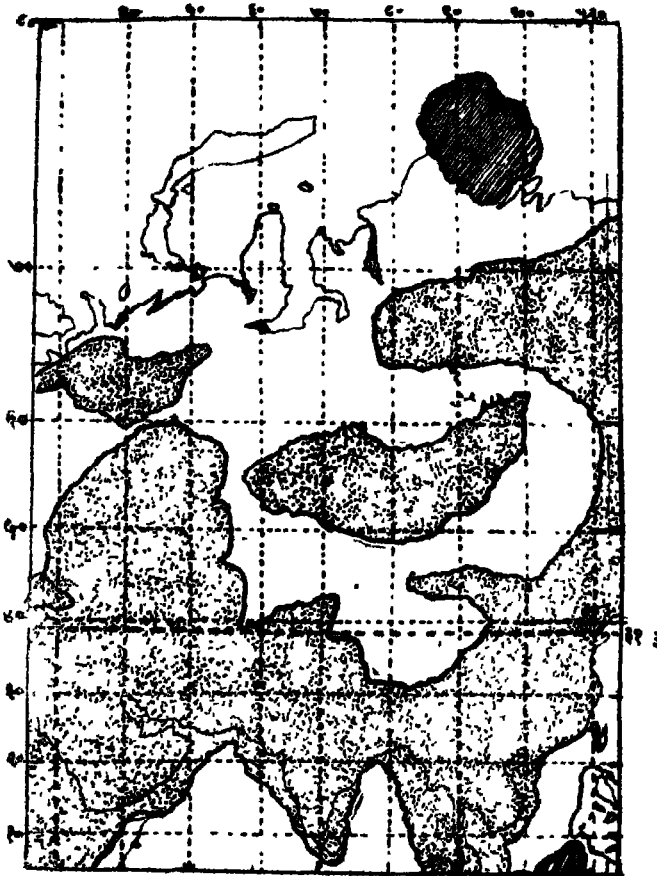
चित्र १०—जंबू द्वीप आठ लाख से दो लाख वर्ष पहले तक

ग्रंथकार की कृपा] [वेद-काल-निर्णय से

अब में अस्सी हजार से लेकर दो लाख बरस पहले तक जैसे जैसे हिमालय के उत्तर का समुद्र सूखता गया वैसे ही वैसे उस पर बरफ गिरती गयी। यह भूमण्डल कुछ ऐसी स्थिति में पहुँचा कि सारा उत्तर गिरि बरफ से ढक गया। इसी समय इसी उत्तर गिरि का उभार भी हुआ होगा जिस में इस की ऊँचाई बढ़ गयी होगी और तिब्बत का प्रदेश ऊँचा उठकर समुद्र के ऊपर हो गया होगा। उसके भी उत्तर की ओर समुद्र का अंश बड़े लम्बे चौड़े सरोवर की तरह रह गया होगा जिस की जगह आज गोबी का बालुका

समुद्र है। इसी बालुका समुद्र का वर्णन महाभारत में आया है, जिससे पता चलता है कि बीस हजार बरस पहले यह महा सरोवर भी सूख चुका था।
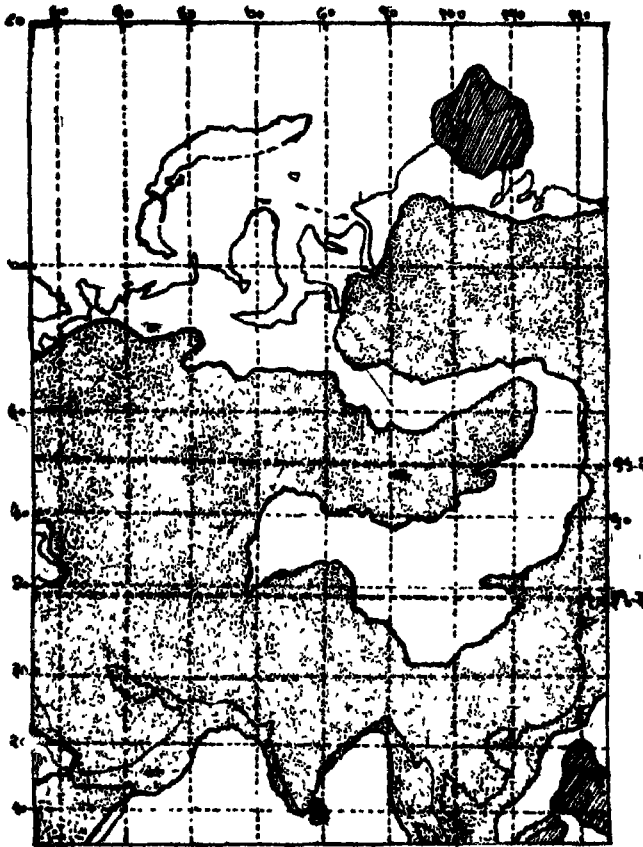
ये परिवर्त्तन नक्शा ४९ और ५० में दिखाये गये हैं।

चित्र २१-जंबू द्वीप दो लाख से अस्सी हजार बरस पहले तक

ग्रंथकार की कृपा] [वेद-काल-निर्णय से

अब से पचीस हजार बरसों से लेकर अस्सी हजार बरसों तक का समय अंतिम हिमप्रलय के बाद का है जब कि अन्तिम मत्स्यावतार का समय पुराणों में बतलाया जाता है। अस्सी हजार बरस पहले के समय में धरती में घोर परिवर्त्तन हुए होंगे। हिमालय उभर कर आजकल की सी ऊंचाई का हो गया होगा। उस के दक्षिण का मैदान धँसकर नीचे

चला गया होगा। राजस्थानवाली धरती भी नीचे चली गयी होगी। सारा भारत जलमय हो गया होगा। संसार का पूरा नक्शा बदल गया होगा। भारत में सरहिंद के आस-पास की धरती उभर कर ऊँची हो गयी होगी। जब जलप्लावन और हिमप्रलय बीतने पर आया तब
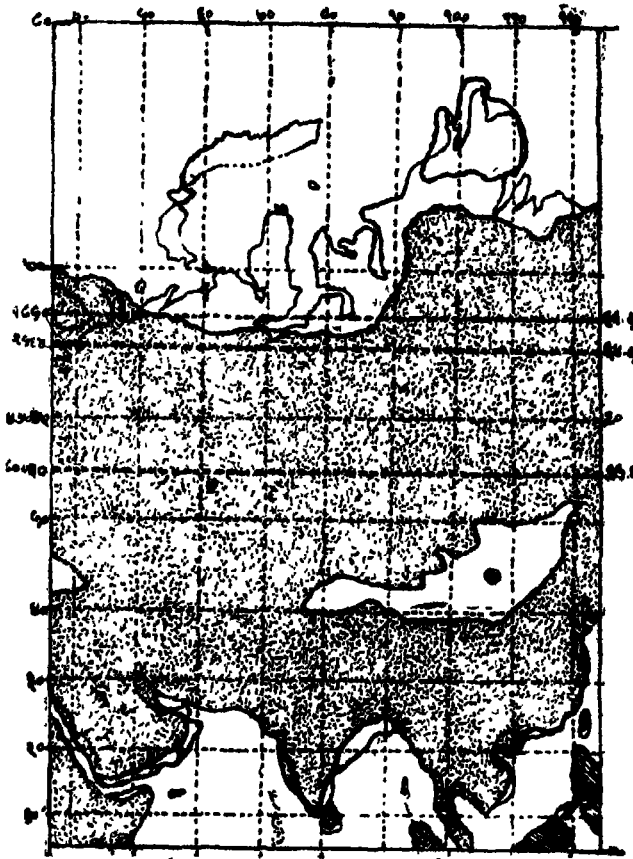
चित्र २२—जंबूद्वीप अस्सी हजार से ६।। हजार बरस पहले तक

ग्रंथकार की कृपा] [वेद-काल-निर्णय से

भी हिमालय के दक्षिण का मैदान जल से भरा था और गंगा जी कहीं हरद्वार से नीचे ही समुद्र में मिलती थीं। मथुरा, अयोध्या, प्रयाग, काशी आदि तीर्थ समुद्र के गर्भ में थे। आज से सत्तर हजार बरस पहले यह समुद्र भी प्रायः बालू से भर गया होगा। गंगा जमुना आदि नदियां फिर से अपने पुराने बहाव के क्षेत्रों में बहने लगी होंगी। उधर राजस्थान

जिस प्रदेश में है वहां विशाल झील होगा जो धीरे धीरे सूख रहा होगा। सरस्वती और दृषद्वती नदिया उसी में जाकर गिरती होंगी। हिमप्रलय से पहले यह सरस्वती-प्रयाग में गंगा जमुना से मिलती होंगी, परन्तु बाद को मरुद्दिवाले प्रदेश के उभार से इस का रुख बदल कर पश्चिम-दक्षिण-गामी हो गया होगा। यही सरस्वती कोई दो-तीन हजार बरस में उस बड़े सरोवर के साथ ही साथ सूखती गयी होगी। हमारा अनुमान है कि अब से ६०,००० बरस पहले सरस्वती-दृषद्वती का लोप हो गया होगा और राजस्थान का बालुका क्षेत्र बन कर साम्भर नाम का एक विशाल सरोवर बन गया होगा। उस समय ही हिमालय के दक्षिण का मैदान नदियों से लाये हुए रेत से पटकर मैदान हो चुका होगा। संयुक्त प्रान्त और बिहार का प्रदेश नये सिरे से वनमय हो गया होगा। पुराणों से पता लगा कर अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, प्रयाग, गया आदि तीर्थ फिर से बसे होंगे। बहुत सम्भव है कि आज जिस भूखंड पर यह बसे हैं ठीक ठीक वे ही भूखण्ड न हों जिन पर वे पहले बसे थे। बंगाल का पूर्व दक्षिण भाग तो महाभारत-काल में भी सूखा स्थल न था जिस को कि सब से नयी खोज आज से २१,००० बरस पहले ठहराती है जो लगभग दो मानव चतुर्युगियों से कुछ ही कम समय होता है।

भूविज्ञानियों का अनुमान है कि दो महाद्वीपों को अलगानेवाली पर्वतमालाएं इस प्रकार बनी हैं। पहले दो महाद्वीपों के बीच बहुत बड़ा भूभाग गहरा सपाट हो जाता है। सैकड़ों, हजारों मील की लंबाई चौड़ाई में यह खड्ड बनता है जैसा कि चित्र ५३ में दिखाया गया है।

चित्र ५३—दो महाद्वीपों के बीच की गहराई

इस समुद्र में नदियां गिरती हैं और पत्थर बालू आदि ला लाकर इस गहराई को पाटती चलती हैं। इस में लाखों बरस लग जाते हैं। फिर धीरे धीरे पानी के दबाव से यह कड़ी चट्टानें बन जाती हैं और परतीली हो जाती हैं। ये परत बड़े कड़े और ऊंचे ऊंचे लहरीले आकार के बन जाते हैं।

काल पाकर ये परतीली चट्टानें शिखर के पास अधिक नोकदार और तेज ढलवां हो जाती हैं और ऊपर को अधिक उभर आती हैं, ऊंची हो जाती हैं।

फिर धीरे धीरे काल पाकर ये परत टूट-टूटकर शिखरों में गोलाई आ जाती है और ऊंचाई में कुछ कमी आ जाती है। फिर इसी दशा से धीरे-धीरे उभाड़ होता है और ऊंचाई

फिर बढ़ती है। इस क्रिया से जो पहले गहरा समुद्र था अब ऊँचा पहाड़ बन जाता है। परन्तु फिर भी उस का उभरना जारी रहता है। धरती के भीतर का बड़वानल उसे उभारता रहता है जिस से बारबार भूचाल आता रहता है।

चित्र ५४-बालूपत्थर आदि से पट रही है

यह तो पहाड़ों की वृद्धि की क्रिया हुई। ह्रास भी बराबर जारी रहता है। हवा पानी से रासायनिक परिवर्तन होकर पत्थर घुलता रहता है, पानी जमकर उसे तोड़ता रहता है, हिमसरिता अपने किनारों को तोड़कर बहाती रहती है।

चित्र ५५-कड़े परतोंवाली चट्टानें बन रही हैं

पर्वतों के बनने का यह एक ही क्रम नहीं है। ज्वालामुखी में धरती की सामग्री सिमटकर इकट्ठी हो जाती है। पहाड़ इस तरह भी बनते हैं। धरती के उभाड़ से भी पहाड़ बन जाते हैं। चित्र ५८ में कई तरह के पहाड़ों के नमूने दिखाये गये हैं।

चित्र ५६-चट्टानों का अधिक उभार

कुछ भूविज्ञानियों का अनुमान है कि भारत में जो नदियां आज हिमालय से उतर कर पूरब और पच्छिम की ओर बहकर सागर में जा गिरती हैं वे पहले हिमालय से उत्तर

की ओर पच्छिम पूरब दिशाओं में बहकर उत्तर समुद्र में गिरती थीं। जब उधर धरती उभरी और समुद्र ने बदलकर ऊंचे मैदान का रूप धारण किया तो नदियों का रुख भी उलट गया। गंगा-जमुना आदि उलटकर अब दक्खिन की ओर चली आयीं। हमारे मत

चित्र ५७ शिखर गोलहोकर मिल रहे हैं

में ये वैज्ञानिक उलटी गंगा बहाते हैं। गंगा जमुना आदि नदियों के उलटे बहने की आवश्यकता नहीं है। हिमालय के दक्षिण में गहरे समुद्र होने के प्रमाणों से और वैदिक प्राक्पुराणीय प्रमाणों से उनके अनुमान निराधार ठहरते हैं। हां, ब्रह्मपुत्र महानद का उलट
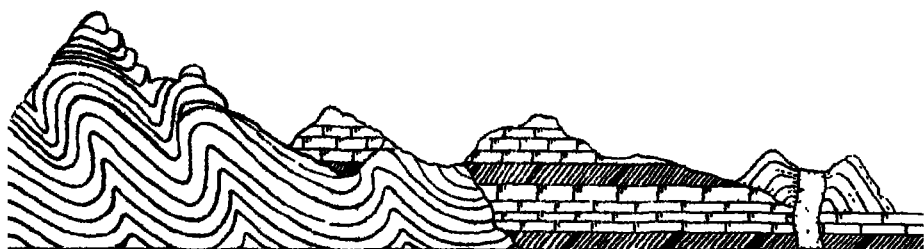
चित्र ५८-कई प्रकार के पहाड़ों के नमूने। बायीं ओर से पहले परतीले पहाड़ हैं। इसके धँसने से नये पटतल बने। फिर उभार होने से ऊंचा पठार जिसके विभक्त होने से भी पहाड़ बने। फिर परतीले पहाड़ दाहिनी ओर दिखाई देते हैं जो कभी असमम नहीं हुए। अंत में दाहिने किनारे पर ज्वालामुखी से बना हुआ पहाड़ दिखाया गया है।

कर इधर बहने लग जाना ज़रूर संभव है। इसी तरह हिमालय का नया पर्वत होना भी निराधार सिद्ध होता है। यों तो सभी पर्वतों के बनने का इतिहास अलग-अलग है, परन्तु किसी भूखंड का उभरने और धँसने की क्रिया का कोई निश्चित क्रम नहीं है, और न काल का ठीक अनुमान किया जा सकता है। अटकलपच्चू जो अनुमान किये जाते हैं, उन का भरोसा हम नहीं कर सकते।

हमारा यह भी अनुमान है कि अंतिम हिमप्रलय के लगभग भूतल में जो-जो परिवर्तन हुए होंगे वे परिवर्तन पहले पहल नहीं हुए होंगे। ऐसे अनेक परिवर्तन पूर्व महा-युगों में अनेक बार हो चुके होंगे। पृथ्वी धँसी होगी और उभरी भी होगी। सृष्टि और प्रलय का इतिहास बारबार दोहराया जाता है। इसी लिये हमारा अनुमान है कि इस विशाल भारतवर्ष देश में सृष्टि के आदि युग में किसी समय सरहिंद और सहारनपुर से लेकर कलकत्ते तक की उपजाऊ धरती समुद्र के भीतर थी। एक ओर से हिमालय और
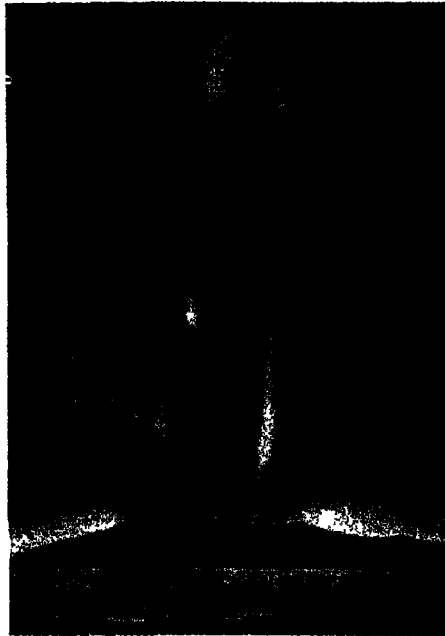
चित्र २१ क—उत्तरीय विद्युज्ज्योति जो सुमेरु खंड की लंबी रातों में उजाला रखती है।

रायल सोसैटी] [सौर परिवार से

दूसरी ओर से विन्ध्यगिरि समुद्र के दो किनारे थे। सारा संयुक्त प्रांत उस युग में भी समुद्र के भीतर था। इस महाविशाल गड्ढे को भरने का काम गंगा-जमुना आदि महानदियों ने तब भी किया होगा। नदियाँ ही आज भी बंगाल की खाड़ी के उत्तरी किनारे के सुंदर-बन की जमीन को बढ़ाती जाती हैं और जल से निकाल कर थल रचती जाती हैं। सचमुच नदियों ने ही इस संसार को बसाया है और रहने के योग्य बनाया है। जिस समय नदियाँ आजकल की मिट्टीवाली धरती बना रही

थीं उसी समय तिब्बत से उत्तर में रहनेवाले बालुका समुद्र या गोबी का मरुस्थल भारत के राजस्थान और अरबस्थान के मरुस्थल और अफ्रीका का सहारावाला महामरुस्थल स्थल से चारों ओर घिरा हुआ समुद्र रह गया था जो लाखों बरस में धीरे-धीरे सूख कर बालुका समुद्र बन गया है। संसार के बहुत बड़े-बड़े समुद्र इसी तरह से घिरे हुए जलाशय हैं जो
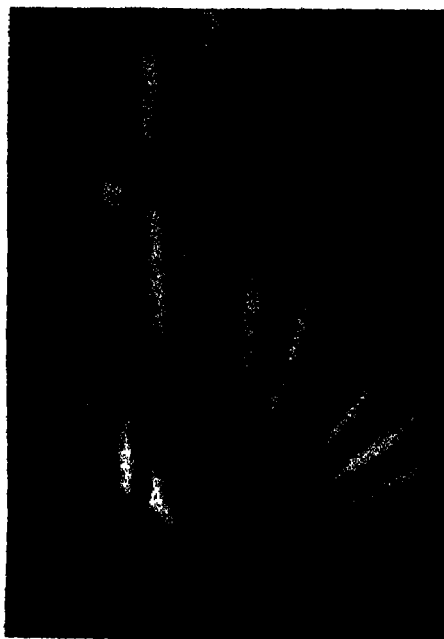
चित्र २६ ख—उसी विद्युज्ज्योति का दूसरा रूप।
रायल सोसैटी]　　रूप क्षण-क्षण बदलता रहता है।　　[सौर-परिवार से

सिकुड़ते सिकुड़ते आज झील का कम रुतबेवाला नाम पाये हुए हैं। जिस तरह आज समुद्र का जल भाफ बनकर आकाश की मेघमाला का पोषण करता है और मेघमाला बरसकर नदियों का पोषण करती है, और नदियां फिर समुद्र का पोषण करती हैं, ठीक यही क्रम कई लाख बरसों से धरती की रचना में सहायक हो रहा है।

६—पृथ्वी के भीतर भूगर्भ विज्ञान

ऊपर के पिण्ड के निर्माण की क्रिया तो हम ने देखी पर हम पिण्ड के भीतर का भी हाल जानने की कोशिश करनी चाहिये।

फ्रांस के प्रसिद्ध ज्योतिषी महाशय फ्लामारियां ने भूगर्भ की वास्तविक अवस्था जानने के लिये पांच मील गहरा और साढ़े तीन सौ गज के व्यास का एक छेद धरती में

धरती के चिप्पड़ की खड़ी काट
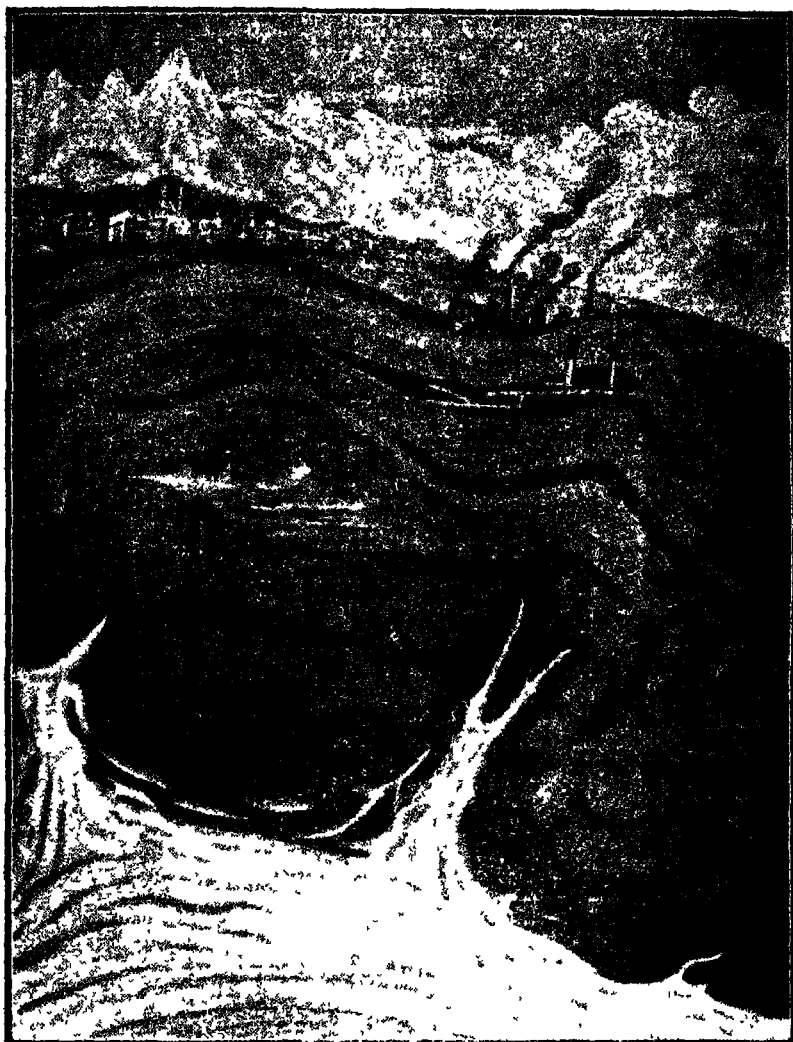
चित्र ६०—पचास मील गहराई की काटका काल्पनिक दृश्य

तैयार करने की योजना बनायी थी। इस वर्ष तक सब से गहराई का गड्ढा जो धरती मे खोदा गया है एक मील से कुछ अधिक का है। इस लिये फ्लामारिया के पचगुने गहरे गर्त की तैयारी मे बहुत बरसो का समय और करोडो रुपयो का खर्च लग जायगा। फ्लामारिया का तो कहना है कि यह शुद्ध वैज्ञानिक काम है, इस मे बैठे ठाले रहनेवाले ससार के लोग लगा दिये जाने चाहिये। परन्तु यह योजना अभी तक काम मे नहीं आयी है। तौ भी स्वीडन के प्रसिद्ध रासायनिक स्वाते अर्रीनिउस ने हिसाब लगाकर और इस विषय पर पूरा विचार करके यह निश्चय किया है कि धरती धातु का एक भारी गोला है, भीतर प्रचड आच से उत्तप्त है और गर्भ मे वायव्य रूप मे है। उस के अत्यत गहरे भागो मे भार के खिचाव से खिच कर सोना चादी प्लैटिनम आदि धातुए जमा हो गयी है। नीलो और पन्नो

ठोस धरती के भीतर का काल्पनिक दृश्य
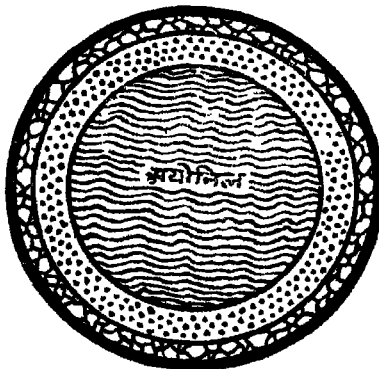
चित्र ६१—पृथ्वी-मात्र की खड़ी काट (काल्पनिक)

[मार्टिन का अनुवर्तन

सब सोना धरती के केंद्र मे इस तरह खिचकर बढ गया है। फारसी अरबी सभ्यतावाले कहते है कि क़ारू अपने खजाने को लेकर धरती मे धस गया है और दिनो दिन धसता जाता है। वह कारू का खज़ाना सचमुच यही है। इस कारू के खज़ाने के चारो ओर बहुत बडा विस्तार वायव्य रूप मे लोहे का है। वायव्य रूप मे होते हुए भी यह फौलाद या इस्पात से भी अधिक घना है। इसी फौलादी सेफ या तिजोरी के भीतर कारू का खजाना बंद है। पृथ्वी का लगभग आधा पिड लोहे का है। जिन लोगो ने तातानगर मे लोहा गलानेवाले भट्ठे की उजली धधकती हुई आच देखी होगी उन लोगो को समझना चाहिये कि भूगर्भ के भीतर की आच के सामने वह कुछ भी नही है। इस आच के कारण तो लोहा भूगर्भ मे वायव्य दशा मे रहता है। परन्तु महाभयकर दबाव के कारण यह वायु इतनी घनी हो जाती है कि फौलाद भी उसके सामने दब जाता है। पृथ्वी के आठ हजार मील के व्यास मे ६ हजार मील

के लगभग इस वायव्य लोहे का, अयोऽनिल का मंडल है। इस के ऊपर छः सौ मील मोटा चट्टानों के वायव्यों का स्तर है। इस के ऊपर १६० मील मोटा धधकती आग से सफेद गले हुए पत्थरों का तल है। इन सब के ऊपर अधिक-से-अधिक सौ मील और कम-से-कम पचीस-तीस मील मोटा त्रिप्पड है जिस पर हम लोग रहते हैं। हमारे त्रिप्पड के ऊपरी तल पर कुल दस-ग्यारह मील की ऊंचाई नीचाई है, जिस में से ऊंचे-से ऊंचे पहाड़ गौरीशंकर की ऊंचाई ५ मील है और समुद्र की साधारण गहराई ५.६ मील है।

६—ऊपरी तल

नदियां बहुत काल तक बहती-बहती गड्ढों को पाटती रहीं, परन्तु साथ ही पानी एक और जरूरी काम बराबर करता रहा। बड़े-बड़े चट्टानों को पीस कर भुरभुरी मिट्टी और रेत तैयार करता रहा। इस काम में आदि के संसार के केंचुए सरीखे असंख्य बेरीढवाले उभय चारी और स्थलचर रेंगनेवाले प्राणियों ने बड़ी सहायता की। यह नमकों के लिये चट्टानों को रेजे रेजे कर कर के खाते जाते थे और महीन मिट्टी बीट करते थे। इस से नरम मिट्टी ऊपरी तल पर जमा होती गयी। अब पहाड़ों की ऊंची चोटियों पर बहुत काल पीछे बरफ गिरना शुरू हो गया। सब से बरसने वाला पानी चट्टानों की दरार में समाया और छोटी छोटी गुहा-गह्वरों में भर गया। परन्तु अब सरदी पड़ने लगी थी। इसी सरदी के कारण पानी जमकर बरफ हुआ। बरफ का आयतन पानी से अधिक होता है अर्थात् बरफ अधिक स्थान लेता है। इसी लिये गुहाओं के भीतर जब बरफ जमा तो उस ने एकाएक चट्टान को तोड़कर चूर-चूर कर डाला और अपने निकल भागने की राह बना डाली।

इस तरह पहाड़ से बड़ी मंथर गति से, जो देखने में गति मालूम नहीं होती, बरफ के टुकड़ों की धारा बह चली। यही बड़ी दूर पहुंचकर गल-गलकर पानी की धारा बनती गयी। बड़ी-बड़ी पहाड़ी नदियों का, जो कभी नहीं सूखतीं, इन्हीं बरफ की धाराओं से सिल सिला जारी रहता है। बहुत काल पीछे जब धरती पर जीवन का पूरा विकास हो चुका था, दुनिया हरी-भरी रजी-पुजी थी, पहली बार बरफ का ऐसा प्रलय आया कि जैसे किसी समय सारा संसार जल में ढक रहा था, इस बार सारा जगत बरफ से ढक गया। इस में उस समय की बड़ी भारी आबादी तबाह हो गयी, पर बरफ ने अपने चूरा करने वाली चक्की के बल से जगत का नकशा बदल दिया। पहले सारे संसार में एक सी गरमी थी, ध्रुव प्रदेश भी आबाद थे, सदा वसन्त ऋतु बनी रहती थी, अब इस हिम-प्रलय के पीछे ध्रुवों से बहुत दूर तक विषुवत रेखा की ओर सरदी बढ़ गयी और भूतल के बीच के ही भाग में गरमी अधिक रही। यह हिम-प्रलय लगभग चार बार हो चुके हैं। प्रलय के पीछे संसार बसता है। फिर प्रलय में अधिकांश आबादी नष्ट हो जाती है।

आज भूगर्भ-विद्या के खोजी पृथ्वी को खोद-खोदकर उस के विविध स्तरों की जांच करते हैं और उन के समय की अटकल लगाते हैं। इन्हीं अटकलों से उन्हों ने पता लगाया है कि पृथ्वी के विविध स्तर कब कब के बने होंगे, कौनकौन सा अंश किस किस दशा में

होगा और पूर्व काल में किस किस दशा में हो सकता था। इन्हीं खोजियों के आधार पर हम ने इस धरती की कथा इन पृष्ठों में संक्षेप में दी है।

यद्यपि यह अटकल आनुमानिक है और आगे चलकर समय की गणना में बहुत कमी बेशी पड़ सकती है तथापि धरती के विकास का क्रम तो पत्थर के चट्टानों में स्पष्ट होता है, मानो पत्थर पर लिखा है। काल में मतभेद हो सकता है, परन्तु सृष्टि और विकास के क्रम में मतभेद नहीं हो सकता। पढ़ने और अर्थ लगाने में विद्वानों में मतान्तर हो सकते हैं, परन्तु क्रम तो पत्थर की लीक है, उसे कौन मिटा या बदल सकता है! पत्थर के वरकों पर लिखे हुए इसी वर्णन को विज्ञान प्रमाण मानता है क्योंकि मनुष्य बहुत पीछे पैदा हुआ है, उसकी पोथियां पहले का इतिहास नहीं पा सकतीं। फिर भी प्रत्येक मत या सम्प्रदाय के पुराणों ने सृष्टि का वर्णन किया है। इन वर्णनों से मिलान करना बड़ा ही रोचक होगा।

७-सृष्टि का क्रम। विज्ञान और पुराण का समन्वय

सृष्टि क्रम के संबंध में सृष्टि विज्ञानियों का जहां प्रायः मतैक्य है वहां उस के युग परिमाण और काल के संबंध में अब तक विचारों का विकास होता चला आया है। ईसाई तो सृष्टि को कुल छः हजार बरस की समझता था। मिस्र और बाबुल देश की खुदाइयों और इतिहास के परिशीलन से यह अवधि बढ़ गयी। भूतत्त्ववादियों ने इस कालावधि को लाखों की संख्या में गिनना शुरू किया। भौतिक विज्ञानियों ने धरती के सुकड़ने, ताप के निकलने और बढ़ने समुद्र में नमक के घुलने, धरती के विविध स्तरों के बन जाने आदि का लेखा लगाकर इसे और बढ़ाया। उनके सिरमौर लार्ड कैल्विन ने दो करोड़ बरस धरती की आयु बतायी। इनके बाद रश्मि विकीरक तेजोमय धातुओं का पता लगा जिन से पृथ्वी की आयु अत्यन्त बढ़ गयी। अब तो यह संभावना समझी जाती है कि धरती अधिकाधिक गरम होती जाती होगी। ब्रिटिश असोसिएशन के संवत १९७८ वि० के व्याख्यान में प्रोफेसर लार्ड रेले ने कहा कि इस धरती पर आज से एक अरब बरस पहले से जीवन का होना हमारे ज्ञान के विकास ने अधिक संभाव्य बना दिया है और पृथ्वी का बनना तो इस के दो तीन या चार गुने अधिक समय का जान पड़ती है। निदान, हिन्दुओं के इस पौराणिक कथन में कि सृष्टि के आरंभ हुए लगभग दो अरब बरस हुए हैं, रेले की इस अटकल का पूरा समन्वय हो जाता है। हर हिन्दू पत्रा पर अहर्गण दिये हुए होते हैं। सृष्टि की आदि से लेकर आज तक जितने दिन बीत चुके हैं उन की पूरी संख्या का ही नाम "अहर्गण" है। अहर्गण के हिसाब से १ अरब ९८ करोड़ से कुछ अधिक वर्ष आते हैं। अतः हिंदू भी प्राचीन काल से वही सृष्ट्यब्द बतलाता आया है जिस का अनुमान प्रोफेसर रेले करते हैं।

सृष्टि-विज्ञानियों ने सृष्टि के विकास के अनेक युगों की भी कल्पना की है। उन की कल्पना यह है कि सौर ब्रह्माण्ड की स्थापना से लेकर महाद्वीपों और महासागरों की नलियों के निर्म्माण तक का काल अत्यन्त दीर्घ रहा होगा। दूसरा अन्तर आदिम जीवन-युगान्तर है। तीसरा अंतर बिना रीढ़ के प्राणियों का आरंभ है। ये तीन अंतर बड़े बड़े दीर्घ काल हैं।

इन के बाद तीन महायुग आते हैं, जिन में सामुद्रिक प्राणियों से लेकर मानव प्राणियों के आरंभ तक की सृष्टि आती है। सातवाँ युग वही मानव सभ्यता का युग है जिस में हम मौजूद हैं। इस प्रकार वैज्ञानिक भी उसी तरह सात अन्तरों की कल्पना करता है जैसे एक कल्प में हिंदू पौराणिक सात मन्वन्तरों की कल्पना करता है।

वैज्ञानिक सृष्टि-काल विभाग समान नहीं है, परन्तु हिंदू-सृष्टि-काल-विभाग समान है। वैज्ञानिक रेले का कहना है कि जीवन का आरंभ हुए एक अरब बरस के लगभग बीता होगा और भूपिंड की रचना कई अरब बरस पहले से आरंभ हुई होगी तब यह धरती जीवन के उदय के लिये उपयुक्त हुई होगी। सृष्टि के आरंभ से अब तक चार अरब बत्तीस करोड़ बरसों का समय पौराणिक बतलाता है परन्तु वर्त्तमान सृष्टि से अब तक का काल. अहर्गणों के हिसाब से एक अरब पौने निन्नानबे बरसों का हो चुका है। सूर्योदय से सूर्योदय तक का काल एक "सावन" दिन कहलाता है। अहर्गण सावन दिनों की गणना है और यह तभी से संभव है, जब लगभग चौबीस घंटों का अहोरात्र होने लगा था। यह उसी समय संभव है जब धरती का ऊपरी छिलका सारे धरातल पर समान रूप से दृढ़ हो गया और पृथ्वी का घूमना नियमित और इकट्ठा एक पिंड की तरह होने लगा। इस समय सागर जल से भर गया होगा परन्तु तप्त रहा होगा। जीवन का आरंभ इस घटना के बहुत बाद हुआ होगा। यदि रेले के कथन का समन्वय पुराण के साथ किया जाय तो हम कह सकते हैं कि जीवन का आरंभ धरती पर २४ घंटे के अहोरात्र होने लगने के तीस करोड़ बरसों के भीतर ही भीतर हुआ होगा, जब स्वायंभुव मन्वन्तर की समाप्ति होती है। इस तरह आदिम जीव लगभग पौने दो अरब बरस हुए प्रकट हो चुका होगा।

आदिम जीवों से बहुत धीरे धीरे बेरीढ़वाले बड़े प्राणियों का विकास हुआ होगा। समुद्र ही पहले-पहल इन प्राणियों से बसा होगा। जलचरों में बेरीढ़वालों से धीरे-धीरे रीढ़वाली मछलियाँ बनी होंगी। यह समय पहले मन्वन्तर का अंत होगा। प्रत्येक मन्वन्तर के अंत और आदि का समय प्रलय का होना समझा जाता है। भूकंप, जलप्लावन अग्निवर्षा हिमवर्षा बहुत काल तक चलते रहने से धरातल के रहनेवाले सभी प्राणी समाप्त हो जाते हैं। गहरे समुद्रों में ही शायद कुछ जीव बचे रह जाते होंगे, जिन में से अनेक छिछले अंशों से भाग कर अपने जीवन की रक्षा करनेवाले प्राणी होंगे। इन में से भी वे ही गहरे समुद्रों में भी बच सकते होंगे जो अपने से बड़े प्राणियों के द्वारा उदरस्थ न कर लिये गये होंगे। इस तरह अत्यन्त सूक्ष्म प्राणी ही बच रहे होंगे जिन्हें हम प्राथमिक जीव कह सकते हैं। ये आदि जीव की अपेक्षा अधिक विकसित होंगे, परन्तु अब ठीक ठीक वही ईंटें नहीं बच रही हैं जिन पर पहली इमारत की बुनियाद रक्खी गयी थी। अब प्रकृति के पँजावे में फिर से नयी ईंटें पकेंगी जिन से कि प्रलयकाल के विनाश की कमी पूरी हो सकेगी। ठीक मार्ग से काम न हो सकने के कारण फिर समय अधिक लगेगा। परन्तु जब एक बार पहले के से बेरीढ़ और रीढ़वाले प्राणी बन गये तो विकास की गाड़ी कुछ अधिक वेग से चलने लगती होगी। लगभग बीस करोड़ बरसों में प्रलय की संधि, प्राथमिक जीवों का विकास, बेरीढ़ों का विकास, रीढ़वालों का विकास, जल-वनस्पतियों का

उद्भव और विकास-निदान सारे जल-समुद्र का विविध प्राणियों से बस कर फिर से रँजा-पुँजा हो जाना बहुत सम्भव है। इसे हम दूसरा मन्वंतर कहेंगे। जब रीढ़ों और बेरीढ़ों का पूर्ण विकास हो लेता है तब फिर पुराणों का मत्स्यावतार होता है। यह वह मत्स्यावतार नहीं है जो प्रलयकाल में होता है। यह वह है जो शंखासुर को मार कर वेदोद्धार करता है। रीढ़वाले प्राणी बेरीढ़वालों को परास्त कर के विकास रूपी वेद-मार्ग की स्थापना करते हैं। इसी अवतार में विकास की रुकी हुई गाड़ी आगे बढ़ती है।

प्रलय की लंबी सधि के अंत में जब स्थल के फिर से दर्शन होते हैं, छिछले जल की आबादी रेंग कर धीरे धीरे स्थल पर आती है, और उभयचरों और स्थलचरों का इस बार साथ ही विकास शुरू होता है। कछुए, हंस आदि उभयचरों में और कीड़े-मकोड़े आदि पतली कमरवाले एवं रेंगनेवाले साँप और छिपकली आदि स्थलचर प्राणियों तक का विकास होने में चार करोड़ बरस और लग जाते हैं। कूर्म्मावतार इसी समय में होता है। परन्तु यह वह कूर्म्मावतार नहीं है, जिस की पीठ पर मंदराचल को टिकाकर देवासुरों ने समुद्र का मथन किया था। वह तो चन्द्रमा के पृथ्वी से अलग होने के समय का रूपक है, जब आठ दस ही घंटों का अहोरात्र होता था। इस कूर्म्मावतार ने मुख्य चरित चाहे जो किये हों, परन्तु उभयचर प्राणियों के विकास की यह अंतिम सीमा थी।

धरती पर रेंगनेवाले छोटे जीवों का अब दो दिशाओं में विकास हुआ। प्रकृति ने कीटों को सपक्ष कर के पतंगों की उत्पत्ति कर ली थी, और परों से वायु-समुद्र में कैसे जीवन बिताया जा सकता है, सीख लिया था। रेंगने वालों को पहले पेट के बल चलाया और यह परीक्षा की कि मुख दोनों ओर रखा जाय कि एक ओर। फिर टाँगें निकालीं, फिर अनेक टाँगें बना कर देखा, फिर चार-चार टाँगें रखीं, लंबाई ऊँचाई बढ़ायीं। फिर विकास के दो मार्ग कर दिये। एक स्थलचारी दूसरा व्योमचारी।

सामुद्रिक विकास में शैवाल तक बनस्पतियों का विकास हो पाया था, परन्तु स्थल बिना वनस्पति-विकास की गाड़ी भी रुकी हुई थी। जब स्थल का उभार हुआ, तब घास उगने लगी और धीरे धीरे उस का भी विकास हुआ। पहले फूल नहीं होते थे। वनस्पति जीवन के प्रसार का यह साधन स्थल पर ही तब विकसित हुआ जब उस के फैलानेवाले सहायक जीव कीट-पतंगों का विकास हुआ। धीरे-धीरे पौधे बढ़े। फूल और फल होने लगे। ऊँचाई बढ़ने लगी। स्थल जीवन के दो करोड़ बरसों में ही बहुत ऊँचे-ऊँचे आकाश से बातें करनेवाले पेड़ निकले। उस समय दो-दो सौ फुट की ऊँचाई के अत्यंत घने जंगल थे जो भाँति-भाँति के छोटे-बड़े जीवों से भरे थे। साथ ही उरग भी इतने ऊँचे कद के होने लगे जो इन ऊँचे पेड़ों की पत्तियाँ अपनी लंबी गर्दन बढ़ा कर आसानी से चुग लेते थे। महोरगों और महाव्यालों के इसी युग में दिग्गजों का और वासुकि आदि महानागों का अवतार हुआ। नाग, व्याल, महोरग, दिग्गज आदि केवल पर्य्यायवाची शब्द ही नहीं हैं, बल्कि एक ही जाति के विविध विशालकाय प्राणियों के नाम हैं। इन के विकास काल में ही छोटे उरगों से दो शाखाएं फूटीं। एक से तो चार पाँववाले स्थलचारी पशु विविध आकारों और प्रकारों के हुए। दूसरी से पक्षियों का विकास हुआ। पीछे की दोनों टाँगें तो बनी रहीं,
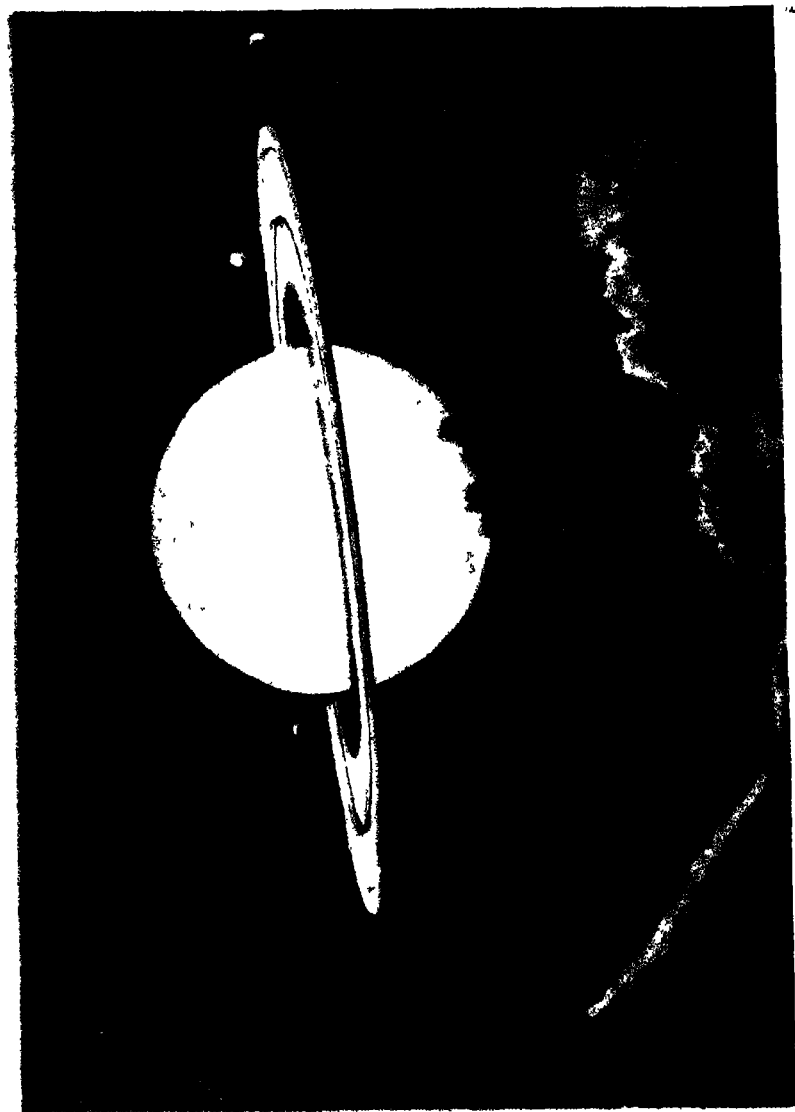
चित्र ३४—शनि के ही उपग्रह से शनि का एक काल्पनिक दृश्य इस में शनि के दो उपग्रह भी दिखाई पड़ रहे हैं। [सौर-परिवार से

[विज्ञान हस्तामलक, पृ० ८७ के सामने]

परन्तु आगे की दोनों टांगों ने डैने का रूप धारण कर लिये और पर जमे। प्रकृति ने कीटों पतंगों के पांव अलग रखे थे और पर भी निकाले थे। उस परीक्षा पर विकास करके उस ने पांवों में किफायत की और डैनों पर पर लगाकर उड़ने की क्रिया में सुभीता कर दिया स्थलचारियों की पूंछ गति में विशेष सहायक न थी। परन्तु पक्षियों की पूंछ बड़े काम की चीज बनी। पक्षियों का विकास बहुत दूर तक हुआ। इसी जाति में गरुड़ और हंस के अवतार हुए। निदान, व्यालों और पक्षियों का विकास प्रायः एक ही युग में हुआ। यह सब साढ़े चार करोड़ बरसों में हुआ होगा।

स्थलचारियों में उरग और उरगों से विकसित पक्षी शाखावाले प्राणी अण्डज होते आये, परन्तु स्थलचारियों का विकास भिन्न ढंग पर हुआ। माता अपने भ्रूण का विकास अण्डे के रूप में अपने शरीर से अलग अब नहीं करती। अब वह अपने भ्रूण को गर्भाशय के भीतर रखकर पूरा पूरा विकास करने देती है, तब उसे बाहर निकालती है। बाहर आने पर भी अपने स्तन के दूध से कुछ काल तक बच्चे का पालन करती है। यहीं पिण्डज हुए। पिण्डजों के विकास तक का आरम्भ काल ऊपर बतलाये हुए साढ़े चार करोड़ बरसों के अन्त का काल समझना चाहिये। इन की अंतिम सीमा को सूचित करनेवाली पिण्डज जातियों में महाकाय शरीरवाले प्राणियों को समझना चाहिये। वराहावतार का यही समय होगा।

अगले डेढ़ करोड़ बरसों में पिण्डजों का विकास और भी वेग से हुआ होगा। इसी युग के मध्यकाल में प्रकृति ने चाहा कि वन के सब से बड़े बलवान पिण्डज सिंह से मनुष्य का विकास किया जाय। इसी कोशिश में नृसिंह जाति के प्राणियों की रचना हुई। इस भयंकर जाति का ही प्रतिनिधित्व करनेवाले भगवान नृसिंह का अवतार इसी बात की सूचना देता है। फिर भी प्रकृति का यह प्रयोग सफल नहीं हुआ। उस ने और भी प्रयोग किये। उस ने पहले पहल मानव प्राणियों के निर्माण में हाथ लगाकर पहला मानवाकार प्राणी जो बनाया वह बहुत छोटा था वानर के आकार से मिलता जुलता था। परन्तु इस में भी सफलता न मिली। पुरुष ने वामनावतार धारण करके इस प्राणी के भी भावी विकास का रूपक दिखाया। यह भी डेढ़ करोड़ बरसों का काल जब समाप्ति पर आया और दूसरे स्वारोचिष मन्वंतर की अवधि भी पूरी हुई तो दूसरा प्रलय आरम्भ हुआ। यह दूसरा प्रलय सम्भवतः अग्नि की प्रचण्ड ज्वालाओं के कारण हुआ होगा जो बाहर के सूर्य से और धरती के गर्भ से निकली होंगी। इस से थोड़े ही काल में इस धरती पर का सर्वनाश हो गया होगा और प्रकृति के विकास का रथ फिर लौटकर वहीं खड़ा कर दिया गया होगा जहां पहले मन्वंतर के आरम्भ में था। इस प्रकार सृष्टि के साठ करोड़ वर्ष बीत गये होंगे।

यह प्रलयकाल बहुत समय तक रहा। बड़वानल के शांत होने पर समुद्र के भीतर ही नये जीवन की बुनियाद फिर से रखी गयी, और फिर सृष्टि उसी क्रम से चली। जिन कामों को अनुभव की कसौटी पर कसकर प्रकृति ने अभ्यास कर लिया था उन्हें फिर से कर डालने में उसे पहले की अपेक्षा कम ही समय लगा। इस बार एक करोड़ बरस के भीतर ही प्रलयकाल की अवधि बीत गयी और प्राथमिक जीवों का शीघ्र ही विकास हुआ और वनस्पतियों का जल में आरम्भ हुआ और इस काल के बाद स्थल के

उभयत ही घास और बड़े पौधे प्रकट हुए। स्थलचरों, उभयचरों, कीटों, पतगों, फूलवाले पौधों और बड़े बड़े कीटों का आरंभ हुआ। फिर ७ करोड़ बरसों के बीच ही इन का विकास हुआ। पहले सात करोड़ बरसों में मत्स्यावतार दूसरे सात करोड़ बरसों में कूर्मावतार हुआ। तीसरे सात करोड़ बरसों में महोरग, पक्षी, आदि पिंडज, फूलवाले पौधे और बड़े-बड़े कीड़े हुए और बढ़े। इसी काल में वासुकी, गरुड़ और हंसावतार हुए। इस के बाद के चार करोड़ बरसों में पिंडजों का विकास हुआ और इस बार विशालकाय विचित्र मानवाकार दैत्य, दानव, गंधर्व, यक्ष, बेताल आदि उपजे और इन का विकास हुआ। ये ही मानवाकार प्राणी उस समय जीवन-विकास के शिखर पर समझे गये। इन्हीं आठ करोड़ बरसों में क्रम से वराह, नृसिंह, वामन और परशुराम तक के अवतार हुए। इसी अवधि या युग के अंत में परशुराम के द्वारा संहार के अनंतर शायद उत्तम मन्वंतर का अंत और अंतर-प्रलय हुआ जिस की अवधि एक करोड़ या ५० लाख बरसों की होगी। परंतु यह शायद जल-हिम-प्रलय हुआ होगा।

तामस मन्वंतर के आरंभ में जब हिमाच्छाद गलकर जल बन गया और जल में धीरे धीरे फिर स्थल पहाड़ आदि निकले तो जलचरों का विकास जल्दी हुआ। स्थलचारी उभयचारी आदि भी शीघ्र ही हुए। कीटों और उरगों का पहले की अपेक्षा अधिक विस्तार हुआ। पिंडज प्राणियों के प्रकार बहुत बढ़ गये। प्रत्येक जाति का विस्तार विशाल हुआ। क्रम वही पहले मन्वंतरों का था। भेद विस्तार में ही था। अवतार भी क्रम से वे ही हुए। आदर्श की स्थापना भी उसी प्रकार होती रही। इस बार विविध जातियों के राक्षस और असंख्य प्रकार के लांगूली, वानर आदि प्राणी उत्पन्न हुए। इन के प्रकार बढ़े, इन का विकास हुआ। इन्हीं की एक शाखा में वे मानवाकार प्राणी हुए जो आगे चलकर बढ़े और तामस मन्वंतर के अंत में जिन से उस समय के राक्षसों से घोर संघर्ष हुआ। इसी मन्वंतर के अंत की किसी चतुर्युगी में परशुराम और फिर रामावतार हुआ जिस ने आदर्श पुरुषोत्तम की स्थापना की। ये अवतार प्रत्येक मन्वंतर में होते आये। संभवतः इसी रामावतार के अंत में या कुछ काल पीछे तामस मन्वंतर का अंत हुआ और दूसरा हिम प्रलय हुआ।

इस प्रकार नब्बे करोड़ बरसों के बाद रैवत मन्वंतर का आरंभ हुआ। इस मन्वंतर में भी थोड़े बहुत भेद और विस्तार के अंतर के साथ सृष्टि का वही क्रम चला जो पिछले मन्वंतरों में था। इस में और चाक्षुष मन्वंतरों में क्रम से राक्षसों और वानरों का अधिकाधिक विकास हुआ और दोनों में आदर्श पुरुषोत्तम रामावतार तक सभी सृष्टि-विधायक और संहारक-सहायक अवतार हुए। इन दोनों मन्वंतरों के अंत में महाहिमप्रलय हुआ जो दीर्घ काल तक रहा।

हिमप्रलयों में जो दीर्घ काल तक जारी रहते होंगे धीरे-धीरे ही सृष्टि का नाश होता होगा। कई लाख बरसों में कहीं जाकर वह नाश पूर्णता को पहुंचता होगा।

चाक्षुष मन्वंतर के अंत में जल-प्लावन द्वारा प्रलय हुआ। यह प्रलय पर्वत शिखरों तक को निमग्न करनेवाला हुआ। इसी प्रलय के आरंभ में मनु की सहायता करनेवाला मत्स्यावतार हुआ जो वैवस्वत मन्वंतर के आरंभ तक विद्यमान था। इस मन्वंतर का

आरंभ कल्प-सृष्टि के आरंभ से एक अरब अस्सी करोड़ बरस बाद हुआ। सृष्टि कर्त्री प्रकृति के पहले के अनुभवों के कारण इस सातवें मन्वंतर में सारा विकास बड़ी जल्दी जल्दी हुआ। पहले तो चौदह करोड़ बरसों का काम अर्थात् जलचरों के पूर्ण विकास तक तो प्रलय में ही बचा रह गया। मन्वंतर के आरंभ से स्थलचर वनस्पति, स्थलचर और उभयचरों के विकास का क्रम चला। इसीलिये इस बार सत्रह करोड़ बरसों मे ही मानव-विकास तक का पूर्ण क्रम चला आया। साथ ही राक्षस और उस प्रकार के वानरों का, रामावतार के समय जिन का प्रबल संघर्ष देखा गया, एक दम लोप हो गया। इस मन्वंतर मे भी किसी पिछली चतुर्युगी मे जिस के कई लाख बरस हो चुके हैं, रामावतार तक हो चुका है। इधर कोई इक्कीस हजार बरस हुए कृष्णावतार भी हुआ और ढाई हजार बरसों के लगभग हुए कि बौद्धावतार भी हो चुका है।

हम ने काल के संबंध मे लार्ड रेले के अनुमान को ठीक माना है और सृष्टिक्रम तो विकास-विज्ञानियों का ही माना है। पुराणों का विषय सृष्टि है, अतः हम ने पुराणों के सृष्टिक्रम और कालक्रम का वैज्ञानिकों के विचार के साथ समन्वय करके यहा दिखाया है। यह सच है कि पुराणों मे ठीक-ठीक इस तरह का क्रम कहीं एक जगह नहीं दिया है और विज्ञान के किसी विद्वान ने कभी पौराणिक शब्दों मे सृष्टिक्रम या विकास का विज्ञान से इस प्रकार समन्वय नहीं किया है। हम ने यह समन्वय इन शब्दों मे इस लिये दिया है कि हमारे देश के पाठक विज्ञान के इस दुर्बोध विषय को इस रूप मे सहज मे ही हृदयंगम कर लेगे।

काल की अवधि गिनने मे हिंदू ज्यौतिष में कुछ मत-भेद है। प्रायः सभी शास्त्र इस बात मे सहमत हैं कि धार्मिक कृत्यों के लिये कलियुग १२०० वर्ष का, द्वापर उस का दूना, त्रेता तिगुना और सतयुग चौगुना अर्थात् ४८०० वर्षो का होता है। इस तरह पूरी चतुर्युगी १२ हजार वर्षों की होती है। एक सहस्र चतुर्युगियो का अर्थात् १ करोड़ २० लाख वर्षों का एक कल्प होता है। यह मान हम ने "धार्मिक" कृत्यों के लिये इस लिये कहा है कि पचांगों मे आम तौर पर ये दिव्य वर्ष माने गये हैं। ३६० मानव वर्षों का एक दिव्य वर्ष माना जाता है। इसी लिये पंचांगों मे ऊपर बताये अंकों के ३६० गुने मान दिये गये हैं और सृष्टि के दिन "अहर्गण" उस कल्प के आरंभ से गिने हैं, जो १,२०,००००० × ३६० अर्थात् चार अरब बत्तीस करोड़ बरसों का होता है। प्रोफेसर रेले के अनुमान से यही अंक अधिक उपयुक्त समझे जाते हैं, और हम ने भी ऊपर इन्हीं के आनुपातिक अंक दिये हैं। परंतु जो लोग उपर्युक्त शास्त्रीय काल-परिमाण ही मानव वर्ष मानते हैं, वे यदि उन्हीं के अनुसार अंक चाहें तो हमारे ऊपर के अनुमानो का ३६० वा अंश कर दे। इस तरह प्रत्येक मन्वंतर साढ़े आठ लाख बरसों का ही हो जायगा।

दूसरा खंड

जीवन-विज्ञान

चौथा अध्याय

जीवन का उदय

१–जलवायु की उत्पत्ति

पिछले अध्याय में धरती की जैसी उत्तप्त दशा का हम दिग्दर्शन कर आये हैं वैसी दशा में वर्तमान जगत् में रहनेवाले जैसे प्राणियों के रहने की कोई संभावना नहीं है। जब उस की औसत आंच घटते-घटते शतांश के पचास साठ दरजे तक पहुंची होगी तब भी आजकल के जैसे प्राणी तो नहीं हो सकते। पर कुछ निचले दरजे के बहुत आंच सहने-वाले जीवों का गुजारा संभव हो गया होगा। बीसों हजार बरसों तक ठंढे होने पर भी इस धरती पर कोई प्राणी रह नहीं सकता था। शायद जीवन का आरंभ होने में कुछ देर थी।

इस जगत् के अनुरूप जीवन के लिये सब से बड़ी ज़रूरत पहले वायु की है और फिर जल की। वायु को प्राण कहते हैं और जल को जीवन। पहले जब वर्तमान प्रकार के वायु के बदले सोना चांदी लोहा आदि की धातुओं की वायु इस भूमंडल को आजकल के वायुमंडल की तरह घेरे हुए थी और जब पृथ्वी पर दृढ़ धरती थी ही नहीं, पिघली हुई चट्टान ही "सलिल" (पानी) था उस समय आजकल का-सा तो कोई प्राणी हो ही नहीं सकता। और लोहे आदि के विशाल भट्टों में भी जो सैकड़ों बरस से बराबर जल रहे हैं किसी तरह का प्राणी कभी देखा नहीं गया। इस से यह अनुमान किया जाता है कि ऐसी उत्तप्त दशा में शायद किसी प्राणी की रहाइश हो ही नहीं सकती। परंतु यह अनुमान ही अनुमान है। कोई भट्ठा चाहे कितना ही पुराना हो जीवन के लिये उसी तरह स्वाभाविक अवस्था नहीं कहला सकता जिस तरह प्राचीन काल में धातुओं का वायुमंडल होता और जैसे वर्तमान परिस्थिति में भी जीवन के उदय और अस्त में करोड़ों बरस लगते हैं, उस परिस्थिति में आज से नितांत भिन्न प्रकार के जीवन का उदय और विकास और अस्त हो गया हो, कौन कह सकता है? फिर यह भी कोई नहीं जानता कि जब पृथ्वी दृढ़ नहीं थी और जब आंच और दबाव इतना प्रचंड था और जब वायुमंडल नितांत भिन्न प्रकार का था

और जब जल पत्थर का बना रहा होगा उस समय के जल-वायु में इस धरती पर किसी तरह के आग्नेय जीव रहते थे या नहीं जिनका रहन-सहन उस आग्नेय परिस्थिति के अनुकूल था। अग्नि की पूजा करनेवाले और उस काम के लिये अग्नि को निरंतर रक्षा करनेवाले पारसी कहते हैं कि आग में एक तरह का कीडा पैदा होता है जिसे समदर कहते हैं। परंतु वर्तमान काल में जहां तक लेखक को मालूम है कहीं वह समदर देखा नहीं गया है। यदि उस आग्नेय युग में तपती हुई धरती पर कोई प्राणी रहे होंगे तो अब उन का किसी तरह का चिन्ह मिलना संभव नहीं है। उन का प्राण और उन का जीवन आजकल से बिलकुल भिन्न रहा होगा। उन का शरीर आधे गले हुए रेते का होगा। उनका जल प्लेटिनम आदि पिघली हुई धातुओं का होगा और उन का प्राण और वायु सीसा रांगा सोडियम पोटेसियम आदि धातुओं का वायव्य होगा।

जब आंच घटी तभी इस धरती के वायुमंडल में उज्जन और ओषजन दो वायव्यों के मिलने से जल बना जो भाफ के रूप में वायुमंडल में बना रहा। इस अवस्था में वायुमंडल में ओषजन और नोषजन आजकल की अपेक्षा भिन्न परिमाणों में थे। जितने समय में वायुमंडल में इकट्ठी भाफ जमकर जल के रूप में धरती के महासागर में बदल गयी थी उतना समय लार्ड केल्विन के हिसाब से सौ बरस से अधिक न होगा और स्वांते अरीनिउस का कहना है कि कई हज़ार बरसों से ज्यादा न लगा होगा। यह तो मतभेद की बात है। एक लाख बरस भी इतने ही परिवर्त्तन में लग सकते हैं, क्योंकि ताप के विकिरण के साथ ही रश्मि और ताप की निरंतर देनेवाली धातुएं भी तो उस समय धरती में अधिक रही होंगी। पहले तो ३७० दरजे पर गले हुए लोहे की वर्षा हुई होगी। यह वर्षा भी ऐसी-वैसी न होगी, जैसे किसी बड़े झरने से पानी की धारा गिरती हो जिसे मूसलाधार नहीं बल्कि नदियाधार कहना चाहिये। पानी की धाराएं तो इस के हजारों लाखों बरस बाद गिरनी शुरू हुई होंगी। उस समय के बादलों ने एक साथ नदी सा उंडेल दिया होगा और लाल लोहे की सी तह पर पड़ते ही भाफ की बड़ी भयानक आंधी उठकर फिर आकाश में लौट गयी होगी और इस आंधी के साथ-साथ जगह जगह फटने और धातुओं से मिलकर भयानक धड़ाकों की कड़क और गरज और गली हुई धातुओं और पत्थरों का गर्द-गुबार, कूडा-करकट इस ऊपर को उठती हुई आंधी में शामिल होगा। भूमंडल पर यह दृश्य ऐसा भीषण होगा कि इस की कल्पना करके हृदय कांप उठता है। यह सब घटनाएं तो असल में तब शुरू हुई होंगी जब लगभग एक हजार दर्जे पर धरती का पहला चिण्ड बंधा होगा, और उस समय से लेकर कम-से-कम कई हजार बरस तक जारी रही होंगी, जब तक कि घटकर सौ दरजे तक ठंढक नहीं पहुँची। इस ठंढक तक पहुँचते-पहुँचते धरती पर महासागर अच्छी तरह बन गये थे। फिर सौ दर्जे से ५५ दर्जे तक पानी बहुत जल्दी-जल्दी ठंढा हुआ। अरीनिउस की राय में समुद्रों के बन जाने के कुछ काल बाद ही जीवन के उदय के लिये यह भूतल उपयुक्त हो गया होगा परंतु जीवन का यहां कोई विकसित रूप न समझे। जीवन का उदय हो जाने के बाद कम-से-कम करोड़ों बरस के विकास के पीछे हम उस का वर्तमान विकसित रूप देखते हैं।

*

पृथ्वी हमारे लिये आज काफी ठंढी है परन्तु कोई ऐसा न समझे कि यह बिल्कुल ठंढी हो गयी है। इस आकाशमण्डल में बाहरी शून्य स्थान या अन्तरिक्ष जितना ठंढा है उस के मुकाबले आजकल भी हमारी पृथ्वी ३०० दर्जे ज्यादा गरम है। सूर्य से अत्यन्त दूर इस ब्रह्माण्ड के बाहर जहाँ वरुण और कुबेर ग्रह भी अदृश्य हो जाते हैं उस देश में यदि कोई प्राणी रहते हों,—और ऐसे प्राणी तो लगातार अंधकार और लगातार बेरोशनी और बेगरमी के संसार में रहते होंगे,—तो उन के लिये हमारी दुनिया इतनी गरम धधकती होगी जैसे हमारे लिये गली हुई धातु। यह भी भूलना न चाहिये कि धरती का ऊपरी तल इतना गरम है कि उस का तीन चौथाई भाग आज भी बिलकुल गली हुई हालत में है, क्योंकि आखिर पानी भी तो गली हुई चट्टान है और जिस तरह स्फटिक (बिल्लौर) चकमक और साधारण पत्थर चट्टान का हिस्सा है उसी तरह बरफ भी तो है और पूर्व युग में इन पत्थरों का भी सागर उसी तरह लहरें मारता था जैसा कि आज जल का सागर है। पृथ्वी का ठंढा होना समाप्त भी नहीं हुआ है। वह धीरे-धीरे अब भी ठंढी होती जाती है और कोई समय आवेगा—और वह शायद करोड़ों बरस बाद आवे—जब पृथ्वी एक दम ठंढी हो जायगी। या शायद पृथ्वी के एक दम ठंढे होने में अरबों बरस लग जायं। पृथ्वी का कुछ भाग तो आज भी इतना ठंढा हो गया है कि जल जमकर चट्टान के रूप में बराबर बना रहता है। यह ठंढक बढ़ते-बढ़ते कभी सारे संसार में फैल जा सकती है।

२—जीवन की उत्पत्ति

ऐसा जान पड़ता है कि जब समुद्र का जल गरमी के पचपनवें दर्जे तक ठंढा हो गया उस समय इस धरती पर पहिले-पहिल जीवन का उदय हुआ होगा। आज से इस घटना को कितने बरस हुए यह कहना बहुत मुश्किल है। वैज्ञानिकों का मत इस विषय में एक नहीं है। परन्तु यह अंदाज़ा किया जाता है कि जीवन का पहिला उदय इस ब्रह्माण्ड में एक अरब बरस से पहिले कभी हो चुका होगा और उस उदय से चराचर संसार के वर्तमान ढंग के विकास तक पहुँचने में और आदिम मनुष्यों तक की सृष्टि के होने में कई करोड़ बरसों से लेकर लगभग एक अरब बरस तक का अंतर पड़ा होगा। हिंदुओं के मत के अनुसार जीवन का विकास भी दो अरब बरस पहिले से शुरू हो चुका है। यह कहना बहुत मुश्किल है कि वर्तमान प्रकार का जीवन इस धरती पर कैसे आरंभ हुआ और कब आरंभ हुआ। वैज्ञानिक लोग जीवन का विकास अत्यन्त छोटे-छोटे जीव कणों से मानते हैं परन्तु यह एक कठिन गुत्थी है कि इस जगतीतल पर पहिले-पहिल वह जीवकण कहां से आये। यदि यह माना जाय कि ताप, चाप और आवश्यक वस्तुओं के संघात से आरंभिक जीवकण अपने आप बन गये और फिर उन के बीजों का सिलसिला बंध गया तो यह कल्पना-मात्र है, क्योंकि अभी तक इस तरह से ताप, चाप और वस्तु के संघात से कोई जीवकण या उस का बीज बनाया नहीं जा सका है। यह असंभव नहीं है कि भविष्य में कोई वैज्ञानिक उस की रचना में समर्थ हो जाय परन्तु जब तक ऐसा हो नहीं सका है तब तक विज्ञानी इस विधि से जीवन का निश्चय उदय मानने के लिये तैयार न होंगे।

कुछ वैज्ञानिकों का कहना है कि बहुत सीधे-सादे एक सेल या कणवाले प्राणी किसी निर्जीव पदार्थ से भी उत्पन्न हो गये होंगे जैसे कर्बन के अर्द्ध द्रव यौगिकों पर खमीर की क्रिया से हो सकता है। परन्तु खमीर के द्वारा आदिम जीव अभी तक उत्पन्न नहीं हो सका। इस लिये इस से प्रश्न नहीं सुलझता।

ऐसा जान पडता है कि जीवन के उदयवाले प्रश्न को शायद भविष्य में रसायन विज्ञान सुलझा सके। क्योंकि यह पता चल चुका है कि बहुत परमाणु निरंतर अपने आप टूटते रहते हैं और अपने से छोटे परमाणु बनाते रहते हैं जिस में मनुष्य का कोई हाथ नहीं है और जिस में परमाणुओं की भीतरी शक्ति काम करती रहती है। इस भीतरी शक्ति के चलाने की क्रिया को भी हम एक तरह की जीवन की क्रिया कह सकते हैं, परन्तु इस से भी अधिक चमत्कारिक बात यह मालूम हुई है कि कुछ परमाणु ऐसे हैं जो खमीर का-सा काम कर सकते हैं और बहुत शक्तिशाली और जीवाणुरूपी परिवर्तन पैदा कर सकते हैं। इस प्रकार कुछ खमीर कृत्रिम रीति से भी बनाये गये हैं। और इन खमीरों के द्वारा कई तरह की रासायनिक क्रियाएं बराबर चलती रह सकती हैं। इस तरह से एक प्रकार से कृत्रिम रूप से जीवन की रचना की जा सकी है। रसायन और भौतिक शास्त्र की दृष्टि से जीवनमात्र खमीरों की उड़ान की-सी क्रिया है। सभी प्राणियों में खमीर हैं और जब उन में के खमीर काम करने लायक नहीं रह जाते तो जीवन की क्रिया का अंत हो जाता है। प्रौढ व्यक्तियों में जो मुख्य विशेषताएं हुआ करती हैं उन के बारे में यह मालूम हो गया है कि वह विशेषताएं उन प्रौढ़ व्यक्तियों के जनन-बीजों के भीतर कुछ विशेष प्रकार के खमीरों के न होने, होने या मिलने से पैदा होती हैं। परन्तु खमीरों के संबंध में अभी बहुत कुछ खोज होना बाकी है और यह विद्या अभी अपनी आरंभिक अवस्था में है। इस से कोई बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती।

जीवन के उदय के साथ-साथ उसकी रक्षा के लिये भोजन की आवश्यकता होती है और उस समय यह भोजन निर्जीव से ही मिल सकता था क्योंकि उस समय जीवित सत्ता बनी ही न थी। जिन्हें हम आज प्राथमिक जीव कहते हैं उन्हें यदि हम आदिम प्राणी समझ लें तो भारी भूल होगी। वह आदिम प्राणी तो करोड़ों बरस पहिले हो चुके। उन्होंने विकास के क्रम में अपने कर्तव्यों का पालन किया और शायद अब वह इस भूमंडल पर न हों। जिस अमीबा को हम प्राथमिक प्राणी समझते हैं उसकी रचना तो ऐसी विकट है कि आदिम प्राणी से विकसित होकर अमीबा तक पहुँचने में ही बहुत संभव है कि लाखों या करोड़ों बरस लग गये हों।

यह समझ में नहीं आता कि धरती की ऊबड़-खाबड़ और कठोर परिस्थिति में जीवन का अत्यंत सुकोमल बीज कैसे पड़ा परन्तु जो हो इस का आरंभ हुआ है कठोर और कठिन परिस्थितियों में। उस समय कर्बन, उज्जन, ओषजन, नोषजन, गंधक और स्फुर आदि कई मौलिक पदार्थ इस जगतीतल पर पास ही पास मौजूद थे और ताप और चाप की परिस्थिति इनके संयोग के अनुकूल थी। परन्तु आज भी ऐसी अनुकूलता के होते हुए जीवन का बीज न तो कोई उत्पन्न कर सका है और न अपने आप कहीं उपन्न होना पाया

जाता है। लार्ड केल्विन का कहना है कि इस सघात के आरम्भ करने के लिये उस समय किसी उल्का में किसी और मृत ससार के जीवनकण या उस के बीज आ गये होंगे और उन्हीं से यहां के जीवन-सघात का उदय हुआ होगा। इस में सदेह नहीं कि उल्कापात की बदौलत, जो पृथ्वी पर भयानक अधिकता से होता रहता है, करोड़ों मन धूल और अनेक तरह के पदार्थ इकट्ठे होते जाते हैं। और यह उल्का वस्तुत: किसी मरे हुए ब्रह्माड की सामग्री है जो छिन्न भिन्न होकर और अनन्त देश को पार कर अनन्त देश और अनन्त काल की यात्रा पूरी करके हमारे ससार को समृद्ध कर रही है। इसी उल्का से हमारे ससार में यदि जीवन के कण भी इसी सामग्री में मिलकर आये हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। परन्तु जीवन का वास्तविक उदय किसी और ब्रह्माड में हुआ होगा अथवा मूलप्रकृति के मूल परमाणुओं की तरह जीवन के परमाणु भी अनादि अनन्त हैं और सृष्टिक्रम की अनुकूल अवस्था में जड परमाणुओं की तरह उन का

चित्र ६२—लार्ड केल्विन [सं० १८८१—१९६४ वि०]

भी विकास होता है। इन दोनो मे कोई अनुमान ठीक है, या नहीं, ऐसा भी कहा नहीं जा सकता। परंतु इस मनोधारणा से कि हम धरती पर किसी और ब्रह्माड से जीवन के कण— और सामग्री के साथ,—यहा आये, इतना अवश्य निश्चय हो जाता है कि इस भूतल पर जीवन का उदय किस प्रकार हुआ। परन्तु उस के वास्तविक जन्म या आरम्भ का प्रश्न ज्यों का त्यों रह जाता है। निदान यह पता नहीं कि जीवन का आरम्भ कब और कैसे हुआ।

करके अपने शरीर की सामग्री तैयार करने लगे। स्वभाव से ही पौधे अपने शरीर के भीतर अपनी जरूरत से-ज्यादा पोषक पदार्थ बनाया करते है। परतु छिद्रोज के थैले मे बद रहने के कारण वह चल फिर नही सकते और व्यायाम के अभाव मे उन की शक्ति कम खर्च होती है और इस तरह वह जितनी कमाई करते हैं उतना खर्च नहीं कर पाते। साथ ही अपने शरीर से त्याज्य कूड़ा कर्कट मैला आदि वह दूर नहीं कर पाते। शायद इसी से वह सुस्त बने रहते है। इसी के विपरीत जन्तुओ का भोजन बड़ी मात्रा मे कबोज (मड और शर्करा) और प्रत्यामिन या प्रोटीन (ग्लूटन अलब्युमेन और केसीन) है जो आरभ मे वह उद्भिज्जो से और फिर और जन्तुओ से लेते हैं। उन के कण या शरीर छिद्रोज सरीखे किसी कोष के भीतर बद नहीं रहते और अधिकाश जन्तुओ मे हर तरह की गति की स्वाधीनता है। इसी लिये जन्तु जितनी कमाई करते है लगभग उतना ही खर्च भी करते हैं। कोई कोई बड़ी उदारता से खर्च करते हैं और काफी आमदनी भी कर लेते हैं। ऐसा मालूम होता है कि वनस्पति ससार बारूद तैयार करता है और जन्तु ससार उसे छोड़ता रहता है। इस प्रकार जानवरो की सारी दुनिया सूर्य के किरणो द्वारा बनाये हुए कणो पर जी रही है। जीवन के आरभिक काल मे इसी लिये शायद वनस्पतियो का विकास पहिले हुआ जिसमे कि आगे होनेवाली जानवरो की सृष्टि के लिये खाने की सामग्री की कहीं किसी तरह कमी न रहे। इसी लिए आरभ मे जो थोड़े से जन्तु भी बने वह भी सुस्त और प्रायः गतिहीन बने। गतिहीन प्राणियो को "अचर" और गतिवाले प्राणियो को "चर" कहते हैं। इसी लिए चराचर शब्द से सारे ससार का बोध होता है। आरभिक चर प्राणियो को भी मलमूत्र विसर्जन करने की आवश्यकता न थी और अधिकाश इतनी कम गतिवाले थे कि चर होते हुए भी उन्हे अचर कहना अनुचित न होगा। स्पज मूगा समुद्रफेन आदि इसी तरह के जन्तुओ के उदाहरण है जो चर होते हुए भी अचर हैं। यह वनस्पतियो की तरह एक ही जगह पर उगकर बढते हैं। अचर पौधा में भी थोड़ी बहुत गति है। जैसे हर पौधा अपनी जड़ो को दसो दिशाओं मे फेकता है और लताएँ तो नसो के सहारे पकड़ते हुए जिधर को अनुकूलता पाती है बढती जाती हैं। इस तरह अचर मे भी कुछ न कुछ चर के गुण मौजूद है। आरभ मे जीवन की दशा ऐसी थी कि चर और अचर मे भेद करना असभव था! भेद की इतनी कमी होते हुए भी आरभ से ही दोनो खानियो या आकरो का विकास भिन्न-भिन्न दिशाओ मे हुआ। आरभ से वनस्पतियों की हरियाली की वह शक्ति जिससे की वनस्पति का शरीर बनता है वह काम करती आयी है जिस पर आज कल की सारी सभ्यता निर्भर है।

अनेक युगों तक सारी पृथ्वी जल से ढकी रही और उस आदि युग की वनस्पति केवल बहनेवाली हरियाली या काई से अधिक कोई चीज नहीं थी। परंतु काल पाकर धरती धीरे धीरे सिकुड़ती गयी और समुद्र की तह के भीतर ऊँचाई और नीचाई बनती गयी। कहीं बहुत गहरे गड्ढे हुए और कहा ऊँची चट्टाने बन गयी जिनसे की पानी छिछला हो गया और बढते हुए पौधे ऐसी जगहो पर इकट्ठे होने लगे और बिल्कुल ऊपरी तल पर न रहते हुए भी रोशनी पाने लगे। पहले इन्हीं छिछली जगहो मे सिवार आदि की तरह

के सामुद्रिक पौधों का विकास हुआ। इन छिछली जगहों से धीरे-धीरे पानी हटने लगा और धरती ऊपर को उठने लगी। होते-होते सूखी धरती निकल आयी, और किनारे पर होनेवाले सवार आदि बढ़े। इस सूखी धरती पर भी इन जलीय पौधों को बढ़ने का मौका मिला क्योंकि धरती बहुत आर्द्र थी और नीचे जल का समुद्र ही था। धीरे धीरे सूखी धरती बढ़ी और पौधे भी बढ़ने लगे। आरम्भ की सूखी धरती ज्यों-ज्यों जल से बाहर उठती जाती थी त्यों त्यों उसके ऊपर उस प्राचीन रूप के स्थलीय पौधे भी विकास पाते जाते थे।

स्पंजों से नीचे की कोटि के जन्तु प्राथमिक जीव कहलाते हैं। आज लोग जिन्हें प्राथमिक जीव समझते हैं उनके शरीर की रचना इतनी विषम और विकट है कि बिलकुल स्पष्ट है कि यह वस्तुतः "आदि जीव" नहीं हैं। वास्तविक आदि जीव के शरीर में एक से अधिक कण या कोष या सेल न होना चाहिये। आज कल के प्राथमिक जीव बिना अनुवीक्षण यन्त्र के देखे तो नहीं जा सकते पर उन के शरीर एक कण या सेलवाले होते हुए भी स्वयं ऐसे महल हैं जिनकी रचना में आदि जीवों की ईंटें लगी होंगी। अनुवीक्षण यंत्र से भी आदि जीवका पता नहीं लग सकता था।

यह आरम्भिक आदि जीव तीन जातियों में बँटे हुए कहे जा सकते हैं।

(१) कुछ तो बड़े ही चञ्चल और कर्मशील थे जिन्हें हम क्वाथ जीवी* कहेंगे। इन्हीं में से आजकल की एक जाति ऐसी होती है जो रात को रोशनी देती है और एक जाति भयंकर निद्रा-रोग उत्पन्न करती है जिस में आदमी सोते-सोते मर जाते हैं।

(२) दूसरे प्रकार के आदि जीव बड़े सुस्त होंगे। इन्हीं की जाति में से परमत्वाद* रेणु-जीवी होते हैं जैसे कि मलेरिया का वह कीटाणु जो मच्छर के दंश के साथ मनुष्य के शरीर में प्रवेश करता है।

(३) तीसरी जाति ऐसी थी जो न बहुत चञ्चल थी न बहुत सुस्त। इन्हीं में से मूलपदी* होते होंगे जिन में कि जीवित पदार्थ बनते और निकलते रहते हैं। इसी की एक जाति अमीबा है जिस की चर्चा हम पहिले कर चुके हैं। और वह कीटाणु भी हैं जो खड़िया मिट्टी और चकमाक के से पदार्थ अपने शरीरद्वारा बनाते हैं।

एक कणवाले प्राणियों से अनेक कणवाले प्राणियों का बनना एक बहुत भारी बात थी। परन्तु अत्यंत प्राचीन युग में इन एक कण या सेलवाले जीवों में से ही स्पंज और डसनेवाले और साधारण कीड़े बन चुके थे। यह पहले ही शरीर होंगे जिन की तैयारी में असंख्य कणरूपी ईंटें जोड़ी गयीं। ठीक-ठीक किस प्रकार यह क्रिया हुई यह कोई नहीं जानता।

---

* क्वाथजीवी को अंग्रेज़ी में Infusoria कहते हैं, रेणुजीवी को Sporozoa कहते हैं और मूलपदी को Rhizopods कहते हैं।

४—प्राथमिक जीव

अमीबा के टुकड़े हो जाते हैं और हर टुकड़ा अलग-अलग जीवन बिताता है। परंतु कुछ प्राथमिक जीव ऐसे हैं जिन से बन-जानेवाले सजीव टुकड़े एक दूसरे से मिले-जुले रहते हैं, बिलकुल अलग नहीं होते। इस तरह यह कण या सेल एक शरीर सा बनाते हैं, परंतु यह एक ही प्रकार के कण या सेलवाले शरीर होते हैं। कुछ प्राथमिक जीव ऐसे भी होते हैं कि उन के एक (सेल) कण के भीतर का बीज उसी (सेल) कण में अनेक बीजों में बँट जाता है। यदि इन का जीवित पदार्थ हर बीज के चारो ओर इकट्ठा हो जाय तो इसे ही शरीर बनने का आरंभ समझना चाहिये। किसी रचना में अगर काम और अधिक बँट जाय और अंडेवाले और वीर्यवाले सेल मिलकर अलग स्वतन्त्र-रचना में लग जायँ तो समझ लेना चाहिये कि साधारण शरीर की रचना आरंभ हो गयी। वैज्ञानिकों का यह अनुमान है कि पहले-पहले पौधों और जंतुओं के शरीर इसी तरह बने होंगे। यह बात भी विचारने की है कि स्त्री के एक ही डिंब-सेल में पुरुष के एक सेलवाले वीर्याणु के प्रवेश से आरंभ होकर स्पज से लेकर मनुष्य तक के शरीर की रचना होती है। इस से यह प्रकट है कि शरीर के के बनाने में विविध प्रकार और जाति के कण मिलते हैं और संघठन मे अपना अपना उचित स्थान लेते हैं। यह बात भी बिसराने की नहीं है कि कोई साधारण कण या सेल विकास पाकर केंचुवा या तितली या हम या मनुष्य नहीं बना सकता। जो कण जिस तरह के प्राणी को बनाता है उस कण में युगों से और कल्पों से कुछ ऐसे सस्कार या कारण उपस्थित रहा करते हैं जिन से कि उस विशेष प्रकार के प्राणी को छोड़ कोई दूसरा प्राणी बन ही नहीं सकता। यह संस्कार किसी अज्ञात रीति से युगों की इकट्ठी की हुई उन्नति और विकास को बीज रूप से उस कण में धारण करता है। इन बीजाणुओं के बिलकुल अलग-अलग विशेषता रखने का कारण अत्यन्त प्राचीन युगों से होते आनेवाले विकास के गर्भ में छिपा हुआ है। इस का पता अभी विज्ञान नहीं लगा सका है।
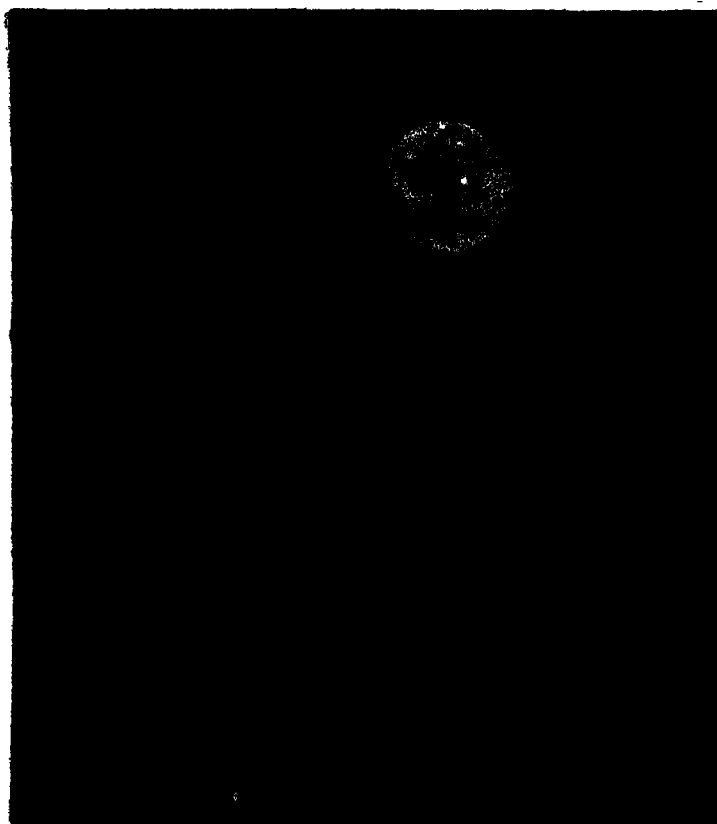
चित्र ३७—चन्द्रमा का एक दृश्य

गिन कम्पनी की कृपा] [सौर-परिवार से

चन्द्रमा के किसी ज्वालामुखी पर्वत से पृथ्वी कैसी देख पड़ेगी, इस बात का काल्पनिक चित्र।

[विज्ञान हस्तामलक, पृ० १०२ के सामने]

पांचवां अध्याय

जीवन का आरंभिक विकास

१—दाम्पत्य-जनन

जैसा हम पहिले कह चुके हैं अमीबा की तरह के प्राथमिक प्राणी जैसे बढ़ते हैं और बढ़कर अलग-अलग प्राणी बन जाते हैं उसी तरह जीवन के उदय के समय भी जीवों के आदि कण पहिले लबोतरे होते थे और फिर धीरे-धीरे अपनी अधिक-से-अधिक बाढ़ को पहुंचकर दो या अधिक टुकड़ों में बट जाते थे जिन से कि आदि प्राणियों की संख्या बढ़ती जाती थी। यह एक कणवाले प्राणी बढ़ते बढ़ते बहुत बड़े क्यों न होते गये ? उन की बाढ़ क्यों रुक गयी ? प्राणियों की संख्या बढ़ने के लिये यदि इस तरह जल्दी जल्दी टूटकर अलग होने की आवश्यकता थी तो इन आदि जीवों के बहुत बड़े हो जाने पर टूटकर अलग हो जाने में क्या बाधा थी ? इन प्रश्नों का उत्तर विज्ञान यों देता है कि इन शरीर-धारियों का पोषण जल में घुले हुए नमकों से होता है जिसे यह अपने शरीर के ऊपरी तल के द्वारा बराबर खींचते और सोखते रहते हैं। जब शरीर बढ़ता है तब उस की भीतरी सामग्री बाहरी तल की अपेक्षा बहुत ज्यादा बढ़ती है। पोषण की सामग्री ऊपरी तल या त्वचा से ही पहुंचती है। यह ऊपरी तल जब तक कि भीतरी सामग्री के पोषण के लिये काफी भोजन खींचकर पहुंचाता रहता है तब तक शरीर बढ़ता जा सकता है। परंतु जब शरीर की सामग्री इतनी ज्यादा बढ़ जाती है कि त्वचा के द्वारा सोखा हुआ भोजन उस के लिये काफी नहीं होता तो शरीर का आगे बढ़ना बंद हो जाता है। इसी लिये कोई शरीर अपने निश्चित परिमाण से बाहर बढ़ नहीं सकता। आदि कणों या अमीबा जैसे प्राणियों के बढ़ने में भी यही बात लगती है।

आरंभ के शरीर सीधे-सादे थे। त्वचा के सिवाय और कोई इंद्रिय न थी और प्रबंध ऐसा था कि पोषण के लिये जिन वस्तुओं की जितनी आवश्यकता थी वही और उतनी ही जल में से खींच ली जाती थी। किसी पदार्थ के त्यागने की जरूरत न पड़ती थी। इसलिये

शरीर के भीतर से मल-त्याग का झंझट न था। परन्तु आगे चलकर जब जीवन का विकास होने लगा, जब अनेक जीवकणों के सहारे शरीर बनने लगे, जब उस पहली सादगी से हट कर शरीर की रचना में विषमता आयी, काम बढ़ा, तो विविध जीवकणों को भिन्न-भिन्न काम करने पड़े। आदि युग में इन आदि प्राणियों का शरीर बढ़ता था। और बढ़कर अनेक प्राणियों में परिणत हो जाता था। यह अयोनिज सृष्टि थी। स्त्री-पुरुष का भेद अभी तक पैदा नहीं हुआ था। परन्तु विकास-क्रम में इस आसानी से काम चल नहीं सकता था। यह संभव न था कि एक गौरैया या एक कोयल बढ़ कर दो गौरैया या दो कोयल हो जाय। यदि अयोनिज रचना का यही क्रम बड़े जीवों के उपजाने में रहता तो उपजानेवाले जीव में जितने दोष होते वे उपजे हुए जीवों में भी पाये जाते और विकास या उन्नति के मार्ग में यह भारी बाधा पड़ जाती। इसलिये जब काम बढ़ा और शरीर की रचना में अनेक तरह के जीवकण लगने लगे तब एक प्रकार के जीवकण डिंब या अंडेवाले हुए और दूसरे प्रकार के जीवकण वीर्याणु या बीजवाले हुए। और जब अंडेवाले कण या डिंबाणु में वीर्याणु या बीजवाले कण ने प्रवेश किया तो दो मिलकर एक सेल बन गया और एक नयी व्यक्ति के लिये उस ने शरीर की बुनियाद डाली, जिस के चारों ओर और और प्रकार के जीवकण इकट्ठे हो हो कर उस के विविध अंग बनाने लग गये। डिंबाणु स्त्री का पहिला रूप हुआ और वीर्याणु पुरुष का पहिला उपादान हुआ। स्त्री पुरुष का इस तरह का भेद पहिले पहल इन जीवकणों के द्वारा पैदा हुआ। अब तक जो अयोनिज सृष्टि होती थी योनिज हो गयी। परन्तु इस से यह न समझना चाहिये कि जिन डिंबाणु और वीर्याणुओं ने नयी व्यक्ति के शरीर की रचना में मिलकर उस की बुनियाद डाली वे उस शरीर के भीतर और कुछ करने लगे। यह जीवकण अपने सरीखे जननकणों की रचना करने में लग गये। जिन शरीरों में डिंबाणुओं की रचना की विशेषता हुई वह स्त्री-शरीर कहलाये और जिन में वीर्याणु की विशेषता हुई वह पुरुष-शरीर कहलाये। जब वह शरीर प्रौढ़ हुआ तो इन्हीं जनन-कणों ने मिलकर वैसे ही अनेक शरीरों की बुनियाद डाली।

प्रकृति में इस रीति के चल जाने से बहुत से लाभ हुए और जीवन का विकास सहज और सुगम हो गया।

(१) पहिला लाभ तो यह हुआ कि प्रजा की उत्पत्ति में खर्च कम पड़ने लगा क्योंकि आधे शरीर को अलगा देने की अपेक्षा पानी में जनन-कणों को छोड़ देना अधिक सुभीते की बात है।
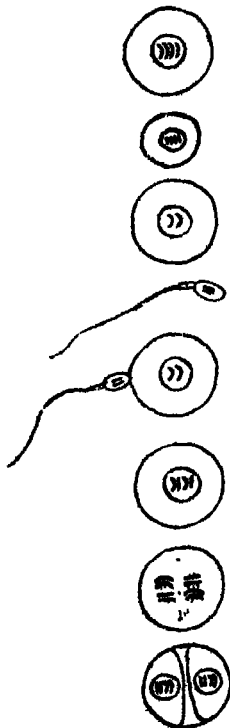
(२) दूसरा सुभीता यह हुआ कि इस विधि से एक बारगी बहुत से नये जीव बन सकते हैं और यह उस समय बड़े महत्व की बात है जब जीवन का रगड़ा बड़ा विकट हो और जननी-जनक द्वारा रक्षा असंभव हो।

(३) तीसरा सुभीता यह है कि जननी-जनक के शरीर में जो दोष मौजूद हैं उन के जनन-कणों में आ जाने की बहुत कम संभावना होती है।

(४) चौथा लाभ यह है कि जनन-कण दो प्रकार के हो गये, एक प्रकार, डिंबाणु में तो भोजन और बढ़ने की सामग्री में प्रचुरता हुई, परन्तु यह जनन-कण अचर हुआ।

दूसरा प्रकार वीर्याणुओं का हुआ जो चर प्राणी हैं, जलों और रसों में चल-फिर सकते हैं और दूर से डिंबाणु का पता लगा सकते हैं और इस तरह विकास में जो भिन्न जनन-कणों के मिलने से सुभीते होते हैं वह सहज हो गये।

स्त्री-पुरुष में जो अंतर पैदा हो गया वह भी विकास-क्रम में बड़े महत्व की बात हुई। एक ही घोसले के भीतर दो अंडे हो उन में से एक से नर बच्चा हो और दूसरे से मादा, तो जरूर ही अंडो के भीतरी संगठन में गहरा भेद होगा। किसी-किसी प्राणी के अंडो में भी अंतर होता है।

चित्र ६३—व्यक्तिगत जीवन का आरंभ

प्रोफेसर रिडिल का कहना है कि कबूतरों के अंडे नर और मादा दो प्रकार के होते हैं। परंतु कोई-कोई प्राणी ऐसे भी होते हैं कि बाहर से उन में स्त्री और पुरुष का कोई भेद नहीं दीखता परंतु असल में एक मादा होती है जिस के डिंबाशय होता है और दूसरा नर होता है जिस के वीर्यकोष होते हैं। इस भेद का कोई विशेष प्रभाव सारे शरीर के गठन में नहीं पड़ता; केवल जननेंद्रियों पर ही इस भेद का विशेष प्रभाव पड़ता है।

बहुत से शरीरों में स्त्री और पुरुषों का ऊपरी भेद भी होता है जैसा कि आम तौर पर लोग मुर्गा मुर्गी या बारहसिंहा और उस की हरिनी में देखते हैं। इन प्राणियों के शरीरों में पुरुषपन और स्त्रीपन का प्रभाव एकदम समा गया है। जान पड़ता है कि जननेंद्रियों की ओर से रक्त के प्रवाह में सारे शरीर में कुछ सूक्ष्म पदार्थ ऐसे फैलते हैं जो रूप में, शब्द में, व्यवहार में और रहन-सहन तक में अंतर डाल देते हैं। कहीं-कहीं स्त्री में पुरुषपन का और पुरुष में स्त्रीपन का भाव गुप्त पाया जाता है। यह बहुत संभव है कि किसी मुर्गी में मुर्गे का भाव अधिक हो और किसी मुर्गे में मुर्गी का भाव अधिक हो।

२—जीवन के लक्षणों का विकास

हमने देखा की जीवकण भोजन करते हैं, बढते हैं, अपनी प्रजा या संतान को बढाते हैं, और विकसित अवस्था में शरीर से मल का त्याग भी करते हैं। यह बातें जीवन के संबध में सभी जगह देखी जाती हैं। परंतु जैसे हमने आदिम प्राणियों का जन्म लेना देखा वैसे ही यदि आदिम नहीं तो विकसित प्राणियों का ही मरना भी हम देखते हैं। मरने से कोई बच नहीं सकता। मरते सभी प्राणी हैं। इस लिये सभी प्राणियों का या जीवन-मात्र का एक पांचवा लक्षण मरण भी समझना चाहिये।

विशेष रूप से मरना तीन तरह से हुआ करता है।

(१) प्राणियों की अधिकाश संख्या हिंसा से ही मरती है, या तो दूसरे उसे खा जाते हैं या उन की परिस्थिति में एक-बारगी बहुत फेरफार होने से वे मर जाते हैं।

(२) जब वह नयी परिस्थिति में पहुंचते हैं तो और प्राणियों के साथ उन्हें रहना पड़ता है ऐसी दशा में बहुत बार कीटाणु या परसत्वाद उन्हे लग जाते हैं। उन से छूटने का उपाय न जानने के कारण उन की मृत्यु हो जाती है।

(३) तीसरा प्रकार साधारण मृत्यु है। यह भी प्रायः नये शरीर के लिये बलिदान सा समझना चाहिये। शरीर जब पुराना हो जाता है, तो नित्य की होती हुई मरम्मत अंत में बेकार हो जाती है और बुढापा बाजी मार ले जाता है। कई जानवरों में मृत्यु से ही आगे की संतान होती है। इसलिये मरने में ही सुभीता है।

यह एक अचरज की बात है कि आदि जीवकण स्वाभाविक मृत्यु से मरते नहीं जान पड़ते। उन की रचना इतनी सीधी सादी है कि उन के लिये मरम्मत और आराम काफी है और प्रजा की वृद्धि में भी वे बड़ी जल्दी एक से अनेक होते हैं। इस लिये उन के जीवन की कोई हानि नहीं होती। इनसे अमरता का भी विकास दिखाई पड़ता है। और कुछ जीव ऐसे भी हो सकते हैं जो मृत्यु से बच सकें। जैसे मूंगों का वह कीड़ा पल्वल कीट (पालोलो वर्म) जिस का शरीर तो जननकणों के विसर्जन में लग जाता है पर सिर मूंगों की एक दरार में पड़ा रह जाता है और समय पाकर अपने लिये नया शरीर उगा लेता है। इसी विकास में दीर्घजीवी होने के भी सब तरह के उपाय शामिल हैं।

३—शरीर के अवयवों का विकास

विकास का क्रम ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है त्यों-त्यों प्राणियों में जीवन की इन पांचों आवश्यकताओं के सिवाय और और विशेषताएं भी आती जाती हैं। आरंभ में शरीरों की रचना इस ढंग की होती थी,—प्रायः गोलाकार,—कि जिधर से चाहो उधर से आया कर ला परंतु इस तरह की रचना अचर प्राणियों की हो हो सकती थी। चरों को तो किसी-न-किसी दशा में चलना ही था इस लिये वह अपने शरीर का एक भाग आगे करके चलने लगे। यही सिर हो गया और शरीर में दहना बायां भाग भी बन गया। अब शरीर की लम्बी डील होना जरूरी हो गया। इसी तरह सिर में दिमाग का बनना भी शुरू हुआ। धीरे-धीरे सिर का विकास हुआ, इंद्रियों का विकास हुआ, पाचन और शोषण-संस्थान बने, रक्त और रक्त-संस्थान बने, मांस-पेशियों के बंधन और हिलाने-डुलाने की नाड़ियां बनीं, शरीर में इंद्रियों के नाड़ीजाल का ताना-बाना तन गया। और विशेष कर रीढ़वाले प्राणियों के शरीर में भीतरी रसों को बनानेवाली गांठें बन गयीं जो वह सूक्ष्म रस बनाती हैं जिन्हें हारमोन कहते हैं जो रक्त के साथ शरीर भर में चक्कर लगाते हैं और प्राण की क्रिया को सुसंगत रखते हैं।

इन में से कुछ ऐसे भी हैं जो शरीर के विशेष भागों को बनाते हैं, जैसे दूध पिलानेवाले प्राणियों में दूध की ग्रंथियां।

सोच-विचारकर सुख-दुःख की प्रतीति और अनुभव, और इच्छा-शक्ति जो हमारे जीवन की विशेषताएं हैं, कब और किस प्रकार वे जीव में पहले-पहल पैदा हुईं, कहना बहुत मुश्किल है। यह बात तो पक्की है कि बीज रूप से यह मानसिक शक्तियां जीवन की आदिम अवस्था में उसी तरह मौजूद रही होंगी जिस तरह वशिष्ट व्यास कालिदास और तुलसीदास जैसे विशाल बुद्धि और विवेकवाले लोगों के विकास के बीज उन के अत्यंत अबोध लाचार नवजात शिशु-शरीर में मौजूद थे। वास्तव में बहुत से हेतु ऐसे हैं जिन से इस नतीजे पर पहुंचना पड़ता है कि जहां-कहीं जीवन है वहां मानसिक शक्ति की कोई न कोई मात्रा अवश्य मौजूद है। पौधे तक मानसिक शक्तियों से सर्वथा रहित नहीं हैं।

४—मन का विकास

विकसित प्राणियों में यह विशेषता देखी जाती है कि वह बात-बात में परीक्षा करते हैं और जब चूक जाते हैं तो उस भूल-चूक से सीखते हैं। प्रत्येक प्राणी अपने को अनुकूल या प्रतिकूल दशाओं से घिरा हुआ पाता है। इन दशाओं को परिस्थिति कहते हैं। हर प्राणी को किसी न किसी परिस्थिति से मुकाबला करना पड़ता है, जूझना पड़ता है। वह जिधर बढ़ता है उधर कभी तो उसकी गति में रुकावट नहीं पड़ती और कभी उसे ठोकरें खानी पड़ती हैं। जहां उस की गति रुकती है या ठोकर लगती है वहां झट वह पीछे को हटता है और अपने को संभाल लेता है। वह प्रत्येक गति में अपनी राह को परखता है और हर ठोकर से वह सीखता है। मार्ग बदलने पर भी जब-जब उसे रुकावट होती है तब-तब वह

मुड़ता है और भूल-चूक से हर बार नयी बात सीखता है। यह बात बहुत छोटे-छोटे प्राणियों में भी देखी जाती है कि उन को छेड़ा जाय तो वह छेड़-छाड़ का किसी न किसी तरह का उत्तर अवश्य देते हैं। जब सफलता होती है तब प्राणी उत्साह से आगे बढ़ता है।

किसी क्रिया का यदि उत्तर मिले तो उसे प्रतिक्रिया कहते हैं। कोई कीड़ा रेंग रहा हो उसे ज़रा सा किसी तिनके से छू दीजिये तो वह तुरंत मुड़ जाता है, दोहरा हो जाता है, अपनी दिशा बदल देता है या भागने लग जाता है। यह प्रतिक्रिया हुई। उदाहरण के लिये एक केंचुए को लीजिये। एक चिड़िये के पैर की धमक से जो उस के फुदकने से धरती में पैदा होती है केंचुए के नाड़ीजाल को खबर हो जाती है और वह तुरंत सुकड़ जाता है। ज्ञाननाड़ी और कर्मनाड़ी दोनों केंचुए में भी बिजली की तेजी से काम करती हैं। इन नाड़ियों का विकास भी आदि प्राणियों से होता हुआ हम लोगों की दशा को पहुंचा है।

५—अभिमुखता या बान पड़ जाना

प्रत्येक शरीर और उस के इंद्रियों को धरती के खिंचाव और जल-मंडल या वायु-मंडल के दबाव का, धाराओं का, आर्द्रता का, सर्दी और गर्मी का, प्रकाश का, बिजली का और छूनेवाले तलों का मुकाबिला करना पड़ता है और इन के प्रभाव को सहकर भी अपनी सत्ता की रक्षा करनी पड़ती है। इसी रक्षा के उद्देश्य से स्वभाव से ही हर एक शरीर में इन के सहने की और इन की बढ़ती-घटती के अनुसार अपनी अवस्था को बनाये रहने की ज़रूरत पड़ती है। इस के लिये हर एक प्राणी लाचार होकर अपनी गति-विधि अनुकूल बनाता है। इसी को "अभिमुखता" कहते हैं। इसी अभिमुखता से न केवल प्राणी अपनी रक्षा करता है, बल्कि परिस्थिति के अनुसार उस का विकास भी होता है। परंतु यह शारिरिक सामंजस्य प्रकृत अवस्था में ही स्थिर होता है। अस्वाभाविक अवस्था में भी सामंजस्य की स्थापना करने को शरीर अभिमुख होता है। पतंग जब दिये को देखता है तो उस की एक ओर की ही आंख में प्रकाश जाता है। दूसरी आंख में प्रकाश डालकर सामंजस्य लाने के लिये वह प्रकाश की ओर उड़ता है। स्पृहा के मोह में वह बहुधा दीप-शिखा में जल मरता है। यदि प्रकाश इतने फैलाव में हो कि उस की दोनों आंखें प्रकाशित हो जायँ तो वह इस धोखे में न आये। प्रकृति में उसे इस विषम अवस्था का कभी अनुभव नहीं होता। उस की परिस्थिति में दीपशिखा बिल्कुल कृत्रिम है और इस अस्वाभाविकता से उस की आदत पड़ जाने की आशा उस से कोई नहीं कर सकता।

६—नैसर्गिक व्यवहार

प्राणियों के विकास के तिर्यक्* धरातल की ऊपर जानेवाली राह में प्राणियों का नैसर्गिक स्वभाव अद्भुत रीति से विकसित दिखाई पड़ता है। चीटियों में, मधुमक्खियों में,

* भारतीय प्राचीन विद्वानों ने सब प्राणियों को ऊर्ध्व, तिर्यक् और अर्वाक् इन तीन स्रोतों में बांटा है। ऊर्ध्व सीधे खड़े होनेवाले मनुष्यादि प्राणी हैं। अर्वाक् वृक्षादि एवं औषधि हैं। शेष तिर्यक् स्रोत में गिने जाते हैं।

और भिड़ों में ऐसी योग्यता देख पड़ती है जो बिल्कुल भीतरी है और जिसे सीखने की ज़रूरत नहीं पड़ती। यद्यपि यह अभ्यास और अनुभव से बिल्कुल स्वतंत्र है तथापि इन दोनों से उन के व्यवहार में सुधार हो सकता है। एक ही जाति के नरों में एक सी योग्यता पायी जाती है। मादों की योग्यता नरों की योग्यता से प्रायः भिन्न हुआ करती है। चींटियां, मधुमक्खियां और भिड़ें जन्मते ही अपने-अपने स्वाभाविक काम में अद्भुत चतुराई और होशियारी से लग जाती हैं। उन्हें सीखने की कोई ज़रूरत नहीं पड़ती। साधारण शरीर-विज्ञान की दृष्टि से तो जान पड़ता है कि मानो उन का सारा काम भीतर से प्रेरित होनेवाली एक तरह की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। परंतु कई बातें ऐसी देखने में आती हैं जिनसे लाचार हो यह मानना पड़ता है कि वह जो कुछ करते हैं उस से वह सचेत हैं और उसे पूरा करने से लिये जान-समझकर प्रयत्न करते हैं। जब कोई विशेष अवस्था आ जाती है जो उन की साधारण परिस्थिति में अंतर डाल देती है या उन के काम में बेसोची हुई आकस्मिक रुकावट आ जाती है तब वह ठीक उपाय करके परिस्थिति का मुकाबिला करते हैं और अपने काम में सफल होते हैं। परन्तु असफलता के भी बहुत से अवसर आ पड़ते हैं जिन से वह शिक्षा भी ग्रहण करते हैं। यह बात ऊपरवाले प्राणियो में अधिक देखी जाती है। अण्डजो में पक्षी और पिण्डजो में पशु अनुभव से बहुत सीखते हैं। पर जिस तरह चींटी आदि छोटे प्राणियो में नैसर्गिक बुद्धि की अधिकता है और विवेक का बहुत ही थोड़ा-थोड़ा विकास देखा जाता है उसी तरह बड़े प्राणियो में विवेक की बढ़ती हुई मात्रा के साथ साथ कभी-कभी नैसर्गिक व्यवहार के काम भी विवेक का स्थान ले लेते हैं। शायद कोई नैसर्गिक व्यवहार विवेक की यत्किंचित मात्रा के बिना न होता हो और विवेक का कोई काम नैसर्गिक बुद्धि के बिना न होता हो। पुराना ख्याल तो ऐसा है कि नैसर्गिक बुद्धि पहले के विवेक का जमा हुआ ठोस रूप है। अथवा विवेक से आचरण करते-करते जब वह आचरण स्वाभाविक हो गया तो उस ने नैसर्गिक बुद्धि का रूप ग्रहण कर लिया। यह बात मनुष्य के साधारण जीवन में देखी भी जाती है। परन्तु यह इस प्रसिद्ध अनुमान पर कहा जाता है कि व्यक्तियो के अनुभव से जाति की-जाति लाभ उठाती है। परंतु अब के विकासवादी निश्चय-पूर्वक नैसर्गिक बुद्धि और विवेक दोनो का विकास अलग-अलग मानते हैं।

७—समझ-बूझ

तिर्यक् मार्ग में और ऊंचे चढ़ने पर सच्ची समझ-बूझ या बुद्धि दिखाई पड़ती है। जान पड़ता है कि बड़ा प्राणी इंद्रियों से अनुभव करके कुछ नतीजा भी निकालता है। केवल अनुभव से ही लाभ नहीं उठाता बल्कि सोच-विचार से भी सीखता है। समझ-बूझ के जितने काम होते हैं उन में आपस में, और उन के करनेवाले प्राणियों में, बहुत अंतर दिखाई पड़ता है।' इन कामों मे फेरफार होने पर भी या परिस्थिति के बदल जाने पर भी कठिनाई नहीं पड़ती और सहज ही ठीक कर लिये जाते हैं। नैसर्गिक बुद्धिवाले काम का क्रम ज़रा भी बदला कि करनेवाला प्राणी बिलकुल किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो जाता है।

इस तिर्यक् मार्ग के सब से ऊंचे शिखर पर पहुंचे हुए मनुष्य प्राणी में भीतरी नैसर्गिक बुद्धि अंतरात्मा के आदेश या भीतरी अविज्ञात कर्म करनेवाले मन की प्रेरणाओं में
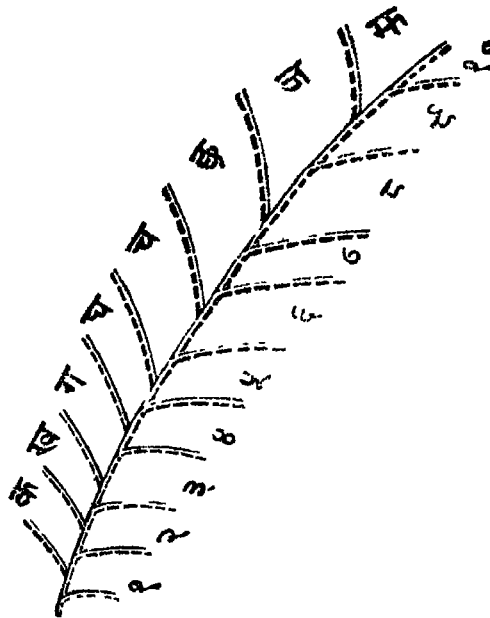
चित्र ६४—प्राणि-स्वभाव की तीर्य्यक गति। बुद्धि और विवेक का विकास

[परिषत् की कृपा

तिर्य्यक् रेखा का ऊपरी भाग विवेक और निचला भाग सहज बुद्धि प्रकट करता है। ऊपरी भाग में (क) उद्योग (ख) साधारण जांच (ग) जांच और चूक की विधि (घ) बेसमझी की जांच (च) जांच से सीखना (छ) प्रसंग से सीखना (ज) समझदारी का बर्ताव (झ) विवेकयुक्त आचरण (मनुष्य में)।

निचले भाग में (१) परिस्थिति के साथ प्रतिक्रिया (२) बाह्य-प्रदर्शित प्रतिक्रिया (३) सरल प्रतिक्रियात्मिका क्रियाएं (४) मिश्रित प्रतिक्रियात्मिका क्रियाएं (५) आभिमुख्य (६) बाह्य प्रदर्शित अनुक्रियाएं (७) सरल निसर्ग (८) शृंखलाबद्ध निसर्ग (९) विवेक से प्रभावित नैसर्गिक क्रियाएं (१०) अन्तरात्मा की अंतः प्रेरणा (मनुष्य में)।

अत्यंत प्रबल देखी जाती है। वह इंद्रियों से अनुभव करके जो निष्कर्ष निकालता है, बाहरी तजुर्बे से जिन नतीजों पर आता है, उन्हें भीतरी आवाज से जाँचता और परखता है, दोनों का मिलान करता है और फिर अपने व्यवहार के लिये ठीक मार्ग निश्चय करता है। इस दर्जे का विवेक केवल मनुष्य में पाया जाता है।

इस बात में तो संदेह नहीं रह जाता कि ज्यों-ज्यों प्राणियों का विकास होता है त्यों-त्यों उन के शरीर की रचना अधिक-से-अधिक विकट होती जाती है। स्वभाव और यत्नों पर प्राणी का अधिकार बढ़ता जाता है वह अधिक संयमी होता जाता है और अधिकाधिक स्वाधीनता से काम करने लगता है। क्रम से परीक्षा चिंतना वृत्ति और आकांक्षा अधिकाधिक बढ़ती जाती है।

ज्यों-ज्यों विकास की गति में प्राणी ऊपर उठता है त्यों-त्यों संतति की रक्षा प्रकृति की बाहरी परिस्थिति के हाथों से निकलकर माता-पिता के उत्तरदायित्वमें आती जाती है। सृष्टि में प्रजा के द्वारा ही वृद्धि और विकास होता है। प्रजा संतान को कहते हैं और "संतान" शब्द का यौगिक अर्थ है "फैलाने-की-क्रिया।" अंडजों में छोटे-छोटे कीड़े एक साथ लाखों और करोड़ों की सख्या में अंडे देते हैं। पानी में अनेक जंतु इस तरह अनगिनत अंडे देते हैं कि मानो एक विशाल क्षेत्र में बीज बोते हों। संतान की रक्षा के लिए ऐसी दशा में माता-पिता को किसी तरह की चिन्ता नहीं होती क्योंकि बहुत से नष्ट हो जाने पर भी उन में से कुछ अंडे तो ज़रूर बच ही जाते हैं। जो जीव जल और स्थल दोनों से संबंध रखते हैं, वह अपने अंडे जल से बाहर कहीं रेत में छिपा देते हैं। घड़ियाल के बच्चे बालू में से दबे हुए अंडे से निकलने के समय एक विशेष शब्द करते हैं जिसे उन के माता-पिता सुन लेते हैं और तुरंत खोदकर फूटनेवाले अंडों को निकाल लेते हैं। पक्षी अपने अंडों को निरंतर गरम रखते हैं और जब तक बच्चे निकल नहीं आते तब तक बराबर सेवा करते हैं। बच्चों के निकल आने पर वह बराबर रक्षा और पालन-पोषण करते रहते हैं। पंख आ जाने पर उन्हें उड़ना सिखाते हैं और जब तक वह पूरे प्रौढ़ नहीं हो जाते तब तक बराबर उन की देखभाल रखते हैं। ज्यों-ज्यों प्राणी का शरीर इस सृष्टि में बड़ा होता देख पड़ता है त्यों-त्यों संतान के पैदा होने की संख्या घटती जाती है। पिंडजों में तय्यार बच्चे गर्भ से बाहर होते हैं। और उन की देख-भाल, रक्षा और शिक्षा माता-पिता बहुत काल तक करते हैं। संतति-रक्षा का काम परिस्थिति के हाथों से प्रायः एकदम निकल जाता है और माता-पिता पूरे ज़िम्मेदार बन जाते हैं। इस जिम्मेदारी का रूप स्वाभाविक वात्सल्य-प्रेम है। इस वात्सल्य-भाव का उदय तो अंडजों से ही आरंभ हो जाता है और मनुष्य में आकर यह भाव अपनी पूरी ऊंचाई को पहुँचता है। छोटे प्राणियों में अक्सर देखा गया है कि पिता को संतान से प्रेम नहीं है। कई तो अंडों बच्चों को खा जाते हैं।

९—गति का विकास और विकास की गति

यहां तक हम शरीर के विकास का रूप दिखाते आये हैं। अब हम यहां इस बात पर

विचार करेंगे कि सपूर्ण जीवन या शरीर के रूप में इस सृष्टि की गति कहां से कहां तक होती रही है। वैज्ञानिकों का मत है कि जीवित शरीर का आरंभ किसी ऐसी जगह हुआ होगा जहाँ पृथ्वी, जल, तेज और वायु चारों तत्वों का बहुतायत से मेल होगा। ऐसी जगह समुद्र का तट ही हो सकता है। समुद्र के जल से अनेक तरह के नमक, उस में आकर मिलनेवाली नदियों से शुद्ध पेय जल, वायुमंडल से विशुद्ध प्राणकर वायु ओषजन की प्रचुरता और स्थल पर जल से संबंध रखनेवाले उद्भिज, सभी कुछ वैयक्तिक चेतना रखनेवाले प्राणी के लिये आवश्यक हैं। इस तरह की अनुकूल परिस्थिति से प्राणियों के शरीर का आरंभ होकर चारो ओर फैलना स्वाभाविक मालूम होता है।
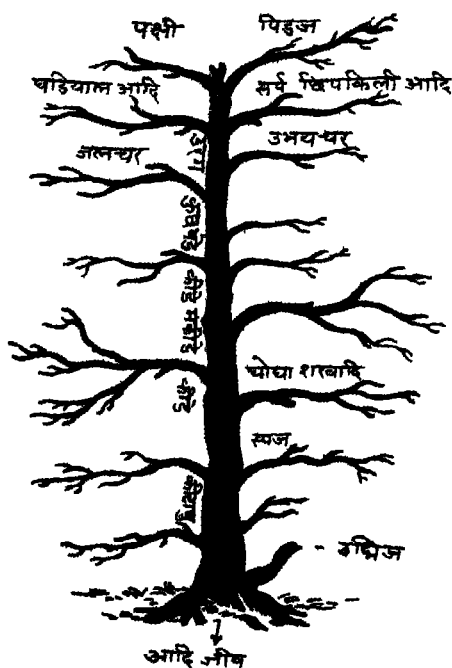
ज्यार्ज ब्यूमन्स की अनुमति से] चित्र ६२—जीवन-वृक्ष [टामस का अनुवर्तन

किनारे पर से जीवन के फैलने के लिये दो बहुत बड़े फैले हुए क्षेत्र मिलते हैं। ए... र जल का अत्यंत विशाल क्षेत्र है और दूसरा सूखी धरती का। जल में बहने और आ... से फैलने की बहुत बड़ी गुंजाइश है। जल के ऊपरी तलपर रहने में हवा और रोशनी भी म... हे परिमाण में मिल सकती है। भीड़-भाड़ का कोई डर नहीं है। बहते हुए सूक्ष्म उ... से भोजन की पूरी सामग्री मिल जाती है। स्थल पर इतने सुभीते नहीं हैं। इसी लिये ... नान किया जाता है कि तट से जीवित शरीर का विकास खुले हुए जल के

विस्तार में आया। उद्भिज्जों का आरंभ तो जल से होकर उन का पूरा विस्तार स्थलपर हो चुका था। इसलिये व्यक्ति शरीर धारियों को उसी मार्ग पर चलने में कोई कठिनाई न थी। इधर जल की गहराई में भी शरीरधारियों के प्रवेश में कोई रुकावट न थी। इसी से दोनों ओर शरीरधारी फैले।

समुद्र में गहराई सब जगह एक सी नहीं है। किनारों के पास बहुत बड़े फैलाव तक समुद्र का पानी गहराई में अत्यंत कम है। इस छिछले पानी में बढ़ते-बढ़ते अधिक से अधिक गहराई में शरीरधारी प्राणी पहुँचे होंगे। परंतु गहिरे समुद्र की क्या दशा है? वह अत्यन्त शीत की जगह है जहा गरमी का कभी प्रवेश नहीं होता। घोर अंधकार वहा सृष्टि की आदि से बना हुआ है। प्रकाश वहा पहुंच नहीं सकता। ढाई हज़ार पोरसों (पुरुषों) की गहराई पर पानी का दबाव हर वर्ग इञ्च पर ढाई टन अथवा अड़सठ मन के लगभग पड़ता है। वहा शान्ति का आत्यन्तिक राज्य है, अखंड नीरवता है। पौधे नहीं हैं। ऐसी विकट दशा में भी प्राणी वहाँ पहुंचा और फैल गया। इस विकट परिस्थिति को भी उस ने अपने अनुकूल बना लिया। वनस्पति के अभाव में इस गहराई के प्राणी एक दूसरे को खाकर निर्वाह करते हैं। उन के शरीर मणियों और रत्नों की तरह चमकते हैं और वहां के अंधकार की कठिनाइयों को हटाते हैं। जान पड़ता है कि उथले जल से चमकते-चमकते ही यह प्राणी इतनी गहराई में बहुत काल में पहुँचे होंगे। समुद्र को रत्नाकर की पदवी देने में इन का भी कुछ भाग है।

समुद्र में नदिया, नाले आदि बहकर गिरते हैं। इन्हीं की राह से समुद्र-तट के प्राणी स्थल की ओर बढ़े। शुद्ध अनुकूल जल में बहुत बड़े सुभीते मिले। धरती, रोशनी, हवा, पौधे आदि किसी की कमी न थी। शरीर के ऊपर कोई भारी दबाव या बोझ भी न था। इसी लिये पहले नदियों और तालों में और फिर दलदलों में देहधारी प्राणी बढ़े। दो एक बातों का डर जरूर था। कभी तो एक दम सूख जाने का डर था और कभी जाड़ों में जमकर पत्थर हो जाने का, और कभी बाढ़ में बह जाने का या बाढ़ के निकल जाने पर ऊंचे और सूखे में छूट जाने का। परन्तु देहधारी स्थल में पड़ जाने पर भी अपनी रक्षा में अपने को समर्थ पाने लगे।

प्राणियों की चढ़ाई सूखी धरती पर हुई। यहाँ जल के द्वारा नहीं बल्कि सीधे हवा से ओषजन मिलने लगा। हवा में रहनेवाले प्राणी की खाल कड़ी हो गयी। और अब जल से त्वचा के सहारे ओषजन खीचने के बदले भीतरी अंग की आवश्यकता हुई जो हवा से ओषजन को खींच ले। इस तरह धीरे-धीरे फेफड़ों का बनना शुरू हुआ। बहुत से प्राणियों में रक्त को उस स्थान तक जाना पड़ता है जहाँ से ओषजन चूसा जा सके, परंतु कीड़ों-मकोड़ों में क्रिया ठीक उलटी होती है। वह हवा को या तो रक्त तक ले जाते हैं या वहीं ले जाते हैं जहाँ ओषजन के द्वारा दाह की क्रिया होती रहती है। उन के शरीर में वायु की अनेक नलिकाएँ बनी होती हैं जो हवा को सर्वत्र पहुँचाती हैं। इस से खून में गंदगी नहीं आती और कीड़े अत्यत कर्म-शील बने रहते हैं।

पानी में बहना बहुत आसान था। परन्तु धरती पर चलना मुश्किल हो गया। अब
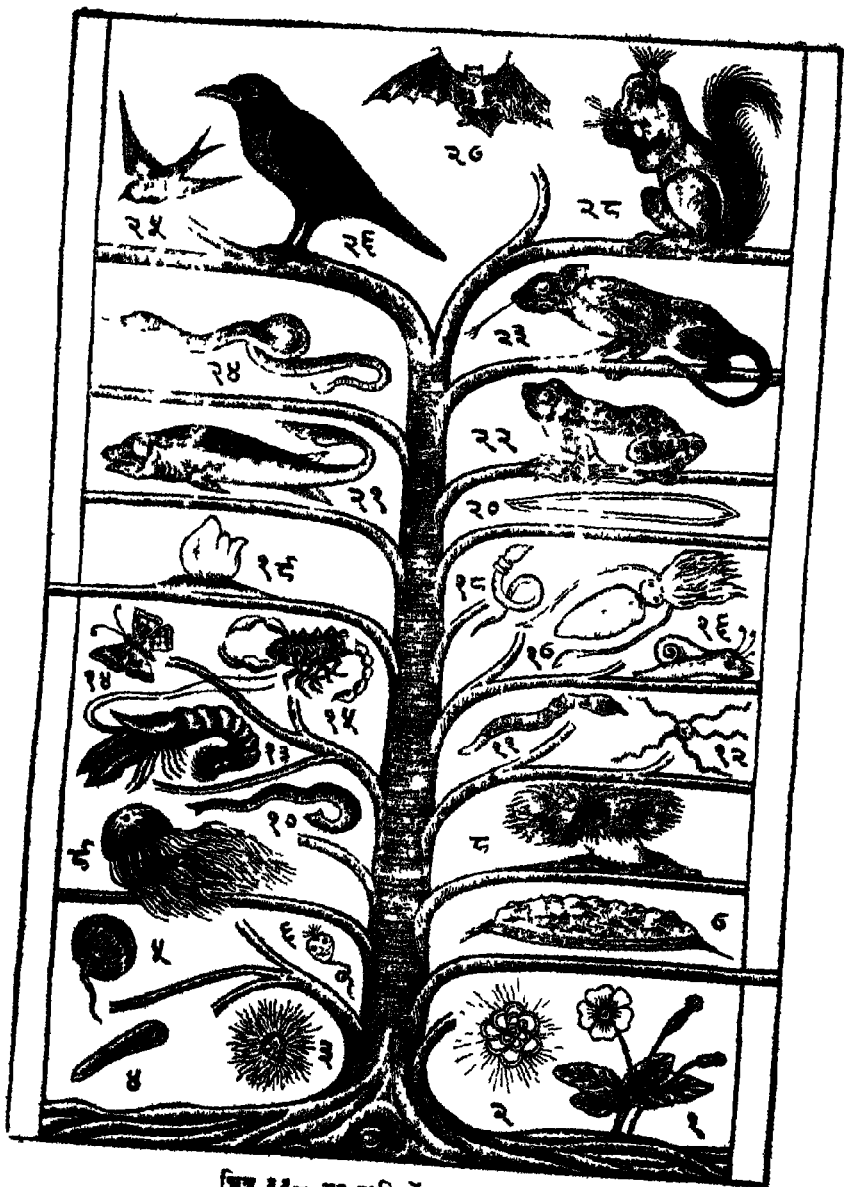
चित्र ११—सब प्राणियों का वंश-वृक्ष।

स्वार्थसूकन की अनुमति]

[टामसन का अनुकर्षण

(१) पौधा, जो दूसरे विकास वृक्ष का प्रतिनिधि हैं–दोनों वृक्ष एक ही मूल से निकले हैं। (२–३) खड़िया बनानेवाले जंतु। (४) पराश्रित संचचारी जंतु। (५) जल को चमकनेवाले जंतु-विशेष। (६) घंटाकार जंतु। यह सब सूक्ष्म एक सेलवाले जंतु हैं जो प्राथमिक जीव कहलाते हैं। अनेक सेलवाले जंतु बहुसेली प्राणी कहलाते हैं। (७) असमान स्पंज। (८) पुष्प-तिमि (९) लुआबी मछली, यह दोनों दंशक जंतु हैं। (१०.) जोंक। (११) केंचुआ। यह दोनों छल्लेदार शरीर और लाल रक्त के रेंगनेवाले प्राणी हैं। (१२) तारा-तिमि, चर्म्मकंटक जाति के जल-जन्तुओं का नमूना। (१३) झिंगा मछली, कवची-वर्ग के प्राणियों का नमूना। (१४) तितली, मकोड़ा वर्ग या षट्पद वर्ग का नमूना। (१५) बिच्छू, मकड़ी जाति का नमूना। (१६) घाघा। (१७) अष्टपाद। दोनों मृदुकाय जल-जन्तुओं के नमूने हैं। (१८) रेंगनेवाले कीड़े के रूप का जंतु जो रीढ़वाले और बेरीढ़वाले प्राणियों का मध्यवर्ती है।

रीढ़ वाले प्राणियों में (१९) पदविहीन खोलदार जंतु। (२०) प्रासाकार जंतु विशेष (२१) मछली (२२) मेंढक, उभयजीवी। (२३) गिरगिट, एक प्रकार का सर्प। (२४) साप सर्प या व्याल का एक प्रकार। (२५–२६) अबाबील और बया। चिड़िया का प्रकार। (२७) चमगीदड़। (२८) गिलहरी, दोनों पिंडज जाति के प्रतिनिधि।

प्राथमिक जीव। बहुसेली प्राणी। बेरीढ़वाले प्राणी। रीढ़वाले प्राणी।

Protozoa Metazoa Invertebrates Vertebrates

किसी टेकन की ज़रूरत हुई जिस के सहारे प्राणी आगे बढ़े। इसी लिये पाँव निकलने लगे। पावोंवाले जानवरों के विकास के साथ ही साथ हम ऐसे जंतु भी देखते हैं जो धरती पर बिना पाँव के रहते हैं, जैसे केंचुए और साँप। केंचुए मिट्टी खोदकर बिल बनाते हैं। साँप अपनी पसलियों और केंचुल के मज़बूत रेशों के बल से चलता है। धरती पर एक दूसरी कठिनाई यह आती है कि जहाँ जल में दहने-बायें, आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, सब ओर की गति हो सकती थी वहाँ धरती पर केवल एक तलपर गति की संभावना रह जाती है। यही बात है कि हम देखते हैं कि स्थल पर चलनेवाले प्राणियों के अंग-अंग का अधिक विकास होता है और विशेषतः उन के शरीर में चलने का उपयुक्त प्रबंध होता है। सूखे और पाले से, गर्मी के और सरदी के अत्यंत बढ़ने और घटने से, उन के शरीर पर ऊन और रोएं की ज़रूरत हुई। धरती पर जीवन के आ जाने पर एक और कठिनाई उपस्थित हुई। अंडों या बच्चों को अब जहाँ चाहा वहाँ छोड़ देना संभव नहीं था। अब तो रक्षा की जगह की तलाश हुई। धरती में गाड़ देना, घोंसलों में छिपा रखना या जन्म से पहले और पीछे भी बहुत काल तक अपने अंग से चिपटाये फिरना ज़रूरी हो गया। इसी लिये संतान की बहुत भारी संख्या अनुकूल नहीं ठहरी। जो वात्सल्य-भाव बहुत बड़ी गिनती में बँटा हुआ था अब थोड़े से बच्चों पर एकत्र हो गया। भावों में बड़ी गंभीरता, सान्द्रता, कोमलता और सौन्दर्य का विकास हुआ।

अब अपनी और अपने कुटुम्ब की रक्षा के लिये भाँति भाँति के उपाय किये जाने

लगे। धरती खोदकर माद बनाना या खोहों में और गड्ढों में रहना या पेड़ पर चढ़कर अपनी रक्षा करना, या पानी में या हवा में जाकर अपने को बचाना जरूरी हो गया। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जब धरती पर जीवन के आने में इतनी कठिनाइयां हैं तो सूखे पर बसने की ही क्या ज़रूरत थी ? इस का जवाब यह हो सकता है कि जीवन कर्मण्यता का ही नाम है। कर्म का सिलसिला जितना ही बढ़े उतना ही विकास बढ़ता है। प्राणीमात्र में कर्म की ओर प्रवृत्ति है। यह स्वाभाविक है कि जीव किसी क्षण बिना कर्म के नहीं रह सकता। आवश्यकता और कुतूहल यह दोनों ही कर्म के प्रवर्त्तक हैं। कुतूहल जनक है तो आवश्यकता जननी है। पानी के सूख जाने से या भीड़ से या शत्रुओं से बचने की आवश्यकता के कारण या नये देश नये काल, और नयी परिस्थिति के देखने के कुतूहल से प्राणियों ने नये क्षेत्रों में और नयी परिस्थितियों में साहसपूर्वक बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना किया है।

छोटे छोटे कीड़े पतंग पक्षी और चमगीदड़ हवा में उड़ते हैं। इन्होंने वायु मंडल पर विजय की है। परन्तु कितने ही असफल भी हुए हैं। जैसे उड़नेवाली मछलियाँ, मेंढक और उरग आदि भी कुछ थोड़ी दूर तक उड़कर या उछलकर रह जाते हैं। पिंडजों में भी उड़नेवाले लंगूर या कंगारू के से जानवर होते हैं जो उस छतरी से ज्यादा काम नहीं कर सकते जो गुब्बारे से आदमी को उड़ते हुए से उतारने में काम देती है। परन्तु कुछ भी हो उड़ने से प्राणियों का बड़ा लाभ हुआ। धरती पर चुगती चिड़िया शिकारी जंतु को देख कर उड़ जाती है, ऊपर से अन्न-जल का बड़ी दूर तक पता लगाया जा सकता है, ऊंचे शिखरों पर या पेड़ों पर या और दुर्गम जगहों में अंडे बच्चे सुरक्षित रक्खे जा सकते हैं और जरूरत पड़ने पर एक देश से दूसरे देश में पक्षी चले जाते हैं और बहुतेरे तो ऐसे हैं जो कड़ी सर्दी जानते ही नहीं।

छठा अध्याय

विकास का इतिहास

१—पत्थर की लीक

धरती पर बसनेवाली हर एक सभ्य मनुष्य जाति के साहित्य में सृष्टि का कुछ न कुछ पुराना इतिहास मौजूद है, जिस की बहुत सी बातें आज के युग में समझ में नहीं आतीं। देश काल और परिस्थिति के भेद से उन में भी परस्पर बहुत कुछ भेद है। इस लिये इतिहास की आज-कल की परिभाषा उन पर चरितार्थ नहीं होती। मनुष्य ने बीते हुए कई हजार वर्षों का जो कुछ इतिहास खोजकर संग्रह किया है उस में अधिकांश मनुष्य का राजनीतिक इतिहास-मात्र है। परन्तु विज्ञान इतने थोड़े काल के और केवल मनुष्य जाति के और फिर वह भी राजनीति-मात्र के इतिहास से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। उसे तो संसार के आरंभ से लेकर आज तक का इतिहास चाहिये। और वह इतिहास भी सारी सृष्टि का चाहिये। यदि सृष्टि के मनुष्य जैसे छोटे-छोटे अंगों के इतिहास के विस्तार पर ध्यान दिया जाय तो एक तो उतनी सामग्री न मिलेगी दूसरे मिले भी तो मनुष्य की सर्वतोमुखी ज्ञान-वृद्धि में सहायक न होगी। सृष्टि की आदि से अब तक का इतिहास वैज्ञानिकों ने पत्थर में अंकित पाया है जिसे प्रकृति-माता ने घटनाओं की अंगुलियों से आप लिख रखा है। मनुष्य ने भूगर्भ विद्या की खोज में धरती के बहुत गहरे-गहरे भाग खोदकर जांचे और परखे हैं। सृष्टि के बहुत विशाल विस्तृत युगों में इस धरती के चिप्पड़ धीरे-धीरे ऊंचे उठकर या नीचे बैठकर महाद्वीप और महासागर बन गये हैं। धरती का ऊपरी भाग उभड़कर और सुकड़कर पर्वत-मालायें बन गयी हैं और अनेक पेच खाकर छोटी-छोटी पहाड़ियों और घाटियों में उनका विकास हो गया है। हवा से सूखकर और पानी से पिघलकर गलकर और फटकर धरती के ऊंचे भाग अनेक रूप और आकार के हो गये हैं और बहुत सा सूखा, गला, पिघला और नोना खाया हुआ अंश नदियों के द्वारा बहकर गहरी जगहों को भरकर बड़े-बड़े मैदान बनाने में लग गया और आज भी लगा हुआ है और बहुत सा अंश जगह-जगह पर

नदियो और समुद्रों के द्वारा इकट्ठा होकर काल पाकर पत्थरों और चट्टानों में परिणत हो गया। यह अंश भी बारबार टूटते बहते और विषम स्थलो में इकट्ठे होते-होते स्तर-पर-स्तर जमाते गये हैं जो आज अनेक भूविज्ञानियो के मत से कुल सड़सठ मील की मोटाई का चिप्पड है। इस तरह जमा होनेवाले स्तरो में समय-समय पर उन-उन युगो के जो प्राणी और वनस्पति इन में गड़े हैं उन की ठटरिया ज्यो की त्यो पायी जाती हैं। अथवा उन के शरीर के शेष बिल्कुल पत्थर हो गये हैं तो भी उन का आकार बदला नहीं। इन स्तरों और चट्टानों और जीवशेषो के परिशीलन से इस धरातल का और उस पर के बहुत से प्राणियो का इतिहास संग्रह किया गया है। वैज्ञानिको ने इन मे जो विकास का इतिहास-संग्रह किया है उसे अनेक काल्पनिक युगो में बाटा है। इस तरह के लिखे पत्थर के इतिहास में भी कई दोष हैं। अनेक प्राणी तो इतने कोमल थे कि वह गल-पच गये। बहुत से खा डाले गये बहुतेरे अत्यन्त कड़ी आच और भयानक दबाव को सह न सके और बेनामोनिशान हो गये। इस तरह पत्थर का यह पुस्तकालय भी लुट गया और कीड़ो का शिकार हो चुका है। इस के परिशीलन से जो नतीजे निकाले गये हैं वह भी बहुत कुछ कल्पना के सहारे पर टिके हुए हैं। काल के परिमाण मे वैज्ञानिको में गहरा मत-भेद है। इस मत-भेद और बारबार के मत और अनुमान-परिवर्तन को देखते हुए हम पौराणिक काल परिमाण को भी इसी विचार-कोटि में रखे तो तनिक भी अनौचित्य नही दीखता। फिर इतने फेर फार होते हुए भी अनेक और आनुषंगिक प्रमाणो से सहायता लेकर जो इतिहास बना है वह बहुत कुछ साधार है और विश्वास के योग्य है।

भूविज्ञानी गणित के आधार पर काल का अनुमान करते हैं। आज कल वर्षा के द्वारा बहकर जितना नमक समुद्र मे हर साल जाता है उस की मात्रा निकाली गयी है। यह भी मालूम किया गया है कि समुद्र-जल में कुल कितना नमक है। इस हिसाब से पता चलता है कि जितना नमक आज कल समुद्र में बहकर जाता है अगर उतने ही परिमाण से आरंभ से ही बहता रहा हो तो आज तक इस धरती पर वर्षा का आरभ हुए दस करोड़ बरस के लगभग होता है। परन्तु यह भी मलूम है कि हर बरस बहकर आनेवाले नमको की मात्रा कुछ ज़रा ज़रा भी बढ़ती गयी हो, जैसी की बहुत बड़ी सभावना है, तो यह दस करोड़ बरस का काल बहुत थोड़ा ठहरता है और अरबो तक सीमा बढ़ जाती है। एक और विधि यह है कि यह अंदाजा लगाते हैं कि बालू और मिट्टी की चट्टानें और पत्थर कितने काल में बन जाते हैं और ऐसी चट्टानो के जितने गहरे स्तर भूगर्भ में मिलते हैं उन के बनने के समय का उतना ही अंदाज़ा किया जाता है। इस के सिवा और भी आनुषंगिक विधिया हैं जिनसे समय का पता लगता है। परंतु सारी विधियां मोटे अंदाजे पर निर्भर हैं और वैज्ञानिको में आपस में इस अनुमान में करोड़ों और अरबों बरस का अंतर पड़ जाता है।

वैज्ञानिक इस अनुमान के क्षेत्र में भी फूंक-फूंककर कदम रखते हैं। इसी लिये जहां अटकल से बहुत बड़ी-बड़ी संख्याएं आती हैं वहां कम-से-कम आनेवाली संख्याओं से ही काम लेते है जिस में अत्युक्ति दोष से भरसक बचे रहें। इतने पर भी इङ्गलिस्तान के ब्रिटिश असोसियेशन के सन् १९२१वाले अधिवेशन में प्रोफेसर रेले ने यह कहा कि हाल

में जो ज्ञान की वृद्धि हुई है उस ने आरंभ से अब तक इस धरातल पर जीवन के बराबर बने रहने की अवधि को बढ़ाकर एक अरब बरस के लगभग कर दिया है और पृथ्वी की पूरी आयु इसकी कई गुना अधिक समझी जाने लगी है, क्योंकि पृथ्वी ठंडी नहीं हो रही है बल्कि बाहरी पिण्ड में युरेनियम के टूटते रहने से ताप बढ़ता जाता है और भीतरी ताप एक प्रकार से अजय है। इस तरह रश्मि-विकीरक तत्वों ने काल की आदि सीमा को अत्यन्त बढ़ा दिया है। वैज्ञानिक विचारवाले पहले पुराणों की कालावधि पर हँसते थे, परंतु विज्ञान तो पुराणों से आज कहीं आगे बढ़ गया है।

संसार की सृष्टि के संबंध में सभी भारतीय पुराणों में * कथाएं दी हुई हैं। उन में काल के परिमाण भी दिये हुए हैं। वैज्ञानिक काल परिमाण से उन की तुलना यहां बड़े महत्त्व की जान पड़ती है।

३—समय-विभाग

हम अन्यत्र पौराणिक काल विभाग के अनुसार पौराणिक सृष्टिक्रम का समन्वय वैज्ञानिक क्रम से कर चुके हैं। यहां हम सृष्टि के काल-विभाग के वैज्ञानिक अनुमानों को ही पाठक के सामने रक्खेंगे। पुराणों के अनुसार ब्रह्माण्ड की सृष्टि कल्प की आदि में आरंभ होती है और कल्प के अंत में समाप्त हो जाती है फिर एक कल्प तक सृष्टि का अभाव रहता है। फिर नये कल्प में सृष्टि का आरंभ पहले की तरह होता है। सौर वर्षों में एक कल्प चार अरब बत्तीस करोड़ वर्षों का होता है। कल्प के चौदह बराबर-बराबर विभाग किये हैं। इस तरह हर एक भाग तीस करोड़ छियासी लाख वर्षों के लगभग हुआ। एक कल्प के एक हजार विभाग भी किये हैं उस को महायुग या चतुर्युगी कहते हैं। एक महायुग तैतालिस लाख बीस हजार वर्षों का हुआ। एक महायुग में सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग यह चार युग होते हैं। देव-वर्षों में कलियुग चार लाख बत्तीस हजार मानव वर्षों का होता है। द्वापर इस का दूना, त्रेता इस का तिगुना, और सतयुग चौगुना होता है। भूगर्भ विज्ञानियों ने अपने युग-विभाग दूसरी तरह पर किये हैं। यह पता लगाना अत्यंत कठिन है कि यह ब्रह्माण्ड जड़-रूप में कितने काल में बन सका है। काल का अनुमान केवल उस समय से करते हैं जब से एक सेलवाले आदि प्राणी इस धरती पर पहले पहल उत्पन्न हुए। पुराने हिसाब से अब से तीन करोड़ बरस और रेले के हिसाब से अब से अड़तालीस करोड़ बरस से पहले ही यह घटना हो चुकी होगी। वर्त्तमान वैवस्वत मन्वंतर के बारह करोड़ पाँच लाख

---

* बाबुल, मिस्र और चीन के पुराण भी काल परिमाण को अत्यंत बढ़ाकर बताते हैं, फिर भी वे विज्ञान की आधुनिक कल्पना से आगे नहीं बढ़ते। हां, जैन पुराण अवश्य ही अब तक विज्ञान से कहीं आगे बढ़े हुए हैं। परंतु फिर भी यह कोई नहीं कह सकता कि विज्ञान भविष्य में इन की अत्युक्ति का भी समन्वय न कर सकेगा।

तैंतीस हजार बरस बीत गये। यह सातवां मन्वंतर है। ग्रेले के कम-से-कमवाले हिसाब को हम अपने शब्दों में यों कह सकते हैं कि प्रोफेसर ग्रेले के अनुमान से वर्तमान कल्प के तीसरे मन्वतर के सत्रहवें त्रेता युग में इस धरती पर जीवन का आरंभ हुआ होगा। अधिक से अधिक तो हम पहला मन्वतर कह सकते हैं। प्रोफेसर ग्रेले के हिसाब से वर्तमान मानवीय *सभ्यता कम-से-कम सत्ताइसवें सतयुग से अर्थात् वर्तमान चतुर्युगी की आदि से आरंभ* होती है* कालमान से आधुनिक विज्ञान के काल-विभाग से इतना अंतर पड़ता है कि हम वैज्ञानिक महायुगों को पौराणिक नाम नहीं दे सकते।

इसलिए हम यहां वैज्ञानिकों की ही परिभाषा में यों ही कहेंगे कि सृष्टि विज्ञानियों के मत से अजीव सृष्टि में प्रायः जीव सृष्टि के अबतक के अतीतकाल का कई गुना अधिक काल लगा होगा। उसे अलग कल्प ही माना गया है। हम उसे अजीव सृष्टि कल्प कहेंगे। जीवन का आरंभ और आरंभिक विकास में भी बहुत समय लगा होगा। इस लिये उसे हम आदिम जीवों का कल्प कहेंगे। अजीव-सृष्टि-कल्प में सारे ब्रह्मांड की रचना, स्थापना, फिर *पृथ्वी के पिंड के ठंढे होकर द्रव और घन बनने का काल, फिर वायु और जलमंडलों का बनना और फिर महाद्वीपों और समुद्र-तलों की रचना का काल* शामिल है। इस प्रकार जब धरती जीवन के आरंभ के लिये तैयार हो जाती है तब आदिम जीवों के कल्प का आरंभ होता है। आदिम जीवों का बहुत दीर्घ काल में बेरीढ़वाले एक सेल के असंख्य प्राणियों में विकास होता है। इस कल्प के बीतने पर पहिले महायुग का आरंभ होता है।

पहिले महायुग को छः अंतरों में विभक्त करते हैं। यह भी पौराणिकों के सात मन्वंतरों की तरह बड़े लंबे काल हैं। पहले में समुद्र बसता है, दूसरे में मछलियों के काल का आरंभ होता है और शंख आदि मृदुकाय बेरीढवाले प्राणियों की बहुतायत होती है। *मछलियां भी बेरीढवाली ही अधिक होती हैं। तीसरे में मछलियों का और रीढ़वाले* प्राणियों का विकास एवं स्थल के छोटे प्राणी बनते हैं। चौथे में आदिम उभयचर पांचवें में षट्पद कीड़े-मकोड़े और छठे में उरगों की उत्पत्ति होती है। पहले महायुग के अंत में हिमप्रलय होता है, फिर दूसरे महायुग का आरंभ होता है। इसके तीनों अंतरों में क्रमशः उरगों, पक्षियों, आदिम पिंडजों, पौधों और षट्पदों के विकास के बाद प्रलय होता है। तीसरे महायुग में बड़े पिंडजों का विकास, मानव जाति का उभार और अंतिम प्रलय होता है। इस के बाद वर्त्तमान महायुग का आरंभ होता है। वैज्ञानिक काल विभाग संक्षेप से इस प्रकार है।

---

* हिंदू पौराणिक मतानुसार मानव सृष्टि का आरंभ वर्त्तमान कल्प के आरंभ में पहले ही मन्वतर में हुआ जिसे लगभग दो अरब बरस के हुए। अभी वैज्ञानिक इतनी दूर जाने का साहस नहीं करते। परंतु जिस गति से वैज्ञानिक उन्नति करते गये हैं उस से पौराणिक मत तक उन के भविष्य काल में कभी पहुँच जाने में भी कोई बाधा नहीं दीखती।

लगभग चालीस बरस के हुए कि लार्ड केल्विन ने अनुमान किया था कि धरती के बने दो करोड़ बरस हुए होंगे, परंतु प्रोफेसर रेले इसे कई अरब बरस बताते हैं। हम कह आये हैं कि हिंदू संस्कृति में ब्रह्मांड की सृष्टि से कल्प का आरंभ माना जाता है। वर्त्तमान श्वेत-वाराह-कल्प के आरंभ से अबतक कुछ कम दो अरब बरस बीते हैं। भूगर्भ विद्या के अनुसार जड़ सृष्टि की रचना में सौर मंडल की स्थापना, धरती का ठंडा होना, जल-मंडल और वायुमंडल का आरंभ, महाद्वीपों और महासागरों के तल का निर्माण-इतनी रचना में पूरे एक अरब बरस लगे होंगे। जब इस धरती की परिस्थिति जीवन के लिये उपयुक्त हो गयी तो करोड़ों बरस तक बहुत ही सूक्ष्म प्राणी का इस धरती पर विकास होता रहा होगा। इसी विकास की परंपरा में सूक्ष्म से-सूक्ष्म जीवों की रचना हुई होगी। धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते बिना रीढ़वाले स्थूल प्राणियों का आरंभ हुआ होगा। घोंघे और शंख आदि के रूप में आज भी ऐसे प्राणी पाये जाते हैं परंतु लगभग अड़तालीस करोड़ बरस के ऐसे असंख्य प्रकार के प्राणियों के विकास में बीता होगा। तब कहीं पहले भौगर्भिक युग का आरंभ हुआ होगा।

पहिले भौगर्भिक युग के आरंभ के पहिले अंतर में बहुत काल तक सारा समुद्र बिना रीढ़वाले विशेष जंतुओं से भर गया था। स्पंज, कृमि, त्रिपालिकाश्म, कवची, मृदुकाय आदि असंख्य जातियां थीं। केकड़े शंख, घोंघे आदि इन्हीं के अन्तर्गत थे। शंख जाति के नाम से यदि हम इसे शंख-काल कहें तो अनुचित न होगा। इसी शंख काल में प्रोफेसर आसबर्न के अनुसार समुद्र-तट के पास खुले समुद्र में और गहरे जल में उस समय के प्राणी फैल गये थे।

४—पहला युग बेरीढ़ और रीढ़वाले प्राणी

पहिले युग में छः अंतरों का विभाग किया गया है। पहला अंतर बेरीढ़ के प्राणियों का था। इसे हम शंख-काल कहेंगे। दूसरा अंतर मत्स्यकाल कहला सकता है। इस काल के आरंभ में त्रिपालिकाश्म जाति के प्राणी बड़ी सफलता से फैले हुए थे। पाँव जुड़े हुए थे। सूँड़े थीं और तीन-तीन कांड के शरीर, त्वचा कुछ कड़ी। इसी काल में हिंसक भयानक परंतु बेरीढ़वाले बहुतेरे जलजंतु थे जो और जाति के प्राणियों को खोजते थे। परंतु इसे हम मत्स्यकाल इस लिये कहते हैं कि इसी काल में पहले-पहल मछलियों का आरंभ हुआ। रीढ़वाले प्राणियों का मछलियों से ही आरंभ हुआ। धीरे-धीरे मछलियाँ बढ़ीं और पहिले के मृदुकाय हिंसक जंतुओं का विनाश होने लगा।

तीसरे अंतर में जल में तो मछलियों का पूरा विकास हुआ और उनका साम्राज्य स्थापित हो गया। दूसरी ओर सूखी धरती पर भी बस्ती बनने लगी। बेरीढ़वाले स्थल-चरों का आरंभ हुआ। बिच्छू सरीखे प्राणियों का उदय इसी समय हुआ जो भीतरी त्वचा के द्वारा सांस लेते थे। इसी समय दोहरे श्वास-यंत्रवाली मछलियों का भी आरंभ हुआ। पहले स्थल-चर कीड़े बिच्छू आदि इसी काल में थे।

तीसरे अंतर को हम कच्छप-काल कहेंगे। इसी काल में धरती पर फूलनेवाले पौधे लगे और रीढ़वाले जन्तुओं का आरंभ हुआ। इस काल में सब से बड़ी बात यह हुई कि उभयचरों का भी इसी समय आरंभ हुआ। उस समय समुद्र में भयानक मछलियां उत्पन्न हो चुकी थीं और उभयचारी पशुओं का विकास हो चुका था। मेंढक आदि का यही समय था।

५—स्थलचरों का विकास

जिस युग के पत्थर के कोयले की बड़ी-बड़ी विस्तृत चट्टानें भूगर्भ में पड़ी हुई हैं उसमें इस धरतीपर ऋतु बहुत ही अनुकूल थी। न अत्यंत ठंडा था न बड़ी कड़ी गरमी थी। अत्यंत आर्द्र धरातल पर निरंतर वसंत ऋतु का सुहावना समा था। आज कल के से पेड़ न थे। घास-फूस के बड़े बड़े विशालकाय पौधे थे जिन से वन में घना अंधेरा रहा करता था। इन महावनों में जुड़े हुए पावोंवाले रूखी धरती से चढ़ाई करनेवाले कीड़े-मकोड़े भरे रहते थे। कन-खजूरे, मकड़े, बिच्छू आदि की तरह के असंख्य प्राणी थे। और इन के भी भोजन कर जानेवाले, जल-स्थल दोनों में विचरनेवाले अनेक जीव थे। कीड़े-मकोड़े पौधों की बीजों को और फूलों के केशरों और परागों को मिलाने में बराबर सहायता किया करते थे जिस से नये पौधों की उत्पत्ति होती थी। इस तरह चरों और अचरों दोनों का विकास साथ साथ चलता था और दोनों परस्पर सहायक थे। इसी कोयलों के युग में रंगीन फूलों की उत्पत्ति और विकास का समय समझना चाहिये। इस समय के जल-स्थल या उभयचर आज-कल के गधों के से बड़े आकार के होते थे। इन्हीं बड़े-बड़े जंगलों के दब जाने से और बड़वानल से झुलस जाने से पृथ्वी के गर्भ में कोयले के विशाल स्तर हो गये। इसी युग के आरंभ में उभयचरों ने जल के अतिरिक्त, स्थल के लिए उपयुक्त इंद्रियों का विकास किया। सांस लेने के लिए फफड़े, तीन घरोंवाला हृदय, हिलने-डोलनेवाली जीभ कान के ढोल, और आंखों को ढकने के लिये पलकें, उभयचारी के लिये आवश्यक हो गयीं। मेंढक के शरीर का विकास आज भी इन बातों का गवाह है। जल में रहते हुए शब्द की जो कमी थी वह पूरी हुई। स्वरयंत्र का विकास हुआ। ऐसा अनुमान किया जाता है कि पहले करोड़ों बरस तक इस धरातल पर बिजली, तूफान, जलप्रपात और लहरों के शब्दों को छोड़कर और किसी तरह का प्राणियों का शब्द सुनने में नहीं आ सकता था। कुछ कीड़ों के बजाने के शब्द के सिवाय इस युग में पहले शब्द उभयचारियों के थे। मेंढकों ने अपनी मेंढकियों को बुलाना आरंभ किया। फिर माता पिता ने बच्चों को जोखिम से सावधान करने के लिये शब्द निकाले। फिर बच्चे ने माता-पिता को पुकारना शुरू किया। फिर धीरे-धीरे पक्षी चहचहाने लगे। भावों का उदय हुआ और भांति-भांति के स्वर निकलने लगे। धीरे-धीरे स्वरों और व्यंजनों का विभाग हुआ और शब्द बनने लगे। "भोजन" "जोखिम" "घर" "सुख" और "दुःख" का प्रकाश होने लगा। और भाषा का विकास आरंभ हुआ। इसी काल में पतली या कटी कमरवाले कीड़े पैदा हुए और बढ़े। आरंभ में

इन का रूप कुछ और होता था और अंत में यह उड़नेवाले प्राणी बन जाते थे। इन्हें षटपद कह सकते हैं। इसी लिये इस काल को षटपद-काल कहेंगे।

पहले युग के छठें या अंतिम अंतर में रेंगनेवाले व्यालो का युग आरंभ हुआ। इसी लिये इसे हम "उरग-काल" कहेंगे। यह शुद्ध स्थलचर थे। साम लेने में बाहर से हवा को खींचते थे। मछलिया आदि जल-जन्तु गलफड़ो से साम लेती हैं परंतु उरगों ने पहले-पहल गलफड़ो का परित्याग किया। यह एक मारके की बात है कि सभी उरगों, पक्षियो और पिंडजो के भ्रूणो में गलफड़ो का चिह्न पाया जाता है। उरग काल में ऋतु की दशा बड़ी प्रतिकूल होती गयी। सर्दी बढ़ती गयी। होते-होते दक्षिण गोलार्द्ध में प्रालेय-युग का प्रवाह चला और सारे धरातल पर बरफ जम गया। बरफ की तह के नीचे भारी-भारी जंगल दब गये। नये जंगल निकले और वह भी इसी तरह दब गये। यह प्रालेय काल लाखो बरस तक बना रहा और दक्षिण खंड में सब से अधिक तेजी पर था। वह संसार ही और था। योरोप और अमेरिका मिले हुए थे। अफ्रीका और दक्षिणी अमेरिका जुटे हुए थे। आस्ट्रेलिया और एशिया एक महाद्वीप था। इसी समय बहुत से प्राणियो ने सोते हुए या स्तब्ध दशा में रहकर अपनी प्राण शक्ति की रक्षा करना सीखा। परंतु साथ ही पुराने ढंग के अनंत प्राणियो का नाश हो गया। बहुत से पौधे और बेरीढ़वाले प्राणी सदा के लिए लुप्त हो गये। इसी अंतर के साथ पहले युग का अंत हो गया।

६—दूसरा भौगर्भिक युग

दूसरे युग में तीन अंतर रक्खे जाते हैं। पहला युग पुराने मत से दो करोड़ बरस के लगभग का था। रेले के मत से उन्तीस करोड़ बरसो के लगभग का ठहरता है। दूसरा युग साढ़े चौदह करोड़ बरसो का आंका जाता है। इस के पहले के अंतर में उरगों का सतयुग समझना चाहिए। इसी समय दानवाकार उरग पृथ्वी पर फैले जो दूसरे युग के अंत तक में ही समाप्त हो गये। इस समय के कछुए बहुत विशालकाय थे। इन के सिवा मत्स्यासुर, उपासुर, चंडासुर, पत्रासुर आदि जाति के विशालकाय उरग थे जिन के वंश के प्राणी उस युग में सारी पृथ्वी पर फैल गये थे। समुद्र भी इन से बचा नहीं था। उस समय की सृष्टि और सभ्यता की ऊंची-से-ऊंची श्रेणी के प्रतिनिधि यही थे।

इस युग के माध्यमिक अंतर में ऐसे उरग भी फैल गये जिन के पंख थे और जो आकाश में उड़ सकते थे। पंजे की बाहरी उँगलिया बहुत लम्बी हो गयी और बीच बीच से खाल के द्वारा जुड़ गयीं और इन का संबंध सीधे मेरुदंड से हो गया और दोनो हाथो के बदले दो पंख बन गये। इन उड़नेवाले विकराल व्यालो ने आकाश मंडल पर भी विजय कर ली। इसी मध्य काल में इन्हा व्योमचारी उरगों के साथ-साथ पक्षी जाति का आरंभ हुआ। जैसे स्थलपर उड़नेवाले जन्तु फैले उसी तरह जल में भी पंखवाली मछलिया फैलीं।

ऐसा न कोई समझे कि उड़नेवाले उरगों से ही पक्षियों का विकास हुआ। उरग जाति के प्राणी चतुष्पद थे। आगे के दोनो पांवो में छतरी की तीलियो की तरह पंख का आरंभ हुआ। परंतु पक्षी के पर हुए जो पसलियो से लगे हुए देख पड़ते हैं। बहुत संभव

है कि चडांरगों की कोई जाति द्विपद हो गयी हो और उसी से आजकल के पक्षियो का आरभ हुआ हो। पहले वे तेज दौड़ते रहे हों फिर उछलने लगे हों, फिर पेड़ पर यात्रा करने लगे हों और अत में उड़ने लगे हों। उड़ने का प्रयास कीड़ो ने किया, पत्रांरगों ने किया, चमगीदड़ो ने किया और चिड़ियो ने किया। चारो के मार्ग अलग-अलग थे। आज मनुष्य पाचवा मार्ग निकाल रहा है।

अंतिम अंतर मे दानवो और उरगों का ह्रास हो गया। ऊचे प्रकार के कीड़े बड़े और फूलवाले पौधे नये ढग के निकल पड़े। छोटे-छोटे पिंडजों का बढ़ना भी इसी काल में आरंभ हुआ। शख, मछलिया, उरग और पक्षी अंडज थे। पिन्डज का पहले-पहल दूसरे युग के अत मे आविर्भाव हुआ है। पहले युग के अत के श्वानदन्तादि सरीखे अनेक उरग बिलकुल पिंडजों सरीखे लगते थे। शायद उन्हीं से दूसरे युग के आदि काल मे छोटे पिण्डजों का उदय हुआ होगा। परंतु जो हो इस मे सदेह नहीं कि दूसरे युग के अत मे चगुलों खुरो आदि विशेषतावाले पिडज फैल गये थे। उस समय बहुत ही प्राचीन प्रकार के वानरों का वा वनमानुसा भी उदय हुआ।

इस तरह पहले युग मे आदि मे शंखो की सभ्यता फैली। फिर मत्स्यों का राज्य हुआ। फिर स्थलचारियों के उदय के साथ हो-साथ कूर्म-युग आया। उभयचारियों की प्रधानता हुई। इस के अन तर षट्पदों और उरगो का समय आया। इस क्रम मे पुराने मत मे लगभग दो करोड़ और नये मत से लगभग उन्नीस करोड़ बरस बीते। दूसरा युग "व्यालयुग" कहा जा सकता है। इसमे व्यालों और उरगों की प्रधानता रही। इसी युग मे यह खतम भी हो गये और पिडजो का उदय हुआ। इस मे पुराने अनुमान से नब्बे लाख और नये अनुमान से साढ़े चौदह करोड़ बरस बीते।

७—तीसरा भौगर्भिक युग। पिंडजों का विकास

तीसरे युग के आरंभ में बड़े मस्तिष्कवाले आज कल के पिडजों का आरभ हुआ। इसी समय सूखे स्थलों पर अच्छे पौधे उगने लगे और धरातल पर घास का हरा फर्श बिछ गया। बड़े-बड़े दल-दल अब रमने हो गये जहा बड़े बड़े पिडज आनद से चरने लगे और बड़े सुदर-सुदर कीड़े-मकोड़े पक्षी विचरने और कल्लोल करने लगे। धरातल धीरे-धीरे ऊचे उठने लग गया था और अब वायु-मडल पहले से बहुत कम आर्द्र हो गया था। इस युग के मध्यकाल मे मनुष्य के पहले के पिंडजों ने जगत् पर पूरा अधिकार कर लिया था। जल-स्थल और आकाश सभी प्राणियों से भरे थे, परतु सब का नायक पिडज प्राणी था। इसी काल में आदिम मनुष्य का आविर्भाव समझा जाता है। यह मनुष्य आज-कल के पृथ्वी पर फैली हुई मनुष्य जाति से भिन्न थे। यह आदिम मनुष्य थे। इसीलिये इन्हें हम "आदिमी" कहेंगे। यह जिस जल वायु मे रहते थे, अनुकूल न थी। परिस्थिति भी बहुत प्रतिकूल थी। और और पिंडजो से और आदिमी से बड़ी चढ़ा-ऊपरी थी। भू-तल का विभाग भी पहले से बिल्कुल भिन्न था। जीवन का संघर्ष बड़ा कड़ा था, तो भी यह आदिमी ससार मे

फैल गये। और अपने को सृष्टि के और सब प्राणियों में बड़ा चढ़ा सिद्ध किया। उस समय यही समझा जाता था कि सभ्यता अपने उच्चतम शिखर तक पहुँच गयी है। आदिमी से बढ़ कर कोई अधिक ऊंचा प्राणी नहीं हो सकता। परंतु जब इस युग का अंतिम अंतर आया तो
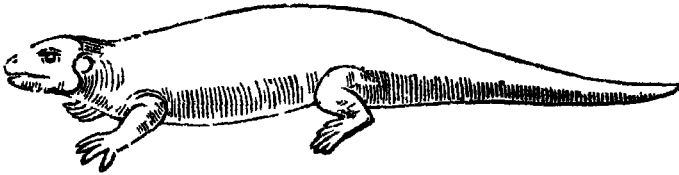
चित्र ६७—परमियन महाव्याल

[परिषत् की कृपा

इस भूतल पर बड़े प्रचण्ड परिवर्त्तन हुए। महाद्वीपों का धरातल ऊंचा उठता गया। विंध्य पर्वत बहुत ऊंचे से घटकर नीचा हो गया और हिमालय ऊंचा उठकर आसमान से बातें करने लगा। इसी तीसरे युग के अंत में बड़ी भयानक प्रलयकरी हिम वर्षा हुई। प्रालेय के महा प्रवाह में सारा जगत बरफ से ढक गया और विशाल दिग्गज महाकाय शार्दूल ऊर्ण

चित्र ६८—दानवी पशु, तीस फुट ऊंचा
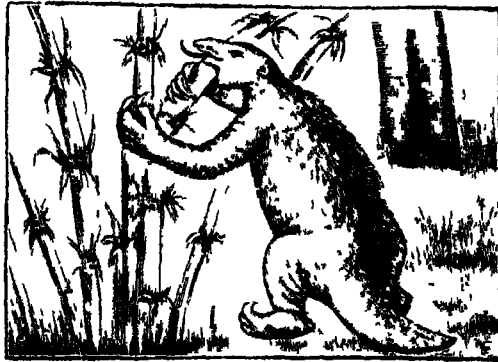
[परिषत् की कृपा

कम्बल-धारी गैंडे, गिरि-गुहा-निवासी महा सिंह और महाऋक्ष आदि अत्यंत विशालकाय भयंकर आदिमी जाति के शत्रु पिंडज इस महाप्रलय के बरफ के नीचे दबकर दफन हो गये। उन की जाति का कोई बच न सका। पहाड़ की ऐसी ऊंचाइयों पर जो बरफ से बहुत

परे है, जो-जो जन्तु छिप गये थे वही बच गए। इसी प्रकार उड़नेवाले प्राणी और गहरे समुद्र में रहनेवाले जलचर भी बचे।*

यह प्रालेय-युग बहुत काल तक रहा। बीच बीच में अच्छा काल भी आ जाता था जिस में पुराने हिसाब से कई हजार बरस तक और नये हिसाब से कई लाख बरस तक सृष्टि
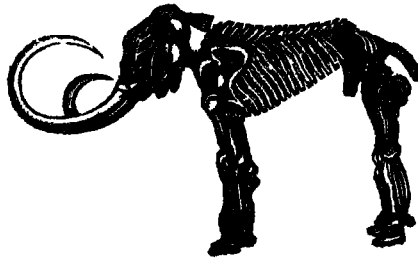
चित्र ६१—मम्मथ की ठठरी

[परिषत् की कृपा

की गोद हरी-भरी हो जाती थी और अण्डज, पिंडज, उद्भिज्ज और स्वेदज सभी तरह के प्राणियों से यह सृष्टि रजी पुजी दिखाई पड़ती थी, परन्तु फिर प्रालेय काल आ जाता था और संसार के सब सुखों पर पाला पड़ जाता था। ऐसा कई बार होकर इस प्रालेय काल का अन्त हुआ। ऐसा प्रलय हर भौगर्भिक युग के अन्त में प्रायः होता आया है। वर्त्तमान काल का आरंभ इसी अन्तिम प्रलय से होता है। मनुष्यों में आदिमी जाति का पहले ही प्रलय के धावे में लोप हो गया होगा परन्तु यह विश्वास किया जाता है कि बीच-बीच के अवान्तर युगों में मनुष्य की जातियां हुईं, फैलीं और अपनी पराकाष्ठा को पहुंचते-पहुंचते लुप्त हो गयीं।*

अन्तिम हिमप्रलय से जो मनुष्य जाति इस जगतीतल पर वर्त्तमान है सम्भव है कि उस में उन प्राचीन जातियों का भी मेल हो और धीरे-धीरे विकास होते-होते उन के विशिष्ट

---

*प्रोफेसर साडी ने अपने एक व्याख्यान में आदम के स्वर्ग से गिराये जाने की कथा के तथ्य का यह अनुमान किया है कि किसी प्राचीन युग में आदिम मनुष्य ने विज्ञान में शायद अब के मनुष्यों की अपेक्षा अधिक उन्नति की थी। वह अपने को अमर बनाने की कोशिश में किसी वैज्ञानिक प्रयोग में चूक गया जिसके परिणाम-स्वरूप ऐसे ज़ोर का धड़ाका हुआ, शायद इस धड़ाके के साथ परमाणुस्थ महाशक्तियाँ एकाएकी ऐसी निकल पड़ीं कि चराचर जगत् समाप्त हो गया। और कुछ कहीं के बचे-खुचे प्राणियों ने फिर से सृष्टि का उद्धार किया। ज्ञान के वृक्ष के फल खाने से पतन का यह बहुत ही चमत्कारिक अर्थ है। साथ ही प्रलय के संबंध में अपने "मनु" और इंजील के "नूह" के प्रलय की कथा विचारणीय है।

चित्र ७०—उरग युग का एक महाव्याल। मनुष्य के चित्र से इस की लंबाई चौड़ाई ऊँचाई और भयंकरता मिलाइये

[परिषत् की कृपा

चिह्नों का लोप हो गया हो। यह तीसरा युग पुराने हिसाब से तीन लाख बरसों का, और नये हिसाब से पौने पाच करोड़ वर्षों का समझा जाता है। हम नये हिसाब को ही ठीक मानें तो यह अनुमान करने में कोई कठिनाई नहीं होती कि हम लोग अवान्तर के युग में हैं

चित्र ७१—शाकभोजी पर्व्वासुर जाति का ब्याज।

[परिचन की कृपा
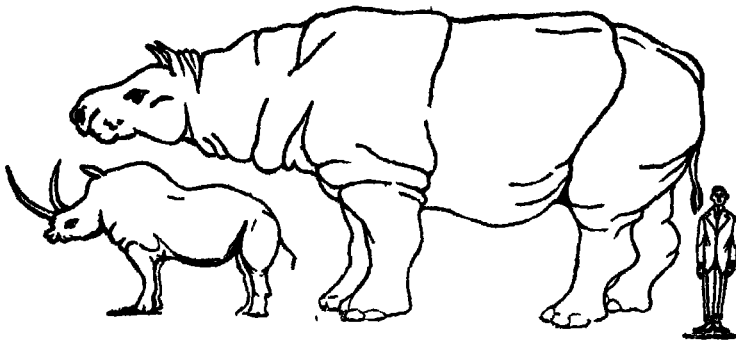
अर्थात् जिसे अंतिम हिमप्रलय कहा जाता है वह वास्तव में अंतिम नहीं है बल्कि हिमप्रलय का युग अभी चला जा रहा है। वर्त्तमान काल अवांतर काल है। हम तीसरे युग की अवधि बीती मान लेने पर भी हम यह कह सकते हैं कि चौथे युग का अभी अभी आरंभ ही हुआ है।

८—वर्तमान युग। मनुष्य का विकास

प्रत्येक युग के अंत में विकास अपना उत्कृष्ट रूप दिखाता रहा है और हर आने वाले युग में पिछले की अपेक्षा अधिक वृद्धि और उन्नति दिखाई देती रही है। वर्त्तमान काल को यदि हम प्रालेय युग कहें तो इस प्रालेय युग में भी मनुष्यों की सभ्यता ही सब से ऊंचे पद पर समझी जा सकेगी।

वर्त्तमान मनुष्य उसी वंशवृक्ष की एक शाखा से निकला हुआ है जिस की और शाखाओं से आदमी, पर्वती-मनुष्य, वन मनुष्य, लंगूर और बानर आदि, मनुष्य के-से रूप-रंग-ढंग के प्राणी उत्पन्न हुए हैं। वर्तमान मनुष्य का दिमाग सब से बड़ा है। उस की इन्द्रियाँ भली-भांति विकसित हैं। उस के नाड़ीजाल बड़े सचेत और कर्मण्य हैं। उस की बुद्धि और विवेक सब प्राणियों में उसे श्रेष्ठ ठहराते हैं। उस का मानसिक विकास जितना ऊँचा हुआ है उतना ही उस का चरित्र, धर्म न्याय और नीति के अनुकूल है और शील पर उस का अद्भुत संयम है। उस के आचार और विचार के इतने विकास के साथ साथ

चित्र ७१—प्राचीन व्याल। [परिषत् की कृपा

उस के उच्चार का भी पूरा विकास हुआ है। और प्राणी शब्दों तक ही पहुंच सके हैं परंतु मनुष्य भाषा पर अधिकार रखता है। कुछ प्राणी इन्द्रिय-जनित ज्ञान के निष्कर्ष तक

चित्र ७२—प्राचीन तृश्रृंग व्याल [परिषत् की कृपा

पहुंचे हैं परन्तु मनुष्य बाह्य अनुभव को अपनी बुद्धि और विवेक की कसौटी पर कसता है। और प्राणियों में स्नेह है, वीरता है, आत्म-विस्मरण है, स्वार्थ-त्याग है और उद्योग है,

चित्र ७३—प्राचीन दंतुल पक्षी की ठठरी [मार्श का अनुवर्तन

सही, परंतु मनुष्य में इन सब के सिवा नीति का आदर्श है और आदर्श के अनुसार आचरण की प्रवृत्ति है, समाज का नेतृत्व है और लोकसंग्रह का भाव है।

मनुष्य का मस्तिष्क गोरिल्ले के मस्तिष्क से तिगुना भारी है। वह सीधा खड़ा होता है, धरती पर वह अपने तलवों को भरपूर जमाता है। उस के चिबुक है। ऊंचा और बड़ा माथा है। एक तरह के जमे हुए सुन्दर दांत हैं। उसका चेहरा बाहर की तरफ बढ़ा नहीं है। उस की एड़ी मोटी और सुन्दर है और उस की त्वचा पर अत्यंत कम रोएं हैं और विशेष विशेष अंगों में ही केशों की प्रचुरता है। यद्यपि वह आजकल के मौजूद वन-मानुष लंगूर या
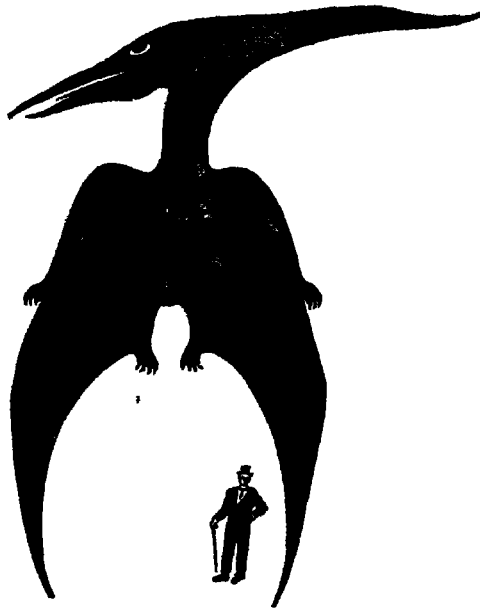
चित्र ७४—प्राचीन चमगीदड़ के रूप का पक्षि-दानव। मनुष्य की अपेक्षा यह कितना विशाल था। [परिषद् की कृपा

वानरों की सन्तान नहीं हैं तो भी शरीर के अवयवों में उन से इन की बड़ी समानता है। और यों तो प्राणी मात्र में जितने रीढ़वाले शरीरधारी हैं उन सब से ठटरियों में इन्द्रियों में इन्द्रियग्रामों में और जीवन की रक्षा की क्रियाओं में बहुत कुछ समानता है। और भ्रूण के रूप में तो जैसे मनुष्य का विकास होता है वैसे ही और सभी प्राणियों का विकास होता है। आरंभ में भ्रूण की दशा समस्त प्राणियों की एक सी होती है। परंतु धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों भ्रूण बढ़ता है त्यों-त्यों माता पिता के अनुरूप होता जाता है। इस तरह यद्यपि मनुष्य का वंश सब से अलग है तथापि सभी प्राणियों से विकास क्रम में बहुत कुछ समानता रखता है।

[देखो चित्र ७३ भ्रूण का विकास।]

सातवा अध्याय

स्वभाव का विकास-क्रम

१—पारस्परिक संबंध

विकास का एक पहलू है जिस पर निगाह कम जाया करती है। एक प्राणी का दूसरे प्राणी से बड़ा घना पारस्परिक संबंध है। फूलों और कीड़ों का अन्योन्याश्रय है। कीड़े खाने के लिए फूल के पास आते हैं परन्तु फूलों के रजों और परागों को विविध देशों में पहुँचाते और उन के वंश का विकास करते हैं। चिड़िया फलों को खाती और बीजों को फैलाती है और वृक्ष वंश को बढ़ाती है। एक प्राणी के शरीर में अनेक प्राणी परोपजीवी हो कर रहते हैं। मच्छर मलेरिया का वाहन है और चूहे की कीड़ी प्लेग का। एक प्राणी दूसरे को खाकर जाता है। परन्तु उस का शरीर स्वयं औरों के लिए महाभोज बनता है। पिंडजों का जो कुछ मल है वह उद्भिज्जों के लिए भोजन की सामग्री है और जो कुछ उद्भिज्जों का उच्छिष्ट और मल समझा जाना चाहिये वही पिंडजों के लिये अन्न और प्राण है। इस तरह संसार के प्राणिमात्र संबंध की डोरी में एक दूसरे से बँधे हुए हैं। विकास का कदम ज्यों ज्यों आगे बढ़ता है त्यों-त्यों परस्पर संबंध का यह ताना-बाना अधिक-अधिक घना होता जाता है। प्राणियों के शरीर के भीतर और बाहर परोपजीवी सूक्ष्म जीव जैसे चढ़ाई करते हैं उसी तरह शरीर के भीतर और बाहर दोनों दिशाओं में शरीर की रक्षा के लिए सूक्ष्म प्राणियों या वस्तुओं के द्वारा वह प्राणी भी उपाय कर लेते हैं जिन पर चढ़ाई होती है। इस तरह शत्रु मित्र और उदासीन सभी भावों से समस्त प्राणियों में सूक्ष्म से लेकर स्थूल तक परस्पर घनिष्ठ संबंध स्थापित है।

२—विकास के प्रमाण

विकासवाद का विचार जिन बातों पर उठा और जिनके आधार पर उसका विकास बराबर होता जाता है वह प्रकृति के विविध रूपों का ध्यानपूर्वक निरीक्षण है। पहिली

बात तो यह है कि भूगर्भ विज्ञानियों ने धरती के भिन्न स्तरों का परिशीलन किया और यह देखा कि ज्यों-ज्यों हम नीचे के स्तरों में देखते हैं त्यों-त्यों हम प्राणियों के पूर्व रूपों की ठठरिया पाते हैं। सब से नीचे के स्तरों मे शखादि का पता लगता है। खड़िया के स्तर मिलते हैं। उस से ऊपर मछली की ठठरिया मिलती हैं। फिर कछुओं और उभयचारियों के अस्थि-पंजर मिलते हैं। उस से ऊपर पुराने पिंडजो का पता लगता है। फिर नये पिंडजो का। इस
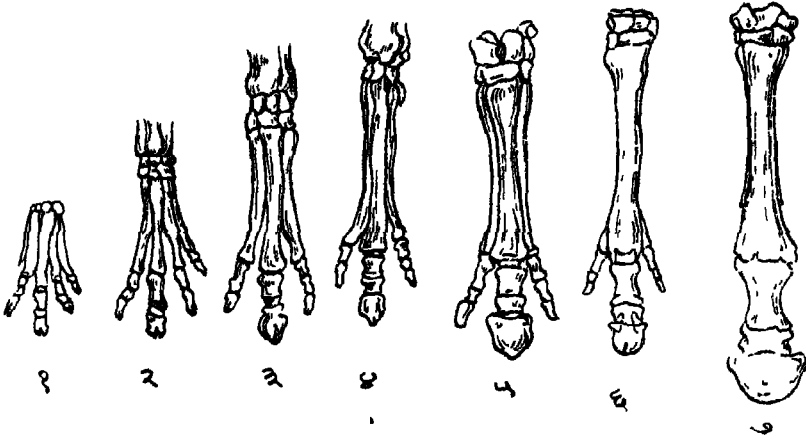
चित्र ७४—खुरका क्रमिक विकास

तरह ज्यो ज्यो हम ऊपर के स्तरों मे देखते हैं त्यों त्यों अधिक विकसित ठठरियों का पता लगता है। इस प्रकार सब से ऊपर के स्तरों मे मनुष्य की ठठरिया मिलती हैं। दूसरा प्रमाण यह है कि जो विकासक्रम इन स्तरों के अनुशीलन से बताया गया है उस का भ्रूण-विकास से समर्थन होता है। यद्यपि जो विकास करोड़ो बरस में हुआ है उस का दृश्य भ्रूण मे अठवारों मे ही देखने मे आता है। ऐसा जान पड़ता है कि मानो गर्भ मे जल्दी जल्दी भ्रूण का विकास ठीक उसी ढग पर होता है जिस ढंग से सम्पूर्ण सृष्टि मे समस्त प्राणियों का हो चुका है। तीसरा प्रमाण यह है कि प्राणियों के शरीर की अवस्था का विकास आज भी बराबर होता जाता है और पालतू पशुओं मे और लगाये जानेवाले पौधो मे हम विकास प्रत्यक्ष देखते हैं। चौथा प्रमाण यह है कि चाहे प्राणियों के रूप ऊपरी तौर पर कितने ही भिन्न हों, भीतर की ठठरिया एक ही तरह की हैं और अङ्ग-अङ्ग की हड्डिया वही हैं चाहे उन से काम विविध रीति से लिया गया हो। इन सब प्रमाणों पर विचार करके पिछले पचहत्तर बरसों के बीच विज्ञान के धुरन्धरों ने इस विकास-विज्ञान का विकास किया है। यह विज्ञान अभी बिलकुल नया है और इस विषय की खोज बराबर जारी है।

३—परिस्थितियों से संघर्ष-जीवन के विविध क्षेत्र

जान पड़ता है कि जीवन का आरंभ जल से ही हुआ है, परंतु गहरे जल से नहीं। समुद्र के किनारे के छिछले जल के पास ही जीवन का आरंभ हुआ होगा। जीवन का विकास प्रकृतिकी अवस्था पर निर्भर है। जैसी परिस्थिति होगी उस के ही अनुसार जीवन का पालन-

चित्र ७६—चमगीदड़ सरीखा एक पिंडल पक्षी जो प्राचीन शाखा मृगों की सन्तान है। गैलियो पिथिकस]   (पन्थिस की कृपा)

पोषण होगा। परिस्थिति किसे कहते हैं ? यह भी अच्छी तरह समझना चाहिये। गहरे जल में चारों ओर का दबाव बड़ा भयानक होता है। ठंढक सदा बनी रहती है। अन्धकार का साम्राज्य रहता है। भोजन की सामग्री मे वनस्पतियो का प्राय: अभाव ही रहता है। समुद्र के ऊपरी तल पर वायु का हलका दबाव है, रोशनी काफी है और जल का तो तल ही ठहरा। परन्तु वनस्पति की बहुतायत नहीं है, इस लिए भोजन की सामग्री की कमी है।

स्थल पर वायुमंडल का दबाव पानी की अपेक्षा कम है । वनस्पतियों की बहुतायत है । जगह-जगह पानी भी काफी मिलता है । प्रकाश है गरमी है वर्षा है और आंधी है । परन्तु गति नीचे ऊपर की नहीं है । इस तरह जल और स्थल की परिस्थितियां भिन्न हैं साथ ही इस स्थल के ऊपर भी कहीं अत्यंत कड़ी सरदी पड़ती और कहीं भयानक गरमी है और कहीं-कहीं तो तीन तीन और छः छः महीने की रात और इतने ही बड़े दिनों का मुकाबला करना पड़ता है ।
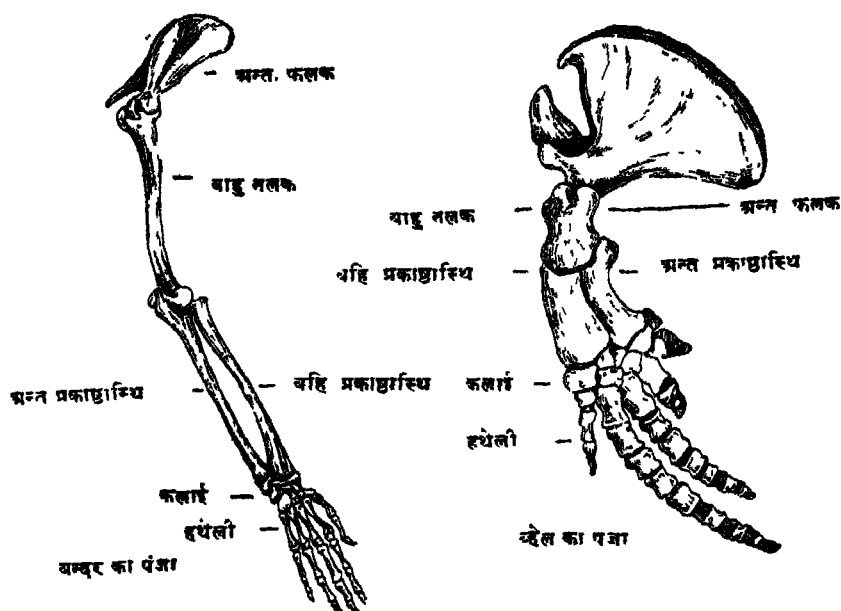
चित्र ७७—पंजे का क्रमिक विकास

ज्यार्ज न्यूम्स की कृपा] [थामसन का अनुवर्तन

कहीं बारहों मास अत्यंत ठंडक है और कहीं निरंतर गरमी पड़ती रहती है । कहीं-कहीं जहां चार महीने बरफ की वर्षा होती रहती है तो दूसरे चार महीने धरती को तवे की तरह तपाने वाली गरमी भी पड़ती है । यह तो ऋतु की बात हुई । सब जगह भोजन की सामग्री भी जैसी और जितनी चाहिए वैसी और उतनी नहीं मिलती । इस लिए जितने प्राणी हैं सब को अपनी परिस्थिति से विकट लड़ाई लड़नी होती है । इस लड़ाई में प्राणी-प्राणी का दुश्मन बन जाता है । कहीं-कहीं तो एक प्राणी दूसरे प्राणी का आहार ही होता है, उन में परस्पर की कोई दुश्मनी नहीं है । जंगल का शेर जंगल के साधारण मृगों का शिकार इस लिए नहीं करता कि वह उन का दुश्मन है । चिड़िया कीड़ों-मकोड़ों की दुश्मनी के लिए नहीं बल्कि

अपनी रक्षा के लिए खा जाती है। साथ ही भोजन की सामग्री एक ही जगह पर काफी नहीं होती और भोजन के चाहनेवाले उसी जगह बहुत ज्यादा हुए तो भोजन चाहनेवालों में आपस की लड़ाई हो जानी स्वाभाविक ही है। जोड़ों के लिए लड़ाइयां होती ही रहती हैं।
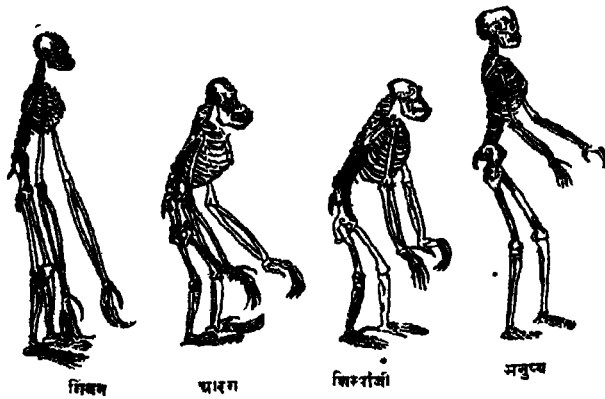
चित्र ७८—कंकाल का विकास

हक्सले से] [मकमिलन की अनुमति से

इस तरह प्रत्येक प्राणी का परिस्थिति के साथ निरंतर घोर संघर्ष होता रहता है। इस संघर्ष में जितने प्राणी बचने के लिए अयोग्य होते हैं धीरे-धीरे समाप्त हो जाते हैं। बचे हुए प्राणी अपनी परिस्थिति में योग्यतम समझे जाते हैं। इस लिए उन की ही परंपरा चलती है। इसी को योग्यतमावशेष का नियम कहते हैं।

४—वंश की रक्षा

प्रत्येक प्राणी अपने वंश की रक्षा के लिए स्वभाव से ही प्रेरित होकर कोशिश करता रहता है। भावी प्रजा को उत्पन्न करने के लिए सभी प्राणियों में प्रवृत्ति हुआ करती है। पौधों में या अन्चर प्राणियों में जहां इस प्रवृत्ति के पूरे होने के साधन अपने पास नहीं होते वहां उन के फूलों के रज और पराग को या फलों के बीजों को कीड़े-मकोड़ों और पक्षी अपने भोजन के लालच से उपजानेवाले क्षेत्रों में पहुँचाते हैं। जैसे अंडजों और पिंडजों में नर और मादा के आपस के खिंचाव और प्रेम के लिए रूप, रंग, आकार और बोली की मनोहरता और सुंदरता काम करती है, उसी तरह फूलों की सुगंध और सुंदरता कीड़े-मकोड़ों को, पराग और मकरंद अपनी मिठास से अपने खानेवालों को, अपनी ओर खींच लाते हैं। फल का सौंदर्य, सुवास और स्वाद जो गूदे में व्यापकर भीतर के बीजों की रक्षा करने के साधन हैं, खानेवालों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इस तरह

बीजों को ऐसी जगहों पर सहज में ही पहुंचने का मौका मिलता है जहां वह आगे की प्रजा को उत्पन्न कर सकते हैं।

चित्र ७४—प्रागैतिहासिक युगों का जंगल जो गगन-चुंबी घने वृक्षों से परिपूर्ण है। [पब्लिसिटी की कृपा

जैसे संतान की उत्पत्ति के लिए नर और मादा में परस्पर आकर्षण और प्रवृत्ति होती है उसी तरह अपनी संतान की रक्षा के लिए सभी प्राणियों में माता-पिता में प्रवृत्ति होती है। जिन प्राणियों में लाखों और करोड़ों की संख्या मे एक बारगी अंडे होते हैं उन में माता-पिता को रक्षा के लिए अधिक चिन्ता नहीं करनी पड़ती। परन्तु ज्यों-ज्यों विकास की

पीढ़ी ऊंची उठती है त्यों-त्यों संतान की संख्या घटती जाती है और उन की रक्षा के उपाय बढ़ते जाते हैं। माता-पिता में अपनी संतान के लिए स्वाभाविक स्नेह, ममता और रक्षा की चिन्ता बढ़ती जाती है। वात्सल्य प्रेम पिंडजों में बहुत कुछ बढ़ा हुआ पाया जाता है। वही मनुष्य में आकर अपनी पूरी बाढ़ के पहुंचाता है।

५—माया और छल का प्रयोग

जीवन के संघर्ष में परिस्थिति से अपनी रक्षा की सब से अधिक आवश्यकता प्राणियों को होती है। जिस तरह एक प्राणी दूसरे को खा जाता है उसी तरह किसी दूसरे द्वारा खाये जाने का भी उसे भय रहता है। इस लिये कभी तो छल से अपने शिकार को

चित्र ८१—सांप वेषधारी इल्ली
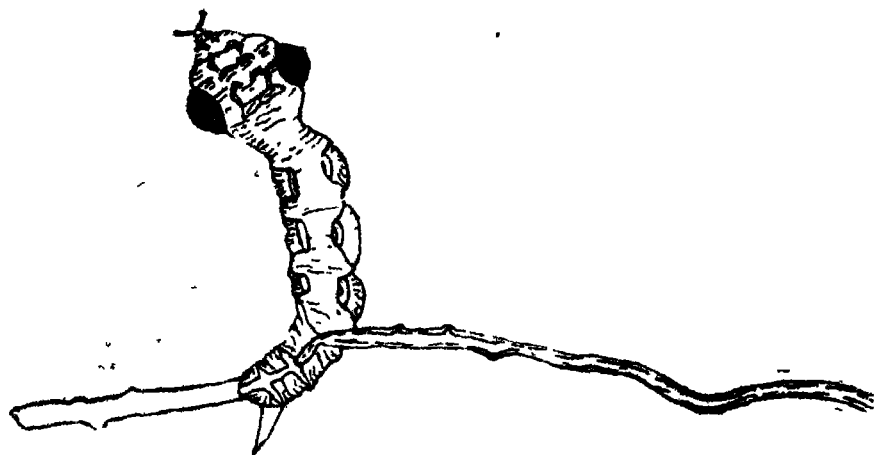
[परिषद् की कृपा

पकड़ने के लिए और कभी अपने वैरी से बचने के लिए प्राणियों को अपना रंग-रूप ऐसा बनाना पड़ता है कि निगाहों के सामने होते हुए भी शत्रु पकड़ न सके और न शिकार देख सके। बहुत से कीड़ों की इल्लियां अपने विकास के काल में सांप आदि के भयानक रूप धारण कर लेती हैं अथवा टहनी पत्ती आदि के रंग-रूप से बिल्कुल मिल जाती हैं। हरी-हरी पत्तियों के ऊपर अक्सर हरे कीड़े इस तरह लिपटे पड़े रहते हैं कि मानो उस पत्ती की एक स्वाभाविक रेखा हो। हरे हरे तोते पेड़ों की हरी पत्तियों के भीतर झुंड-के-झुंड बैठे होते हैं और पता नहीं लगता। सूखी झाड़ियों के भीतर चीते और शेर बैठे रहते हैं, और झाड़ियों के रंगने में ऐसे मिल जाते हैं कि दिखाई नहीं पड़ते। गिरगिट अपनी परिस्थिति को देखकर रंग बदला करता है। इसी तरह प्रकृति ने बहुतेरे प्राणियों को जिन्हें

चित्र ८०—रंग में रंग मिलाकर छिपने की कोशिश। माया और छल का प्रयोग।

छिपने और बचने की बड़ी ज़रूरत है ऐसे रग दे रखे हैं कि उन्हें इस काम मे बड़ी मदद मिल जाती है।

चित्र ८२—टहनी वेषधारी इल्ली [परिषत् की कृपा

चित्र ८३—टहनी वेष में [परिषत् की कृपा
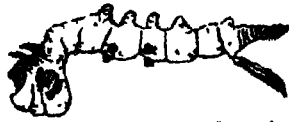
जिस तरह परिस्थिति के अनुकूल रग देकर प्रकृति रक्षा के उपाय करती है उसी तरह अनुकूल आकार भी दे देती है। अक्सर हरी हरी बेलों की नसों के सदृश बेलों पर ही लगे हुए कीड़े होते हैं जिन्हें देख कर कोई यह नहीं कह सकता कि यह हरी नसें या हरी

टहनियां नहीं हैं। कई कीड़े इस तरह के देखे गये हैं कि वह अधिकतर जिस बेल पर रहते हैं और उसकी पत्तियां खाते हैं, उसी के पत्तियों के आकार के ही उन के पंख होते
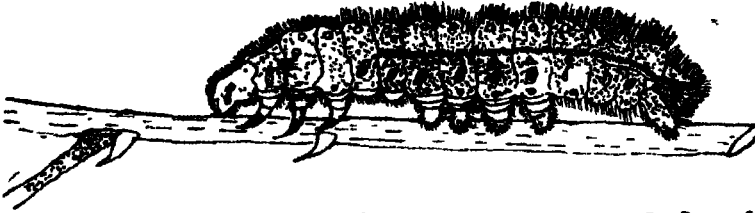
चित्र ८४ [परिषत् की कृपा

चित्र ८५ [परिषत् की कृपा

चित्र ८६ [परिषत् की कृपा
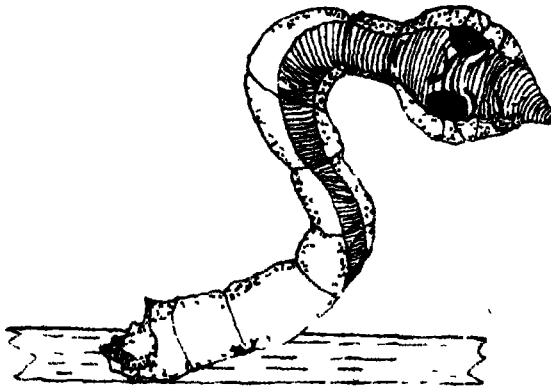
चित्र ८७ [परिषत् की कृपा

हैं। वह बैठते हैं तो साफ मालूम होता है कि उसी बेल की हरी पत्तियां हैं। गिरगिट किसी टहनी में लिपटा हुआ ऐसा जान पड़ता है कि उस जगह टहनी कुछ मोटी हो गयी

है। पास में मक्खी आकर बेधड़क बैठ गयी कि तीर की तरह उसकी लम्बी पतली जीभ निकल कर मक्खी को पकड़ लेती है। कई तितिलियां जब पंख सटाये रहती हैं तो जान पड़ता है कि पौधे की सूखी पत्तियां हैं।

६—ह्रास भी स्वाभाविक है

प्राणी ने अपनी रक्षा के लिए कोई उपाय उठा नहीं रक्खे। उसकी सहायता में प्रकृति ने भी भर सक पूरी कोशिश की। परंतु ऐसा जान पड़ता है कि प्रकृति एक काल तक अभ्यास करती रहती है और उस में जिस दर्जे की सफलता उसे होती है उसका अंतिम रूप देख कर और उससे असंतुष्ट होकर उसे मिटा देती है और फिर दूसरी तरह की रचना

चित्र ८८— उड़ान का विकास [टामसन का अनुवर्तन

में लग जाती है। हम इस बात को देख आये हैं कि भूगर्भ में अनेक बार सृष्टियों के आरंभ होने, विकास पाने और फिर लुप्त हो जाने का का पता लगता है। आदि युग में मृदुकाय शंखादि प्राणी संसार में फैले। प्रकृति ने उन्हें पाला पोसा उनकी रक्षा की और उन के महा भयानक रूपों तक उन्हें बढने दिया और फिर अंत में उन्हें प्रायः समाप्त कर दिया। मछलियों का यही हाल हुआ। उभयचारी प्राणी भी इसी तरह विकास पाकर लुप्त हो गये। आज शंखों के मछलियों के और उभयचारियों के बहुत से नमूने बाकी हैं परंतु

इन में बहुत बड़ी संख्या का और अनेक महत्व की जातियों का लोप हो चुका है। इसी तरह व्यालों की बढ़न्ती हुई और संसार में विशालकाय व्याल दानव और असुर फैल गये। उन का भी लोप हुआ। उरग जाति के आज बहुत थोड़े नमूने बचे दिखाई पड़ते हैं। इन उरगों में से एक प्रकार से एक ओर अंडज पक्षियों का और दूसरी ओर पिंडज स्थल चारियों का विकास हुआ। यह भी बड़े भयंकर विशाल आकारों में बढ़े। महासिंहों शार्दूलों और दिग्गजों ने संसार पर अधिकार कर लिया। परन्तु इनका भी प्रलयकाल में अंत हो गया।

चित्र ८६—दोपाया बनने की तैयारी में चौपाया
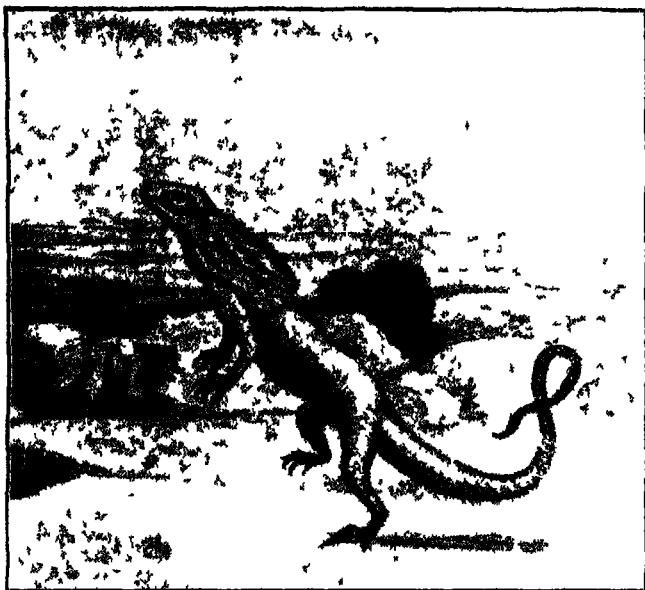
इन्हीं के समय में वानर और मनुष्य की आदिम जातियों की उत्पत्ति हुई थी। परन्तु यह शायद पूरे विकास को न पहुंच पाये थे कि शार्दूल-युग का अंत हो गया। प्रचंड हिम-वर्षा से संसार ढक गया और उस युग के प्राणी ठंढी समाधि में लुप्त हो गये। अत्यन्त ऊंचे पहाड़ों पर या गहरे जल में जो अंडज और पिंडज प्राणी बच रहे थे बरफ के गल जाने पर उन में ही फिर सृष्टि का विकास आरंभ हुआ।

७—मनुष्य के निकट संबंधी

यह कहना कठिन है कि आज के मनुष्य उसी आदिम मनुष्य के वंशज हैं या नये वंशों का फिर से विकास हुआ है। मिलान करने से इस बात में संदेह नहीं रह जाता कि

हड्डियों की जैसी समानता वानरों, लगूरों, शिपाजियों, गिब्बनो और गोरिल्लों से है वैसी किसी और जाति के पशुओं से नहीं है और विकास के क्रम में इन जातियों से मनुष्य की बहुत निकट की नातेदारी है। लबाई में पावों पर खड़े होने पर गोरिल्ला मनुष्य के बराबर हो जाता है परतु उस की चौड़ाई अत्यधिक है। और ताकत की तो बात न पूछिए। उस से अधिक बलवान प्राणी धरती पर नहीं है। यह केवल शाकाहारी है। परन्तु इसके चिबुक नहीं है। यह हनुमान नहीं है।

शिपाञ्जी कद मे छोटा है। ताकत भी कम है। चेहरे मे भी अतर है। वह भयानकता नहीं है। शाकभोजी है। गोरिल्ला का तरह आजानुबाहु है और खड़ा होकर कभी कभी चलता भी है। यह पाला जा सकता है, परन्तु गोरिल्ला नहीं पाला जा सकता। दोनों अफ्रीका में मिलते हैं।

ओरग का दिमाग़ आदमी के दिमाग़ से छोटा परन्तु वानर आदि जातियों में सब से बड़ा होता है। यह सुमात्रा, जावा और बोर्नियो मे पाया जाता है। शाकाहारी है। यह खड़ा होकर दोनों पावों से भी चलता है। पर इसकी चाल मे मनुष्य से अंतर है। आदमी सीधा खड़ा होता है। परतु वानर जातियों में से कोई सीधा नहीं खड़ा होता। ओरग को लोग वन मानुष भी कहते है। इसके लाल केश होते हैं। इसकी भुजाएं और हाथ इतने लबे होते हैं कि जब खड़ा होता है तो कभी कभी जमीन छू सकते हैं।

सस्कृत मे वानर आधे मनुष्य को कहते हैं। इसीलिए हम इन सब को वानर जाति कहेगे। यह जाति मनुष्य से पिडजो मे सब से अधिक मिलती है। आखे सामने होती हैं और सामने देखती हैं। आखो की हड्डी का कोष मनुष्य का सा होता है। खोपड़ी बड़ी होती है और दिमाग भी बड़ा होता है। हसली की हड्डिया दृढ और पूरी तौर से बढी होती हैं। हाथ-पाव लबे होते हैं। भुजाओं और जघो की हड्डिया बदन मे छिपी नहीं होती। हाथों और पावों में पकड़ सकने वाली पाच पाच उगलियां होती हैं और कम-से-कम अगूठो मे चिपटा नाखून होता है। किसी किसी ओरग के नहीं भी होता। सभी वानरियों के वक्षस्थल पर कम से कम दो स्तन होते हैं। माता और गर्भ का सबध नाल से होता है। अगुलिया यथेच्छ घूमती हैं, दूध के दात गिरकर स्थिर दात उगते हैं और सब तरह के दात होते हैं। यह सब बातें और सब पिडजो मे नहीं मिलती परन्तु मनुष्य मे मिलती हैं। इनके कान भी मनुष्य के से होते हैं।

— —

आठवां अध्याय

मनुष्य का विकास

१—मनुष्य की खोपड़ी

डारविन और वालेस ने इस विषय पर बड़े विस्तार से अनुशीलन किया है। उनके पीछे के विकास-विज्ञानियों ने भी इस विषय पर और अधिक प्रकाश डाला है। खोपड़ियों का विशेष रूप से मिलान किया गया है। पुरानी खोपड़िया जो पायी गयी हैं उनमें कुछ ऐसे मनुष्यों की खोपड़िया भी हैं जो कम-से-कम पांच लाख बरस पहले की अनुमान की जाती हैं और जो आज-कल के बन-मानुष ओरंग से अधिक बड़े दिमाग़ की हैं और प्राचीन मनुष्य की मालूम होती हैं। इनमें से एक को पूरा करके जो चित्र बनाया गया है यहा दिया जाता है।

इसी प्रकार डेढ लाख और एक लाख बरस के पहलेवाली खोपड़िया भी पायी गयी हैं और उनके भी रूप पूरे किये गये हैं। खोपड़ियों के मिलान से यह पता चलता है कि वानर जाति में चिबुक या हनु नहीं होता। मनुष्य जाति में भी धीरे धीरे हनु या चिबुक का विकास हुआ है। साथ ही दिमाग भी अधिक बड़ा होता गया है और गोल खोपड़ी मे स्थापित हुआ है।

मनुष्य के विकास की एक भारी विशेषता मस्तिष्क का विकास है। सब से छोटा मस्तिष्क मछलियों का होता है, उससे बड़ा उरगों का, फिर उससे बड़ा चिड़ियों का। चिड़ियों के बाद स्थलचारी पिंडजों का नंबर आता है। मनुष्यों का इन सब से बड़ा है।

केवल दिमाग का ही विकास नहीं हुआ है। सब से अधिक महत्व का विकास भीतरी और बाहरी ज्ञान और कर्म दोनों इंद्रियों का है। हर एक इंद्रिय पिंडजों में बराबर बढती हुई मनुष्यों में आकर सब से अधिक उन्नत अवस्था को पहुँची है। सभी पिंडजों की ठटरी प्राय: एक सी है पर वही सुधरते-सुधरते मनुष्य के शरीर में आकर अधिक सुडौल और उपयोगी हो गयी है। जहा मनुष्य का मस्तिष्क तौल में डेढ़ सेर का है वहा गोरिल्ले का

ढाई पाव से अधिक नहीं होता। मनुष्य की खोपड़ी में पचपन घन इच से कम समाई नहीं होती। परन्तु ओरंग और शिंपांज़ी की खोपड़ियों मे छब्बीस और साढ़े सत्ताईस की होती है जब मनुष्य खड़ा होना सीख लेता है तो बिल्कुल सीधा खड़ा होता है। दिमाग़ के बोझ से उस का सिर झुक नहीं जाता। उस का माथा ऊंचा और सीधा होता है। मुंह बाहर की तरफ़ अधिक निकला हुआ नहीं होता। गाल की हड्डिया छोटी और भौंह की ऊंचाई कम होती है। उस के दांत प्रायः समान होते हैं। हनु या चिबुक आदमी के ही होता है। मनुष्य अपना पूरा तलवा धरती पर रखता है। उस की एड़ी वानर की एड़ी से कहीं अच्छी है, और उस के अंगूठे अँगुलियों के मेल में हैं। उस की पूंछ की जगह की हड्डी मौजूद है परन्तु पूंछ की आवश्यकता नहीं है। इन सभी बातों में मनुष्य वानर जातियो से बढ़ा हुआ है। यह शरीर-रचना संबंधी बाते हुई। भाषा, सभ्यता, रहन-सहन बुद्धि विवेक और शिक्षा आदि सभी बातो से मनुष्य ने अपने को सब प्राणियों में उत्तम बना लिया है।

हेकेल "विश्वप्रपंच" में लिखता है—

चित्र १०—जावा में प्राप्त प्राचीन खोपड़ी के अनुसार मानव सिर की कल्पना।
[परिषत् की कृपा

"इस की सिद्धि में अब कोई सदेह नहीं रह गया है कि मनुष्य और वनमानुस के शरीर का ढाँचा एक ही है। दोनों की ठठरियों में वे ही २०० हड्डियाँ समान क्रम से बैठायी हैं, दोनों में उन्हीं ३०० पेशियों की क्रिया से गति उत्पन्न होती है, दोनों की त्वचा पर रोएं होते हैं, दोनों के मस्तिष्क उन्हीं संवेदनात्मक नाड़ी-चक्रों के योग से बने हुए होते हैं, वही चार कोठों का हृदय दोनों में रक्त-सञ्चार का स्पंदन उत्पन्न करता है। दोनो के मुह में ३२ दात उसी क्रम से होते हैं। दोनों में पाचन—लालाग्रंथि, यकृद्ग्रंथि, और क्लोम-ग्रंथि की क्रिया से होता है, उन्हीं जननेंद्रियों से दोनो के वंश की वृद्धि होती है। यह ठीक है कि डीलडौल तथा अवयवो की छोटाई बड़ाई में दोनो मे कुछ भेद देखा जाता है, पर इस प्रकार का भेद तो मनुष्यो की ही समुन्नत और बर्बर जातियो के बीच परस्पर देखा जाता है, यहां तक कि एक ही जाति के मनुष्यो में भी कुछ-न-कुछ भेद होता है। कोई दो मनुष्य ऐसे नहीं मिल सकते जिन के ओठ, आंख, नाक, कान आदि बराबर और एक से हों। और जाने दीजिए, दो भाइयो की आकृति में इतना भेद होता है कि जल्दी विश्वास

नहीं होता कि वे एक ही माता पिता से उत्पन्न हैं। पर इन व्यक्तिगत भेदों से रचना के मूल सादृश्य के विषय में कोई व्याघात नहीं होता।"

चित्र ११—मस्तिष्क का क्रमिक विकास। [टामसन का अनुवर्त्तन

२—मनुष्य का वंश-वृक्ष

वानर और मनुष्य जातियों की प्रकृति का बहुत विस्तार से अध्ययन करने के बाद अब तक विकास-विज्ञानियों का यह मत स्थिर हुआ है कि प्राणियों के वंश के महावृक्ष में पिंडजों की एक बहुत बड़ी शाखा निकली जिस से कि अनगिनत शाखाएं सब तरह के पिंडजों

की हुईं। उन में से एक बहुत बड़ी शाखा "वा-नर" या "मानवी" शाखा हुई। अनुमान किया जाता है कि यह शाखा तीसरे महायुग के पहले पचमांश में तीन बड़ी शाखाओं में फूटी। इन में से दो शाखाएं तो केवल बन्दरों की हैं जो आज तक मौजूद हैं। तीसरी शाखा के प्राणी किस तरह के थे इस बात का पता लगाना आज कई करोड़ से लेकर कम से-कम बयालिस लाख बरस बाद असंभव है। उस समय की खोपड़िया नहीं मिली
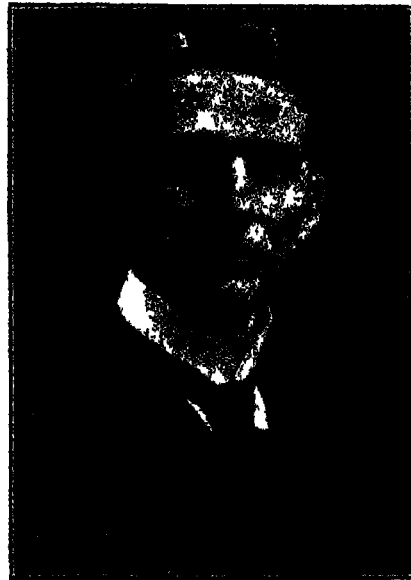
चित्र ४२—प्रोफ़ेसर फ्रेडरिक साडी, जन्म सं० १९३४।

हैं। अगर मिल सकतीं तो धरती के नीचे बारह हजार फुट पर मिलतीं। वह समय भारतीय पुराणों के हिसाब से वर्त्तमान चतुर्युगी के कम-से-कम चार लाख बरस पहले से आरंभ होता है। और हमारे सतयुग के आरंभ के आठ लाख बरस तक समाप्त होता है। यह तो पुराना हिसाब हुआ। प्रोफेसर रेले के हिसाब से तो जहां यह हमारी सत्ताइसवीं चतुर्युगी का अंत है वहां कहीं ग्यारहवीं या बारहवीं चतुर्युगी के लगभग यह घटना हुई होगी। इस के बाद इतना ही समय उस तीसरी शाखा के और चार शाखाओं के फूट निकलने में अनुमान किया जाता है। एक छोटी शाखा बन-मानुसों की निकलकर थोड़े ही काल में समाप्त हो गयी। उसी की जड़ से निकली हुई छोटे बनमानुसों की एक शाखा चली जो उस के आधे समय पीछे दो शाखाओं में विभक्त हुई, जो आज तक गिब्बन और श्यामाङ्ग के नाम की चल रही है। बाकी दो शाखाओं में एक मनुष्यों की शाखा हुई और दूसरी बड़ी

शाखा वनमानुसों की। जान पड़ता है जिस बड़ी शाखा में से यह दो शाखाएं निकलीं उस में आदिम मनुष्य पहले हुआ होगा। यदि हम साडी के अनुमान को ठीक मान लें तो इस आदिम जाति ने बहुत बड़ी उन्नति की होगी। परन्तु यह जब उन्नति के शिखर पर पहुँचा तब इस का पतन हो गया। फिर बचे-खुचे वंशज से विकास पाकर एक ओर से, तो सभ्य मनुष्य और दूसरी ओर से वन-मानुष्य हुए। मनुष्यों के दिमाग का बहुत बड़ा विकास हुआ और वन-मनुष्यों के शारीरिक शक्ति की बढ़ती हुई। पुराने हिसाब से चौबीस लाख बरस बाद या गत आधे त्रेता युग के बीतने पर अथवा रेले के हिसाब से वर्त्तमान मन्वंतर की

चित्र ६१—भ्रूण का विकास [परिषत् की कृपा
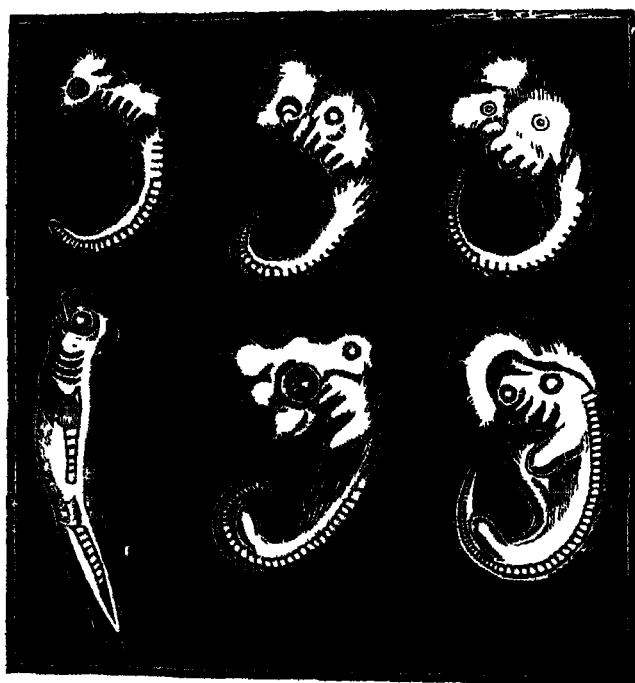
अठारहवीं चतुर्युगी में इन शाखाओं में से और शाखाएं फूटीं। बड़े वनमानुसों की एक नयी शाखा जो फूटी वह एक लाख बरस के भीतर ही समाप्त हो गयी। छोटे वनमानुसों की दो शाखाएं हुईं जिन में से एक तो आज से चार लाख बरस पहले ही समाप्त हो गयी। दूसरी उपशाखा अब से कम-से कम आठ लाख बरस पहले या द्वापर के आरंभ होने के पहले तीन उपशाखाओं में विभक्त हो चुकी थीं। तीनों भिन्न-भिन्न प्रकार के मनुष्य थे। इन में से एक का लोप चार लाख बरस पहले ही हो चुका है और दूसरी का लगभग दो लाख बरस पहले लोप हो चुका। तीसरी शाखा में वर्त्तमान काल के चार प्रकार के मनुष्य

मौजूद हैं (१) आर्य वा श्वेतांग, (२) अफ्रीकी वा कृष्णांग, (३) मगोली वा पीतांग तथा (४) रक्तांग। यह चार शाखाएं कम-से-कम चार लाख बरस पहले की निकली हुई समझी जाती हैं। अनेक वैज्ञानिकों के मत से पीतांग और रक्तांग दोनों एक ही शाखा से हुए हैं अतः एक वंश में हैं। इसी तरह वनमानुसों की ओरंग, शिंपाजी और गोरिल्ला यह तीन बड़ी जातियां और गिब्बन और श्यामांग दो छोटी जातियां आज भी पायी जाती हैं। वनमानुसों की पांचों जातियों में ठोढ़ी नहीं होती। यवद्वीप में उस प्राचीन मनुष्य की खोपड़ी पायी गयी थी जो अब से कम-से-कम पांच लाख बरस पहले भूतल पर रहा होगा। इस मनुष्य की खोपड़ी में ठोढ़ी मौजूद पायी गयी है। यह उस उपशाखा से हो सकता है जिस का आरंभ आज से लगभग अठारह लाख बरस पहले समझा जाता है। इसे ही सब से पुराना हनु या चिबुक रखनेवाला वन-मनुष्य समझना चाहिए। यह मनुष्य की शाखा थी इस लिए हम यह अनुमान करें कि इस शाखा या और लुप्त शाखाओं के मनुष्य मानवीय भाषा और सभ्यता रखते होंगे तो अनुचित न होगा।*

३—मनुष्य के पुरखे

आदिम मनुष्य कहीं उत्तरखंड में ध्रुव प्रदेश के आसपास हुआ होगा। और कम-से-कम वर्त्तमान चतुर्युगी के सतयुग के आरंभ में या इस से भी पहले हुआ होगा जब कि पृथ्वी के ऊपर हरियाली हो चुकी थी। वहीं से उस के वंशवाले अफ्रिका, भारत, मलय देश, और दक्षिण अमेरिका में फैले होंगे। यह अनुमान किया जाता है कि मनुष्य की सभ्यता का आरंभ एशिया में ही हुआ है। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि आदि काल में भी मनुष्य साधारण चतुष्पद की तरह नहीं था। वह दो हाथोंवाला प्राणी आसानी से जंगलों में पेड़ों पर रह सकता होगा। हाथ की आसानी के कारण बड़े हुए ओठों और दांतों से पकड़ने की ज़रूरत न पड़ी और बहुत जल्दी पेड़ को छोड़ कर उसे भूमि पर रहने में सुभीता हुआ होगा। इस संबंध में बहुत लंबे चौड़े तर्कों और युक्तियों से काम लिया जाता है। परन्तु विकास-विज्ञान अभी अपनी शैशवावस्था में है। अनेक बातें इन कल्पनाओं के विरुद्ध कही जा सकती हैं। हम ने यहां अब तक के वैज्ञानिकों के मत दे दिये हैं।

ऐसा समझा जाता है कि हर एक युग के अंत में हिमप्रलय हुआ है। जैसा कह चुके हैं, इस हिमप्रलय का यह अर्थ नहीं है कि एक बारगी प्रलय हो गया और फिर प्रलय का समय

---

* रामायण महाकाव्य में त्रेतायुग में श्रीरामचंद्रजी की सहायता करनेवाली सेना वानरों और ऋक्षों की थी। इन में हनुमान् (चिबुकवाले) भी थे। इन का चिबुक टेढ़ा हो गया। इस कथा से स्पष्ट है कि यह वानर जाति जिस में हनुमान आदि हुए चिबुकवाली जाति थी। यह लोग समझदार थे, विद्वान् थे। कलावान् थे। आजकल-के-से वानर न थे। महाभारत में ऐसी जाति की चर्चा नहीं है। संभवतः यह जाति तब तक समाप्त हो गयी थी।

समाप्त हो गया। हिमप्रलय तो जब आने लगता है तो लाखों बरस तक उस का सिलसिला लगा रहता है। तीसरे युग के अंत में जो हिमप्रलय हुआ उस के सिलसिले के खतम हो जाने
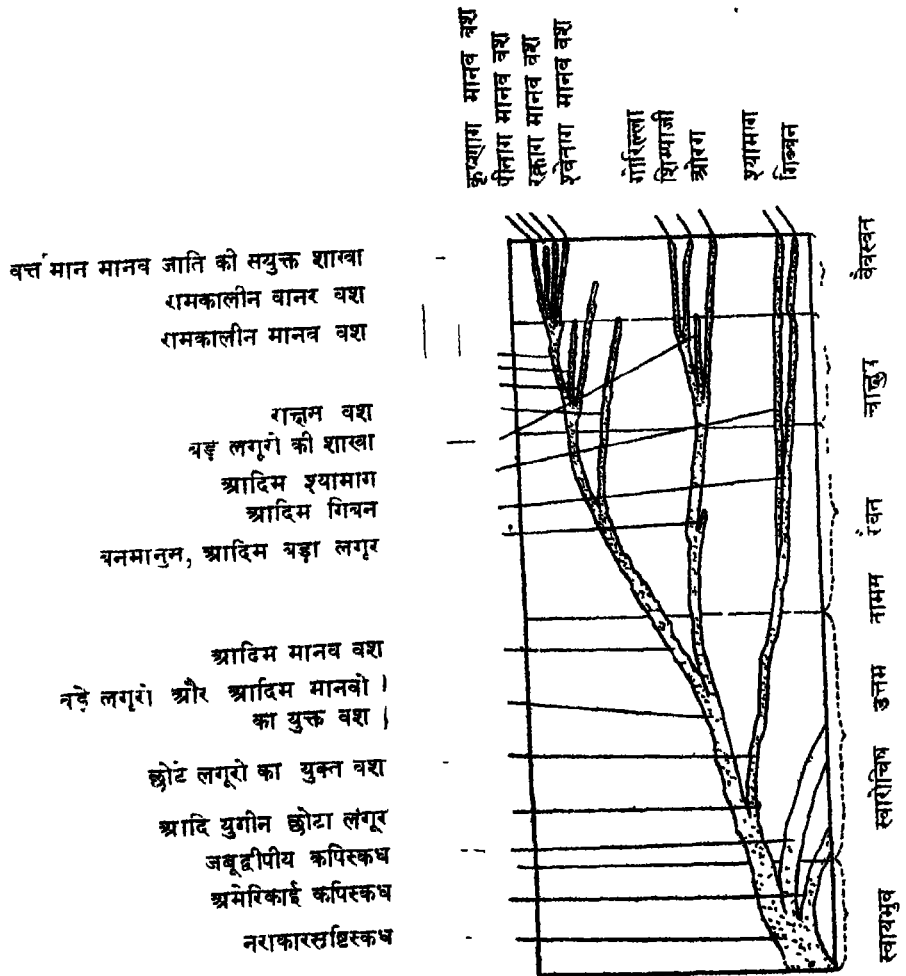
चित्र १४—नराकार प्राणियों का क्रमविकास-वृक्ष

[सर आर्थर कैथ के अनुसार कल्पित

विलियम्स ऐंड नारगेट की कृपा]

पर जो मनुष्य के अभ्युदय का काल आरंभ हुआ था उसी समय को हम वर्त्तमान मनुष्य के अभ्युदय का काल समझेंगे। परंतु उस से पहले मनुष्यों की अनेक जातियां और शाखाएं

हो गयीं, विकास पा चुकीं, और फिर मिट भी गयीं। सब से पुरानी खोपड़ी जो यवद्वीप में मिली ऐसा समझा जाता है कि पांच लाख बरस पहले की होगी। साथ की जघे की हड्डी बताती है कि इस प्राणी की ऊंचाई पांच फुट सात इंच रही होगी। माथा छोटा चपटा भंवे कुछ टेढ़ी और दिमाग कुछ छोटा था। इस की चाल ढाल आजकल के मनुष्य की-सी थी। इस का और इस के समय के अनेक पिंडजों का लोप हो चुका है। दूसरी खोपड़ी हेडलबर्ग में मिली है। यह हाथी, गेंडे, शेर आदि की हड्डियों के साथ मिली जो योरोप में तीन लाख बरस पहले ही लुप्त हो चुके थे। इस में सब बातें मनुष्य की-सी थीं, पर चिबुक न था। बहुतों की राय है कि इसे मनुष्य की प्रधान शाखामें न गिनना चाहिए।

तीसरी खोपड़ी सन् १८५६ में एक छोटी नदी में पायी गयी। इसी मेल की और खोपड़ियां कई जगह पायी गयीं। यह लगभग ढाई लाख बरस पहले के मनुष्यों की खोपड़ियां हैं जो योरोप में रहते थे। यह भी आजकल की मनुष्यों की शाखा से अलग ही था, जिस का लोप हो गया है।

इंगलिस्तान में पिल्टडाउन में सन् १९१२ में एक खोपड़ी मिली। यह आज के मनुष्यों की खोपड़ी से बहुत मिलती जुलती है। इसे डेढ लाख से लेकर पांच लाख बरस तक की आंकते हैं। इस जाति के मनुष्य भी अब नहीं हैं। यह निश्चय नहीं कहा जा सकता कि लाखों बरस पहले वर्त्तमान मनुष्यों के पूर्व पुरुष अपने सम सामयिक मनुष्य जाति के मुकाबिले में कैसे थे, या उस समय में यह लोग थे भी या नहीं। मानवी शाखा बराबर नयी नयी शाखाएं प्राचीनतम युगों से फेंकती आयी है। उन में से अनेक शाखाएं बढ़-बढ़कर लुप्त होती गयी हैं। मनुष्य बने परंतु सदा के लिये नहीं बने। अपना विकास पूरा करके खतम हो गये। कौन कह सकता है कि वर्त्तमान मनुष्य सदा के लिए इस धरती पर आया है। बहुत सम्भव है कि किसी भविष्य युग में इस की खोपड़ियों से भी आजकल के खोये हुए इतिहास का पता लगाया जाय।

४—वर्त्तमान मानव जाति

भूगर्भ विज्ञानी वर्त्तमान मनुष्यों के विकास को भी छोटे-छोटे युगों में बांटकर वर्णन करते हैं। उन की कल्पना है कि वर्त्तमान मनुष्य भी बहुत धीरे-धीरे सभ्यता की सीढ़ियों पर चढता हुआ आया है। पेड़ों पर रहना छोड़कर जब वह धरती पर रहने लगा तो उस ने पहाड़ों की खोहों के भीतर अपना घर बनाया। उन की खोपड़ी बड़ी थी। माथा ऊंचा था। और चिबुक ठीक बना हुआ था। शेष अंग प्रत्यंग आजकल के-से थे। उन्हों ने खोहों के भीतर भीतों पर चित्र भी बनाये हैं। कहीं-कहीं उन की बनायी मूर्त्तियां भी मिली हैं। उन की समाधियों की तैयारी से जान पड़ता है कि उन का विश्वास परलोक में भी था। वह पत्थर के हथियार बनाते थे। उन हथियारों में उन की कारीगरी दिखाई पड़ती है। वह लोग तीसरे और चौथे प्रलय के अवांतर काल में हुए। वह लोग अपने सम सामयिक मनुष्यों के बड़े अच्छे प्रतिस्पर्धी थे। परंतु वह भी जगत के सभी भागों में रह नहीं गये। योरोप में

तो वह जल्दी ही लुप्त हो गये और एशिया ने फिर नये मनुष्यों को आबाद किया। यह तो नहीं कहा जा सकता कि किसी बलवान जाति का ह्रास आवश्यक है। परंतु मनुष्य के इतिहास में यह बराबर देखा जाता है कि शक्ति और सफलता के शिखर पर पहुँचने के बाद उस का ह्रास अवश्य होता है और कभी-कभी वह लुप्त भी हो जाता है। इस के कारण तो निश्चय रूप से नहीं मालूम हैं परंतु कभी-कभी परिस्थिति कभी उस की शारीरिक रचना और स्वभाव और कभी जीवन की होड़ से ह्रास होने लगता है। कभी जाति के किसी भयानक शत्रु की प्रबलता भी कारण हो जाती है, जैसे मलेरिया आदि।

अंतिम प्रलय के बाद मनुष्य जाति अधिक सुधरी हुई पायी जाती है। पहले के पत्थर के औजार रगड़कर चिकने नही किये होते थे। परन्तु अब बहुत चिकने और सुंदर बनाये जाने लगे। यह लोग शिकार करते थे।

इस के बाद धातुओं का समय आया। धातुओं में पहले-पहल तांबे का प्रयोग होने लगा। उस के बाद कांसे का प्रयोग आरंभ हुआ। सब से अंत में लोहा काम में आने लगा। अब तक मानवी सभ्यता लोहे की ही सभ्यता है। योरोप के विज्ञानियों का यह मत है कि इसी क्रम से मनुष्य ने धातुओं का प्रयोग जाना। उन्हों ने यह पता लगाया है कि एशिया में ईसा से चार हजार बरस पहले तांबे का प्रयोग मनुष्य को मालूम था। परन्तु लोकमान्य तिलक ने वेद के मंत्रों की रचना का काल ईसा के कम से-कम आठ दस हजार बरस के पहले सिद्ध किया है और उन मंत्रों में सोना, चांदी, तांबा, लोहा सब का वर्णन पाया जाता है। सोने का वर्णन बहुत है। कांसा आदि मिश्रित धातुओं का भी वर्णन है। हम यहां यह कहे बिना नहीं रह सकते कि हम जो यहां विकासवाद पर लिख रहे हैं वह विशुद्ध युरोपीय दृष्टि का वर्णन कर रहे हैं। बहुत संभव है कि भारतीय दृष्टि से खोज की जाय तो इन सिद्धांतों में बहुत-कुछ उलट-पलट हो जाय।

५—मनुष्य का वर्ण-विभाग

भिन्न-भिन्न देशों और कालों में बंटकर रहते-रहते और विकास पाते-पाते मनुष्य की विविध जातियां हो गयीं जिन में से कुछ बहुत आगे बढ़ी हुई हैं और कुछ पिछड़ी हैं। इन में आपस के विवाह संबंध से भी विविधता उत्पन्न होती गयी। एक ही जाति के भीतर के विवाह-संबंध से आपस में एक स्वभाव और समता की मात्रा स्थायी हो गयी। और भिन्न-भिन्न बाहर की जातियों से वैवाहिक संबंध होते होते विविधता और स्वभाव भेद में बहुत वृद्धि हो गयी। एक वर्ग के कुछ लोग किसी तरह से एक देश में बहुत काल तक अलग रह जाते हैं। इस तरह उन की जाति अलग हो सकती है। परिवारों में विविधता और रूप-भेद हो जाता है और यह बड़े विस्तार के साथ होता है। वैवाहिक संबंध में विशेष रूप से चुनाव होता है और संतान में विविधता बढ़ती है। इस तरह जो लोग अधिक योग्य होते हैं अयोग्यों पर प्रभुता करने लगते हैं। कभी-कभी अंतर्जातीय संबंध से बिल्कुल नये रंग-रूप उत्पन्न होते हैं। इस में जो अवनति करनेवाले गुणों से और चिह्नों से युक्त होते हैं वह

साधारण विकास-क्रम में छूट जाते हैं। इस तरह एक विशेष प्रकार की जाति बन जाती है। इस तरह की मनुष्य की विशेष जातियां तो संसार में बहुत हैं। तो भी पाश्चात्य विज्ञानियों ने मनुष्य जाति को चार विभागों में बांटा है। अफ्रीकी, आस्ट्रेलियाई, मोगल और काकेशी। जितने मनुष्य संसार में हैं सब की गणना इन्हीं चारों में से किसी एक में हो सकती है। पहले के ईसाई भाव से प्रेरित वैज्ञानिक साम, हाम, जाफत इन तीनों नूह के लड़कों के वंश के विचार से तीन ही जाति मानते थे। परंतु अब चार मानने लग गये हैं।*

अफ्रीकी जाति में वह सब लोग शामिल समझे जाते हैं जिन के बाल ऊन की तरह होते हैं, अफ्रीका के हब्शी और झाड़ी-जंगलों के रहनेवाले इसी जाति में हैं।

आस्ट्रेलियाई जाति के वह लोग समझे जाते हैं जिन के बाल लहरीले या घूंघरवाले होते हैं। इन में दक्षिण भारत के जंगली लंका के वेद्द तथा आस्ट्रेलिया के प्राचीन निवासी समझे जाते हैं।

सीधे बालोंवाले तिब्बत के रहनेवाले अनाम, श्याम, ब्रह्मदेश, चीन, जापान, और लपलैण्ड तक के रहनेवाले मुगल जाति के समझे जाते हैं।

काकेशी जाति में भूमध्य-सागर के चारों ओर के रहनेवाले, तुर्क, अरब, पठान, जर्मनी और भारतीय तथा समस्त आर्य लोग शामिल है।

यह विभाग भी शुद्ध रीति से वैज्ञानिक नहीं है। भारतवर्ष में स्मृतिकारों ने मनुष्य जाति को चार वर्णों में बांटा है। श्वेतवर्ण, रक्तवर्ण, पीतवर्ण और कृष्णवर्ण। श्वेतवर्ण में काकेशी और आर्य लोग शामिल हैं। रक्तवर्ण में अमेरिका के आदिम निवासी और उसी तरह के रक्तवर्ण के लोग हैं। पीतवर्ण के लोगों में समस्त मुगल जाति है जिस में चीनी और जापानी प्रधान हैं। कृष्णवर्ण के लोगों में काले रंगवालों की समस्त जातियां हैं जिन में अफ्रिका के निवासी प्रधान हैं। यह विभाग भी ऐसा नहीं है कि यह कहा जा सके कि काकेशी या आर्य जातियों में काले चमड़े के लोग नहीं हैं और न यह कहा जा सकता है कि लाल चमड़ेवालों में और रंगवाले नहीं पाये जाते। ऐसा कोई कटा और नपा हुआ विभाग मनुष्य में नहीं हो सकता जिस में यह कहा जा सके कि किसी दूसरे विभाग का मेल नहीं है। परन्तु यह विभाग बहुत आसानी से इस ख्याल से समझे जा सकते हैं कि जो जाति किसी विशेष रंगवाली समझी जाती है उस में उसी विशेष रंग की अधिकता है।

बाल और रंग के सिवाय और भी विशेषताएं हैं जिन से एक दूसरी जाति में भेद

---

* यह निश्चित रूप से कोई वैज्ञानिक वर्गीकरण नहीं है। हमारे यहां मनुने ब्राह्मण को श्वेत, क्षत्रिय को रक्त, वैश्य को पीत और शूद्र को कृष्ण वर्ण कहा है। संसार में भी चार वर्ण मिलते हैं। आर्य श्वेतांग हैं। अमेरिका के मूल निवासी रक्तांग हैं। मंगोल पीतांग हैं और अफ्रीकी कृष्णांग हैं। इन्हें ही प्रकृत ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र कहना चाहिये।

कर सकते हैं। हब्शियों के ओंठ मोटे होते हैं। नाक चौड़ी-चिपटी होती है। आखें उभरी हुई दांत बड़े-बड़े और खोपड़ी लंबी होती है। मुगलो का चेहरा चौड़ा होना है। गाल की हड्डिया उभरी हुई होती हैं आंखें छोटी और धंसी हुई होती हैं। खोपड़ी लंबी चौड़ी सब तरह की होती है। काकेशियों की दाढ़ी बढ़ी हुई होती है। गाल की हड्डियां धंसी हुई होती हैं। नाक पतली पर उभरी हुई होती है दांत छोटे होते हैं। चिबुक अधिक सुंदर होता है। इस तरह विविध जातियो में जो विशेषताएं होती हैं उन से उन का पहिचाना जाना कठिन नहीं है।

६—वर्त्तमान मनुष्य

ऐसा समझा जाता है कि मनुष्य की उत्पत्ति एशिया में ही कहीं हुई। और जिस समय संसार के सभी द्वीप मिले हुए थे उसी समय मनुष्य जाति सब जगह फैल गयी। जब जल-स्थल अलग-अलग होकर भिन्न-भिन्न महाद्वीप बन गये उस समय मनुष्य लोग बंट गये और एक दूसरे से अलग हो गये। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इस तरह अलग न हुए होते तो सब की सभ्यता बराबर होती। अफ्रीका, अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि महाद्वीपो और अन्य द्वीपो में मनुष्य की सभ्यता का वैसा विकास नहीं हो पाया जैसा कि एशिया और योरोप में हुआ। एशिया और अफ्रिका में भी भारतवर्ष, चीन, मिश्र की सभ्यता सब से प्राचीन समझी जाती है। योरोप के रोम और यूनान की सभ्यता इन से पीछे की है। परंतु रोम और यूनान की सभ्यता का अब लोप हो गया है। उस के स्थान में योरोप की और देशों की सभ्यता जो उन्ही की नीवें पर खड़ी है अत्यंत बढ़ी-चढ़ी है। इस समय मनुष्यता ने अपने भौतिक ज्ञान में वहीं सब से अधिक विकास पाया है यद्यपि चरित्र मे योरोप की सभ्यता भारत की अपेक्षा अत्यंत हीन दशा में है। आज योरोप के मनुष्यो ने प्रकृति की शक्तियो को अपने वश मे कर रखा है। उस ने बिजली को अपनी गाड़ी मे जोत दिया है और आकाश को अपना हरकारा बना रक्खा है। धरती से कारून का गड़ा खजाना निकाल लिया है। उस ने तार और बेतार से देश और काल पर विजय पायी है और समुद्र और वायुमंडल पर आसानी से बहता और उड़ता फिरता है। उस ने रोगों का रहस्य जान लिया है। और उन पर काबू कर लिया है और अपने पशुओं और पौधों को नये साचों में ढाल रहा है। नीति की दिशा में भी वह सत्यम् शिवम् सुदरम् की ओर बढ़ता दिखाई पड़ रहा है। उस में जिस तरह बहुत अच्छे-अच्छे गुणों का विकास हुआ है उसी तरह कुछ ह्रास के भी चिह्न दिखाई देते हैं उस की आर्थिक योजनाए बहुत संकुचित भाव प्रकट करती हैं। उस के यांत्रिक विकास से प्राकृतिक जीवन का सामंजस्य बिगड़ गया है। सामाजिक जीवन में भी धनी और रंक का इतना भारी अंतर पड़ गया है कि जगह-जगह विप्लव के चिह्न दिखाई पड़ रहे हैं। आचार और नीति में भी अभिमान के कारण योरोपीय सभ्य मनुष्य में दुर्निवार दोष आ गये हैं। वह अपने को ही मनुष्य समझता है। शेष मनुष्य जाति को अपने सुख की सामग्री जुटाने के लिए साधन और मनुष्यता से हीन समझता है।

पूर्ण मनुष्य वह होगा जो प्रकृति से अपने विकास के अनुकूल काम ले सकेगा। अपने को शारीरिक बल में शारीरिक सौंदर्य में और शारीरिक स्वास्थ्य में पूरी ऊंचाई तक पहुँचा सकेगा। अपने चरित्र को शुद्ध, स्वच्छ, सुंदर, सच्चा और निर्मल बना सकेगा। अपनी

चित्र १९—जगद्विख्यात गणिताचार्य्य डाक्टर गणेशप्रसाद [सं० १९३३–१९९१ वि०]
इस विद्वान् की बदौलत गणितशास्त्र में भारत की प्राचीन अग्रगण्यता और प्रतिष्ठा संसार में फिर से स्थापित हुई। [परिषत् की कृपा

आधिदैहिक आधिभौतिक और आध्यात्मिक उन्नति अबाध रूप से कर सकेगा, जो व्यक्ति रूप से परिस्थिति का दास न होगा बल्कि स्वामी होगा। निदान वही मनुष्य पूर्णतया पहुँचेगा वही पूर्ण मनुष्य होगा जो पुरुषोत्तम के आदर्श का पूर्णतया पालन कर सकेगा।

नवां अध्याय

विकास के सिद्धांत

१—इतिहास से निष्कर्ष

जीवन का विकास एक प्रकार से चैतन्य जगत का इतिहास है। उस का साफ मतलब यही है कि सृष्टि जब से आरंभ हुई तब से आजतक बराबर उस के बढ़ने घटने और फिर बढ़ने और इस तरह विकास के निरंतर होते रहने का क्रम बराबर जारी है। आज तक इस का तार नहीं टूटा है। चराचर प्राणियों की एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक इस क्रम में संबंध बराबर जारी रहता है। विकास-सिद्धांत यही है कि वर्तमान काल भूत काल की संतान है और भविष्य काल का पिता है। जो पौधे और पशु अथवा चराचर प्राणी आज मौजूद हैं वह इस से पहले युग के अधिक सीधे सादे प्राणियों से उत्पन्न हुए हैं और वह पूर्वज अपने से भी अधिक सीधे सादे प्राणियों से उत्पन्न हुए हैं। इसी तरह अत्यंत पूर्वतम प्राचीन काल में जाते जाते हम ऐसे सूक्ष्म सीधे सादे प्राणियों तक पहुँचते हैं जिन का हम को पता नहीं है और जिन की सत्ता के लिए हम केवल अपनी कल्पना पर निर्भर हैं। पत्थर पर अंकित इतिहास को ठीक-ठीक पढ लेने में चाहे हम भूल भले ही कर जाय परंतु वह इतिहास झूठे नहीं हो सकते। यह तो बिल्कुल स्पष्ट ही है कि इस विशाल जगतीतल के भीतर प्राचीन काल का इतिहास अधिक विस्तार के साथ जगह-जगह मौजूद है और अभी हमारे अनुभव में नहीं आया है। जो कुछ मनुष्य के अनुभव में आया है वह तो इतना थोड़ा है कि संपूर्ण छिपे इतिहास के सामने उस की कोई गिनती नहीं है। अभी मोहनजोदारों में और हड़प्पा में पांच छ: हजार वर्षों के पहले के इतिहास की सामग्री मिली है। भारतवर्ष में तो भूगर्भ विज्ञान के संबंध में पर्याप्त गहरी खुदाई कहीं हुई भी नहीं है। इसलिए बहुत थोड़े प्रमाणों के आधार पर विकासवादियों ने इस विज्ञान की रचना की है। तो भी यह बात तो स्पष्ट रूप से सिद्ध है कि जगतीतल के इतिहास में कोई समय ऐसा भी था जब शंख सरीखे बेरीढ़वाले प्राणियों का ही राज्य था। युगों बीते और इन प्राणियों का ह्रास हुआ और

संसार के पहले रीढ़वाले प्राणी मत्स्यों का विकास हुआ। ऐसा जान पड़ता है कि मत्स्यों ने शंखों का विनाश किया। कौन कह सकता है कि मत्स्यावतार द्वारा शंखासुर का विनाश इसी अत्यंत प्राचीन इतिहास का द्योतक नहीं है और पुराणों में यह प्राचीन कथा इसी प्रस्तरांकित इतिहास की प्रतिध्वनि नहीं है? हम तो यों कह सकते हैं कि आदि युग में मत्स्यावतार द्वारा शंखासुर का विनाश ही प्रस्तरों के पट्ट पर चित्रित है। मछलियों के भी युगों बीते और हाथ पाँव उंगलियोंवाले स्थल के ऊपर रेंग सकनेवाले परन्तु जलस्थल दोनों में रहनेवाले जीव बढ़े और जगत में फैल गये। आजकल का कछुआ और मेंढक इन का प्रतिनिधि हैं। पुराणों में कच्छप अवतार भी मत्स्यावतार के बाद कहा जाता है और विकास के अत्यन्त प्राचीन इतिहास की प्रतिध्वनि-सा जान पड़ता है। उभयचारियों के भी बढ़न्ती के युग आये और इन्हों ने महत्ता का उपभोग किया, फिर बीत भी गये। अब महाविशाल व्यालों और उरगों की बारी आयी। यह पक्ष-हीन और सपक्ष दोनों प्रकार के हुए। इन की ऐसी बढ़ती हुई कि संसार को इन्हों ने घेर लिया। कद्रू के पुत्र उरगों ने सूर्य के घोड़ों को घेरकर काला कर दिया और पक्षियों के राजा की माता को दासी बनाया। विनतापुत्र गरुड़ ने अपनी माता को बंधन से छुड़ाया और उरगों का विनाश किया। यह पौराणिक कथा भी प्रतिध्वनि ही जान पड़ती है। पृथ्वी के चंडासुर उरग अन्तिम उरग थे जिन में कि अंडज पक्षी और पिंडज प्राणी उत्पन्न हुए और फैले अनुमान किये जाते हैं। आरंभ में विषमता का होना अस्वाभाविक नहीं है। उस समय पिंडजों में अत्यन्त भयानक जन्तु और अंडजों में हिंसक पक्षी अवश्य हुए होंगे। अपने से कम बलवान उरगों का इन दोनों ने मिलकर विनाश किया होगा। उस समय के विकराल व्याल जो मैदान में आकर लड़े होंगे अन्त में जीवन के रगड़े में नष्ट हो गये होंगे। वर्त्तमान उरग और व्याल वह दुर्बल और छोटे बचे-खुचे प्राणी हैं जिन्होंने बिलों में और खोहों में छिपकर अपनी रक्षा की। पुराणों में जटायु, गरुड़, सम्पाति आदि बलवान पक्षियों की जैसे चर्चा है वैसे ही नृसिंहावतार, शार्दूल, दिग्गज, महावराह आदि स्थलचरों की भी चर्चा है। कालक्रम से सृष्टि के संबंध में यह चर्चा भी पुराणों में इसी क्रम से आती है। यह भी किसी अत्यन्त प्राचीन इतिहास की प्रतिध्वनि है। इन घटनाओं के भी युगों-पर-युग बीत गये। अन्त में मनुष्य का आविर्भाव हुआ। यह पहली मनुष्य जाति अवश्य ही आदिम जाति थी। मानवी सभ्यता का इसी ने आरंभ किया होगा। और सब पिंडजों के बहुत ऊँचे विकास के समय में आदिम मनुष्य का उदय हुआ होगा। उस समय के दानवाकार प्राणियों के सामने यह वामन रूप में आया और पृथ्वी पर तीन पग मात्र पर अपना अधिकार जमाकर बहुत ही शीघ्र सारे संसार में फैल गया होगा। जंबूद्वीप या एशिया पर पूरा अधिकार करके असुरों को पाताल भेज दिया होगा। पुराणों में वामनावतार की कथा शायद इसी बात का परिचय देती है। प्रस्तरों में लिखे इतिहास से यह भी पता चलता है कि प्रत्येक महायुग के अन्त में हिमप्रलय होता रहा है। और मनुष्य की जाति में भी इन प्रलयों के कारण बारबार परिवर्त्तन होता रहा है। सब से पिछली जाति के मनुष्यों का विकास जिस ढंग पर होता आया है वह हम कुछ अधिक विस्तार से जानते हैं। बहुत पास के समय में आकर जब हमारे साहित्य का युग

आरंभ होता है तब से लेकर आज तक तो मनुष्य के विकास का इतिहास दर्पण की तरह हमारे सामने है। हाल के इतिहास से तो यह बिल्कुल निर्विवाद रूप से सिद्ध है।*

हम यह भी जानते हैं कि विकास की लहर कभी बहुत ऊंचे उठती है और कभी अत्यत नीचे चली जाती है। जिन प्राणियों का विकास अपनी हद को पहुंच गया उन का ह्रास और नाश भी हो गया। बड़े-बड़े ऊंचे विकास के प्राणी दैत्य और असुर उड़नेवाले शार्दूल किसी समय में इस भूतल पर भरे हुए थे जो आज बिल्कुल नष्ट हो गये हैं और जिन्हो ने अपने पीछे अपना स्थान लेनेवाला नहीं छोड़ा है। इसी प्रकार यह भी असंभव नहीं है कि वर्त्तमान मनुष्य जब अपने विकास की पराकाष्ठा को पहुंच जाय तो उस का भी ह्रास हो और वह भी नष्ट हो जाय।

बड़ी-से-बड़ी धर्म-घड़ी मे भी हमें यह नहीं देख पड़ता कि मिनट की सुई घूम रही है, फिर भी हम जानते हैं कि घंटे भर में वह एक चक्कर पूरा करती है और घंटेवाली सुई बारह घटे मे एक चक्कर पूरा कर लेती है। यदि सौ बरस मे एक चक्कर पूरा करने का प्रबध हो तो देखनेवाले को तो कई बरस तक ऐसा जान पड़ेगा कि मानो सूई चली ही नहीं। परन्तु सुई की चाल ठीक-ठीक नियमित होगी। विकास की गति अत्यंत धीमी है। भेद दिखाई पड़ने लायक भारी-भारी परिवर्त्तन लाखों और करोड़ों बरसो में अत्यत धीरे-धीरे होते हैं। इसीलिए विकास की कोई गति साधारण दृष्टि में नहीं आती, परन्तु तो भी उस के अनेक चिह्न हम नित्य देखते हैं और प्रकृति की लीला, विचित्रता या खेल समझकर रह जाते हैं। जैसे एक कोई चतुर बौना या बालक गायनाचार्य या शतावधानी लड़का या बे-पूंछ की बिल्ली या भूमि तक लटकनेवाले अयाल का घोड़ा या सफेद कौवा या दूध देनेवाला बकरा इत्यादि जब हम देखते हैं तो इन नयी चीजों को प्रकृति का खेल या भूल समझ लेते हैं। परन्तु यह अनोखे रूप असल में प्रकृति के वह परिवर्त्तन हैं जिन्हें वह विकास के कार्यालय में कच्चे माल की तरह काम में लाती है। जब हम ऐसी अनोखी चीज देखते हैं तो वस्तुतः विकास के अटूट भंडार के द्वार पर खड़े होते हैं।

विकास के काम में तो मनुष्य स्वयं बड़ी सहायता पहुँचाता है। अमेरिका के लूथर बरबक ने नागफनी के कांटे गायब कर दिये और चेपों की जगह मीठा गूदा पैदा कर दिया जिस से बरबंकी नागफनी पशुओं के खाने-योग्य काम की चीज हो गयी। सब लोग जानते हैं

---

*मुसलिमों के साहित्य में भी विकासवाद का पता लगता है। जिस मसनवी-मानवी को जुबाने पहलवी में कुरान की इज्ज़त दी जाती है उस में यह शेर हैं—

आज़मूदम मर्गेमनदर ज़िन्दगीस्त। चूंरेहमज़ाँ ज़िन्दगी पायन्दगीस्त।
अज़ जमादी मुर्दमो नामी शुदम्। अज़नुमा मुर्दम वो हैवानी शुदम्।
मुर्दमज़ हैवानियो मर्दुम शुदम्। पस्चिरा तरसमज़े मुर्दन गुम शुदम्।

तात्पर्य यह कि जमाद से उद्भिज्ज, उद्भिज्ज से पशु और पशु से मनुष्य-शरीर में जीव का क्रम-विकास होता आया है। मरना वस्तुतः विकास में एक कदम आगे बढ़ना है

कि बेर में कितनी कड़ी और बड़ी गुठली होती है और जरदालू या खूबानी का गूदा विशेष स्वादवाला होता है, परंतु यह फल बेर से बड़ा है। बरबंक ने इन दोनों का संयोग कराकर एक नये फल की उत्पत्ति की, जिस का नाम (प्लम-काट) "बेरानी" रक्खा। इस में गुठली गायब है और गूदे में बहुत ही अपूर्व स्वाद है। इसी प्रकार साठ-सत्तर बरस के भीतर अनेक नये प्रकार के फल, फूल, बीज और पौधे बन गये या बनाये गये।

संवत १९५९ के आरंभ में वसंत ऋतु में कनाडा में ओटावा नगर के पास डाक्टर चार्ल्स साउंडर्स ने अनेक उत्तम बीजों में से गेहूं का एक सर्वोत्तम बीज चुनकर बोया। इस से जो गेहूं के बीज हुए उन में से उत्तम चुन लिये और अगली फसल में उन में और अच्छे बीज चुनकर बोये। इस प्रकार धीरे-धीरे बढ़ात-बढ़ाते चौदह बरस में इसी जाति के गेहूं की फसल बीस करोड़ मन हुई। संवत् १९७४ में तीस-करोड़ मन की पैदावार हुई। यह मार्किस गेहूं कहलाता है। इस गेहूं का विकास एक पीढ़ी के भीतर ही हुआ है।

पुराणों में कथा है कि विश्वामित्रजी ने अपने तपोबल से नयी सृष्टि की रचना शुरू की। गेहूं आदि कई तरह के अनाज और नारियल आदि कई तरह के फल उन्हीं के बनाये हुए कहे जाते हैं। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि मनुष्य ने ही गेहूं को अपने जंगली रूप से वर्तमान रूप दिया है। कहते हैं कि पहले फल, मूल और छोटे-छोटे जानवरों पर आदमी गुज़र करता था। जंगली घासों के दानों पर उस की दृष्टि गयी। उस ने कुछ खाये और कुछ गिराये जिन से कि फिर वही घास उपजी। यह देखकर उस ने बीजों को उगाना शुरू किया। गेहूं जब आदि अनाज धीरे धीरे खेती की चीज़ बन गये और उन का वर्तमान रूप विकास का फल है। मनुष्य ने विकास में केवल पौधों को ही मदद नहीं दी। उस ने पालतू जानवरों का भी विकास कराने में सहायता पहुंचायी। उस के पालतू जानवरों का जंगली रूप कुछ और था परंतु मनुष्य के साथ रहते रहते उन का भोजन रहन-सहन और स्वभाव बहुत कुछ बदल गया। घोड़ा हरिण की जाति का पशु है। कुत्ता भेड़िये की जाति का पशु है और बिल्ली जो शेर की मौसी कहलाती है चीते की जाति का पशु है, परंतु इन में कितना भारी अंतर पड़ गया है।

जब किसी चर या अचर प्राणी का विकास होता है तो उस में दो बातें अवश्य देख पड़ती हैं। मूल रूप के कुछ गुण और आकार विकसित प्राणी में मौजूद होते हैं अर्थात् कुछ बातों में समानता होती है। साथ ही परिस्थिति के अनुसार विकसित रूप में जिन बातों की आवश्यकता होती है वह पैदा हो जाती है और नयी परिस्थिति में मूल की जो बातें दोष की तरह गिनी जायंगी उन का अभाव हो जाता है। मूल से विकसित में यही अंतर होता है। विकास में इसी प्रकार समानताओं और अंतरों का काम होता रहता है। पिंडजों के अंगों में इंद्रियों में और विशेष रूप से ठटरियों में समानता होती है। विकास का क्रम ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है त्यों-त्यों मूल से समानता भी घटती जाती है और अंतर भी बढ़ता जाता है। ह्वेल और बंदर दोनों पिंडज हैं परंतु दोनों के कंकालों में बहुत अंतर पड़ गया है।

विकास की ऐसी अवस्था भी अंत में आ जाती है जिस में मूल से समानता अत्यंत कम होती है और अंतर अत्यधिक। परंतु सभी दशाओं में परंपरा को स्थिर रखना और

ऐसे उपाय करना कि अनुवर्त्तन की अविच्छिन्न धारा जारी रहे, प्रकृति में विकास का सिद्धांत है।

२—रक्षा की ओर परंपरा की गति

चराचर में गति की दिशा वही पायी जाती है जिस में विकास की परपरा की रक्षा रहे। पौधे धरती फोड़कर बाहर इसी लिये निकलते हैं कि उन की प्राणशक्ति को बढ़ाने-वाला सूर्य का प्रकाश वायु और बाहरी आर्द्रता मिलती रहे। छोटे-से-छोटे कीड़े मुख्यतः इसी लिये उड़ते या दौड़ते रहते हैं कि उन को भोजन मिले और उन की रक्षा रहे। इसी प्रयत्न का फल है कि हर एक प्राणी को उस की परिस्थिति के अनुकूल गति के सुभीते और साधन मिले हैं। पौधों की गति नीचे से ऊपर की ओर होती है, बहुत धीमी होती है और परिमित होती है। लताएं सभी ओर को चलती हैं और अपनी रक्षा के सुभीते बराबर देखती रहती है। पक्षियो को उन की आवश्यकता के अनुसार सभी तरह की स्थल और वायु मडल की गतियां प्राप्त हैं। इसी तरह जलचर और उभयचारियो को भी उन की परिस्थिति के अनुसार गति के साधन मिले हैं। ज्यो-ज्यो किसी एक क्षेत्र से निकलकर दूसरे क्षेत्र मे या एक परिस्थिति से निकलकर दूसरी परिस्थिति मे प्राणी जाता है त्यो त्यो प्रकृति को उस की गति के और जीवन-रक्षा के साधनो मे उचित परिवर्त्तन करना पड़ता है। परिस्थिति मे परिवर्त्तन होने का प्रभाव कभी प्राणी के लिये इष्ट पड़ता है और कभी अनिष्ट। किसी पौधे को हम एक जगह से दूसरी जगह उगाना चाहें तो वह पोषण की अनुकूलता न पाकर नष्ट हो जाता है। परन्तु जब हम ऐसी स्थिति में उसे ले जाते हैं जो उस के स्वभाव के लिये सब तरह से अनुकूल है तो वह साधारणतया केवल बढता ही नही है बल्कि विकास के मार्ग मे अग्रसर हो जाता है। गरम देशो के पौधे ठढे देशो में या ठढे देशो के पौधे गरम देशो में इसीलिए नही होते। इस के साथ यह भी कारण है कि पौधो की गति अत्यत मद है। आवश्यकता पड़ने पर वह अपने देश को बदल नही सकते। जो प्राणी आवश्यकता नुसार एक स्थान से दूसरे स्थान को चले जा सकते है वह जल वायु की प्रतिकूलता देखकर स्थान बदल देते हैं। जब जाड़ा पड़ने लगता है तब पक्षियो के झुंड-के-झुंड उत्तराखंड से उड़कर दक्षिण की ओर जाते हुए दिखाई पड़ते हैं। इन पक्षियो के लिए संसार में जाड़ा कभी पड़ता ही नही। पिंडज प्राणी बिलो मे और खोहो में रहकर अपनी रक्षा कर लेते हैं या स्थान बदल देते हैं। जब जल सूख जाता है तो अक्सर बहुत से जल के प्राणी कीचड़ के भीतर मूर्च्छित दशा मे पड़े भी रहते हैं। परन्तु इन प्राणियो मे दूरदर्शिता भी देखी जाती है। जब जल घटने लगता है तब यह अधिक बड़े जलाशय की ओर चले जाते हैं।

३—बामी मछली की गति से उदाहरण

गर्मियो के आरंभ मे महासागर मे गिरनेवाली नदियों की ओर बामी मछली के बच्चो के झुंड-के-झुंड नदी के बहाव के विरुद्ध बढ़ने लगते हैं। यह चार पाच

अंगुल से ज्याद: लंबे नहीं होते और एक सूजे से ज्याद: मोटे भी नहीं होते। इन्हें धार के विरोध मे ही तैरते और बढ़ते जाने में सुख होता है। यह सीधे जाते हैं। परंतु केवल दिनभर चलते हैं। ज्यों ही सूरज डूबता है त्यों ही करारों या चट्टानों के भीतर छिपकर रात बिता देते हैं और दिन निकलते ही फिर यात्रा करने लगते हैं। चलते चलते यह नदी के ऊपरी हिस्सों मे पहुंच जाते हैं। और छोटी-छोटी नदियों और चश्मों में भी चले जाते हैं जिस से कि उस बड़ी नदी का मेल होता है। इस तरह वह कभी कभी नालियों मे चहबच्चों में या गढ्ढों में भी पहुंच जाते हैं। जहा नदी और गड्ढों मे बराबर जल का प्रवाह रहता है, वहा यह रहते खाते पीते है और बरसो तक बढ़ते रहते हैं। बहुत सी छोटी बामी मछलियो के बहुतायत होने के कारण यही होता है। नर की पूरी बाढ मे पाच छ: बरस और मादा की पूरी बाढ में छ: से आठ बरस तक लग जाते हैं। यह मछलिया जब हाथ सवा हाथ से ज्याद: लबाई को नहीं पहुंची रहती तभी उन मे बेतरह चचलता आ जाती है। उन के शरीर पर एक चादी सी चमकती खाल चढ़ जाती है और आख बड़ी हो जाती हैं। यह उन की जवानी की अवस्था है जिस में वह सतान पैदा करती हैं। वह अब समुद्र की ओर लौटती हैं। कभी-कभी इन्हें गड्ढे से नदी को जाने मे रातो रात आर्द्र घास के मैदानो को खिसट-घिसट कर तय करना पड़ता है। वह दिन मे नहीं चलती। अत मे समुद्र के गहरे कुडो मे ही जाकर दम लेती हैं। वहीं अडे देती है। उन के तुरत के दिये हुए अडो का तो आज तक पता नहीं लगा है। परन्तु बच्चे चाकू के पतले फल की तरह पारदर्शी देखे गये हे। केवल आखो से ही उन की पहचान हो सकती है। यह जल मे डूबते-उतराते कई महीनों मे चार-पाच अगुल लबे हो पाते हैं। धीरे धीरे यह कुछ सुकड़ जाते हैं और चपटे से गोल हो जाते हैं और तब फिर अपनी माता-पिता की तरह अपनी लबी यात्रा पर चल देते हैं। यह यात्रा कभी कभी तीन तीन हजार मील की होती है। बामी मछलियो को इस तरह एक जगह जन्म लेना पड़ता है और दूसरी जगह उन का पालन-पोषण होता है। दोनो परिस्थितियो मे काफी अतर होता है। अनुकूल परिस्थिति को पाने के लिए इतनी दूर-दूर की यात्रा करनी पड़ती है।

जिस तरह जल, स्थल और वायु की परिस्थितिया भिन्न है उसी तरह उन मे रहनेवाले प्राणियो के भी भिन्न रूप और स्वभाव और सुभीते हैं। इन्हीं परिस्थितियो के अनुसार प्राणियो में परिवर्त्तन होता रहता है और देश-काल के अनुसार भेद पड़ता जाता है।

४—मनोविकास

चर प्राणियो मे साधारणतया आरभ से नैसर्गिक बुद्धि एक प्रकार से ही देखी जाती है। इस बुद्धि के लिए किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं होती। नये पैदा हुए बच्चे को सास लेना या दूध पीना कोई नहीं सिखाता परतु जब वह चलना चाहता है तो बड़े जतन से उसे सीखने की जरूरत होती है। सांस लेने की क्रिया उस के लिए स्वाभाविक है और दूध पीने के लिए प्रयत्न करना उस की नैसर्गिक बुद्धि है। वश-परपरा से नाड़ी और

मासपेशियो की सेलो का ऐसा काम बाधा गया है कि ज्यों ही आवश्यकता पड़ती है यह सब काम करने लग जाते हैं। यह स्वाभाविक बुद्धि साधारण स्वाभाविक दशा में खूब काम करती है, परतु उस के बदलते ही गड़बड़ा भी जाती है। यह बात जानी हुई है कि कोयल कभी अपने लिए घोंसला नहीं बनाती। उसे जब अंडे देने होते हैं तो कौवे के घोसले में जिसे वह पहले से निश्चित कर रखती है घुस जाती है और कौवे के अडे को उठा लेती है और अपना अडा उसी जगह डाल देती है। यह क्रिया बहुधा कौवे के सामने की जाती है।* तो भी कौवे की नैसर्गिक बुद्धि कोयल के अडों की रक्षा और उस में से निकले हुए बच्चे का पोषण कराती है। कछुए के अंडे जो बालू में दिये जाते हैं जब फूटते हैं तब बच्चे स्वभाव से ही जल की ओर रेंग जाते हैं। घड़ियाल बालू के नीचे हाथ-डेढ-हाथ पर अपने अडे गाड़ देते हैं। जब अंडा फूटनेवाला होता है तो भीतर से बच्चा पतली आवाज़ से रोता है इस पर तुरत उस की माता जो बराबर चौकसी में रहती है बच्चों को खोदकर निकाल लेती है। यह सब उन की नैसर्गिक बुद्धि की प्रेरणा है।

यह बात हम कैसे जानें कि प्राणी का अमुक काम खासने और छींकने की तरह स्वाभाविक प्रेरणा से है और उस के पीछे बुद्धि और विवेक का काम नहीं हो रहा है? इस की विधि प्रोफेसर लायड मार्गन ने यह बतायी है कि हम को बड़े यत्न से किसी घटना का ठीक-ठीक वर्णन करना चाहिए और उस में अपने विचार को जरा भी दखल न देना चाहिए। और यदि किसी नीचे दर्जे की शक्ति से उस की प्रेरणा सिद्ध की जा सके तो ऊंचे दर्जे की मुक्ति को उस का प्रेरक मानना नहीं चाहिए। इस नियम पर चलते हुए कभी हम अनुदार भले ही समझे जायं और सभवतः सूक्ष्म बुद्धि की किसी क्रिया के पहचानने में चूक भले ही जाय परंतु तो भी हमारे इस तरह के दस निष्कर्षों में से नौ तो अवश्य ही ठीक निकलेंगे।

मछलियां की आखें पलकों के न होने से कभी बंद नहीं होतीं। कान के छेद बंद होते हैं। कान से शायद वह सुनने का काम नहीं लेतीं बल्कि अपने शरीर को समतोल रखने का काम लेती हैं। उन का दिमाग सब से कम विकसित होता है। परतु हाथ पाव का तो एकदम अभाव है। उभयचारियो में यह पहले-पहल देख पड़ते हैं। व्यालो और उरगो मे ज्ञान और कार्य की इंद्रियो का अच्छा विकास मिलता है। ज्यों-ज्यों हम विकास की श्रेणी मे ऊंचे उठते हैं त्यों-त्यों सतान की रक्षा और वात्सल्य प्रेम के भावों को बढ़ता हुआ पाते हैं।

साप कछुए आदि कोसों की दूरी तय करके अपने स्थान पर पहुच जाया करते हैं, और अपने पोसनेवाले को पहचानते हैं। यह नैसर्गिक बुद्धि की बात नहीं है। इस में सीखनेवाली बुद्धि स्पष्ट रूप से काम कर रही है। कबूतर चिट्ठिया पहुँचाता है। बया खरे-

---

* इस नैसर्गिक बात को हमारे देश के लोग अनादि काल से जानते हैं, इसीलिये कोयल को "काकपाली" अर्थात् कौए के द्वारा पाली हुई भी कहते हैं।

खोटे सिक्के पहचानता है, कुएं से पानी निकालता है और कई तरह के खेल दिखाता है। कुत्ते अंडे और अखबार खरीद लाते हैं। इस तरह जानवरों में सीखकर काम करने की क्षमता उन की बुद्धि के विकास का प्रमाण देती है।

नैसर्गिक बुद्धि से प्राणी जो काम करता है उस में सदा सफल ही नहीं होता। बहुत बार उस से चूक भी हो जाती है। भूल-चूक से सीखने की क्रिया साधारण बुद्धि को उत्तेजित करती है। प्रोफेसर लायड मार्गन ने कुछ मुर्गों के अंडे अपनी प्रयोगशाला में कृत्रिम विधि से सेकर बच्चे पैदा किये। उन्हों ने यह देखा कि अपनी माँ की बोली की उन को खबर न थी। वह प्यासे थे और अँगुली के सिरे पर लगे हुए पानी को चूस रहे थे। परतु चिलमची भरे पानी में चलते हुए भी वह अपनी नैसर्गिक बुद्धि से पानी को पहचान न सके। उन्हों ने सयोगवश अपने पाव की उंगलियों में चोंच मारी तब उन्हें पानी का पता चला और चोंच ऊपर आकाश की ओर जब उठाया तब पहले पहल अपने से पानी पीना सीखा। वह कीड़े खाते थे परंतु लाल ऊन के टुकड़ो को कीड़ो के धोखे से उन्हो ने चोंच में भर लिया। पक्षी बड़ी जल्दी सीख लेते हैं। उन मे साधारण बुद्धि का विकास जल्दी होता है। शायद चींटिया, दीमके और भिड और मधुमक्खियां इतनी जल्दी सीख नहीं पातीं। कौवों को देखा गया है कि अपने खाने से बची हुई रोटिया किसी खपरे के नीचे छिपा देते हैं कि उन के साथी या और पक्षी उठा न ले जायें। कई दिनो के बाद अपनी रखी हुई रोटी कौवा खपरे उलट-उलटकर खोजकर निकाल लेता है। इस तरह कौए मे स्मरण शक्ति है और भूल-चूक से अपने को सुधारने और सीखने की प्रवृत्ति है। चिड़ियो के पीने के लिए इस पुस्तक का लेखक अपने घर नाँद में पानी रखा करता था। उस में अक्सर रोटी के गले हुए टुकड़े देखता था। कई बार देखा कि कौवा सूखी रोटी लाकर नाँद में डाल देता है और जब गल कर नरम हो जाती है तब निकालकर खाता है। जब कौवा देखता था कि नाँद में पानी बहुत है तब रोटी नहीं डालता था। कम पानी होने पर भी कई बार रोटी निकाल न सका। यह बातें नैसर्गिक बुद्धि की नहीं हैं। इस में विचार का विकास स्पष्ट दिखाई देता है और अर्जित बुद्धि से काम लिया जा रहा है। कौवा तो पक्षियों में बड़ा चतुर समझा जाता है। परंतु बया कामों के सीखने में बहुत से पक्षियों से कहीं ज्यादा होशियार पाया गया है। पिंजडों में घोड़े हाथी आदि पालतू जानवरों की समझदारी और सीखने की शक्ति की कहानियाँ इतनी मशहूर हैं कि उन पर यहाँ विस्तार करने की ज़रूरत नहीं है। विकास के सिलसिले में ज्यों-ज्यों हम ऊंचे उठते हैं त्यों त्यों नैसर्गिक बुद्धि पर अवलंबन घटता हुआ पाते हैं और भूल-चूक से सीखने और अर्जित बुद्धि के विकास-क्रम को बढ़ता हुआ पाते हैं। सीखे हुए काम में कुशलता, विचार-संग्रह और बुद्धि का जाग्रत रहना यह बराबर बढ़ता जाता है। खेलों के द्वारा भी सभी प्राणियों का मन सदा परीक्षा में लगा रहता है और मनोरंजन में बढ़ती हुई समझ-बूझ का प्रमाण मिलता है।

जब हम वानर जाति तक पहुँचते हैं तब देखते हैं कि इंद्रिया अधिक तीव्र हो गयी हैं। हाथ में ज़्यादा होशियारी आ गयी है। हर काम में जल्दबाजी है और चंचलता की तो हद है। सीखने में बड़ी तेजी है। भूल-चूक से लाभ उठाना और पूरी-पूरी नकल करना

वानरों की विशेषता है। वन-मानुस में स्वाभाविक और शिक्षा-ग्राहिणी अर्जित बुद्धि पूरा विकास पा चुकी है परन्तु उस के पास साधन काफ़ी नहीं हैं। जिन साधनों की उस में कमी

चित्र ४६—चार्ल्स डारविन [सं० १८६६-१९३९ वि०]
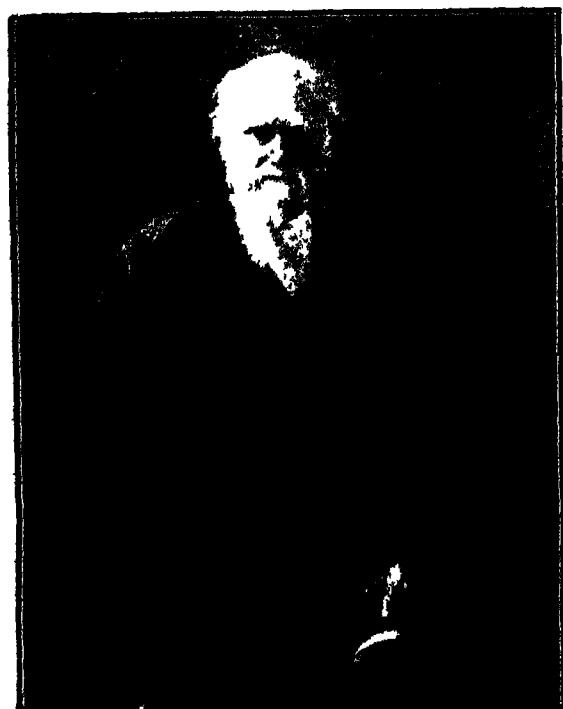
[परिषत् की कृपा

है वह मनुष्य-योनि में आकर पूरे होते हैं। मनुष्य का दिमाग़ सब प्राणियों के दिमाग़ से बड़ा है।

दसवां अध्याय

विकासवाद की वर्त्तमान स्थिति

१–डारविन के सिद्धांत

इस विज्ञान का आरंभ डार्विन से हुआ है। परन्तु डार्विन के समय से लेकर अब तक इस विज्ञान का भी विकास होता आया है। पाश्चात्य वैज्ञानिक समाज ने इस विज्ञान के सिद्धान्तों को निर्विवाद मान लिया है। डार्विन के सिद्धान्तों को थोड़े शब्दों में हम यहां देते हैं।

पहला सिद्धान्त यह है कि परिवर्त्तन जीवन की विशेषता है। यह बात साधारणतया देखी जाती है कि सन्तान का रूप रंग और स्वभाव थोड़ा-बहुत माता पिता और परिवार के और लोगों से भिन्न हुआ करता है। इन में से कुछ भेद ऐसे हैं जिन से सन्तान को अधिक सफलता होती है। भोजन पाने में, शत्रुओं से बचने में, ठीक जोड़े के मिल जाने में, आने वाली सन्तान को आगे बढ़ाने में और इसी तरह की और बातों में उसे अधिक सफलता होती है। जिन में अनुकूल परिवर्त्तन हुए हैं उन में उन लोगों की अपेक्षा अधिक सफलता होगी जिन में या तो प्रतिकूल परिवर्त्तन हुआ है या कोई परिवर्त्तन ही नहीं हुआ है।

दूसरा सिद्धान्त यह है। यदि अनुकूल परिवर्त्तनवाली व्यक्ति अपनी उत्तमता का सुफल पा जाय और दूसरी अपनी हीनता के कारण विकास की होड़ में रुक जाय, तो इस का प्रभाव वंश, जाति या वर्ग के चरित्र पर पड़ता है, परन्तु साथ ही यह आवश्यक है कि क्रम से आनेवाली पीढ़ियों में नयी विशेषताएं इस तरह लग जाती हैं कि वह वंशानुगत बन जाती हैं। यदि अनुकूल विशेषताओं वाली व्यक्तियां बराबर लाभ ही उठाती रहें और उन के गुण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्राप्त होते रहें तो वही गुण सारी जाति के हो जायेंगे। जिन में प्रतिकूल परिवर्त्तन होते हैं या जिन में परिवर्त्तन का अभाव रहता है वह धीरे धीरे निकाल डाले जायेंगे और अन्त में मिट जायेंगे।

तीसरा सिद्धान्त यह है कि इस तरह छंटने के लिए एक छलनी चाहिए। यह छलनी

जीवन का रगड़ा है। प्राणियों का जीवन बहुत-सी बाधाओं से घिरा हुआ है और उस के सामने नित्य नयी-नयी कठिनाइयां आती रहती हैं। आबादी घनी हो जाया करती है। परिस्थितियां बदला करती हैं। जिस प्राणी में प्राण-शक्ति अधिक है वह ढकेलकर आगे बढ़ता है। भोजन के लिए, ठहरने की जगह के लिए, जोड़े के लिए और परिवार की भलाई के लिए, निदान जरूरी चीजों के लिए और आराम की चीजों के लिए भी हर प्राणी के जीवन में बड़ा कठिन रगड़ा है। "जीवो जीवस्य जीवनम्" अथवा—

जीवै जीव अहार, बिना जीव जीवै नहीं।

इस नीति के अनुसार एक प्राणी दूसरे प्राणी को खा जाता है। हर खानेवाले के लिए एक दूसरा खानेवाला मौजूद है। इस के सिवाय सर्दी और गर्मी का, आंधी और पानी का, सूखे और बाढ़ का हर एक को मुकाबला करना पड़ता है। इस जीवन के रगड़े में जो अपनी रक्षा कर सकता है वही बच जाता है और अंत में वंश चलाता है। इसी ढंग पर परंपरा के लिए प्रकृति चुनाव करती रहती है।

डार्विन के सिद्धांत थोड़े में यही हैं। इन सिद्धांतों का डार्विन के बादवाले विज्ञानियों ने विकास किया है।

२—डार्विन के सिद्धांतों का विकास

विकासवादी के सामने तीन बड़े प्रश्न आते हैं। एक प्रश्न तो यह है कि परिवर्त्तन में जो नयी बातें देखने में आती हैं उन का मूल्य क्या है। दूसरा प्रश्न यह होता है कि माता पिता के गुण संतानों में किन नियमों के आधार पर पाये जाते हैं। तीसरा प्रश्न यह है कि चुनाव की वह कौन-सी रीतियां हैं जो दी हुई कच्ची सामग्री पर काम करती हैं और वंश की रक्षा का कारण होती हैं।

यह और जगह बताया जा चुका है कि समस्त शरीरों की उत्पत्ति बहुत सूक्ष्म सेलों से आरंभ होती है। इन्हीं सेलों में वंश परंपरा के सभी गुणों के प्रतिनिधि सेल मौजूद रहते हैं। ज्यों ज्यों शरीर बढ़ता है वंशानुगत गुणों और स्वभावों का विकास होता रहता है। वंशानुगत समता का कारण यही है। परंतु परिवर्त्तन होना भी प्रकृति का नियम है। इसलिये किसी-किसी विशेष गुण या स्वभाव के सेल कभी-कभी किसी प्राणी में घट जाते हैं, किसी में बढ़ जाते हैं, किसी में उन का सर्वथा अभाव हो जाता है। साथ ही माता-पिता के सजातीय या विजातीय होने में एवं रक्त के दूर और पास के संबंध में ऐसे भेद पड़ जाते हैं कि किसी-किसी नये सेल का संयोग हो जाता है अथवा कोई पुराना सेल एक दम छूट जाता है। इन्हीं और इसी तरह के कारणों से विविधता उत्पन्न होती है। कोई नया शगूफा खिल जाता है। कोई नयी विशेषता आ जाती है। कोई विशेष भेद पड़ जाता है। कहां प्रकृति की नयी लीला देखने में आती है। कहीं एक गुण घटा तो दूसरा गुण बढ़ा। इस प्रकार की विविधता संतान में उत्पन्न हो ही जाती है। जहां इस तरह का नया परिवर्त्तन नहीं होता, वहां किसी तरह का विकास भी नहीं होता।

वंश-परंपरा सातत्य का एक साधन है। प्रत्येक व्यक्ति किसी की संतान है और किसी का पिता है। परंतु यह आवश्यक नहीं कि यह सातत्य हर बात में अगली पीढ़ी में अवश्य दिखाई पड़े। किसी व्यक्ति की कुछ विशेषताएं वंशानुगत होती हैं और कुछ नहीं भी होतीं। दीर्घायु वंश-परंपरा में चलती है। परंतु कविता या कला-कौशल का वंश-परंपरा में चलना आवश्यक नहीं है। गूंगी बहरी पीढ़ी के बाद वैसी ही गूंगी बहरी पीढ़ी हो सकती है। परंतु घोर काले यूरेशियन की लड़की गोरी भी हो सकती है। किसी कारण से विकास रुक भी जाय तब भी वंश-परंपरा अवश्य चलेगी। वंश-परंपरा के बिना विकास असंभव है। वंश-परंपरा का यह अर्थ है कि पहले के लाभों को पूंजी में बदला जा सकता है। परंतु व्यक्ति के हिसाब में टोटा पड़ने से सारी जाति दिवालिया नहीं हो जाती। माता-पिता दोनों काने हों तब भी उन का बेटा काना न होगा। उस के सुंदर-सुंदर दो आखें होंगी।

व्यक्ति में जो विविधता और परिवर्त्तन देखा जाता है वह उस के विकास के ऊपर प्रकृति के प्रयोग हैं। आगे की उन्नति के लिए यही कच्ची सामग्री है। यह कच्ची सामग्री मिले और वंश-परंपरा के द्वारा जाति रक्षा मिले तो एक चीज और बाकी रहती है जिस के बिना विकास नहीं होता। यह है छानना या छांटना। कच्ची सामग्री बराबर सामने आती है तो उस में छांट छांट कर अच्छी चीजें चुन ली जाती हैं और आगे उन्हीं को बढ़ाया जाता है। जो निकम्मी ठहरती हैं, निकाल दी जाती हैं। वैविध्य या नयापन वह चीज है जिस को जांच की जाती है। प्रकृति में जीवन का संघर्ष ही वह छलनी है जिस के द्वारा योग्य-तम की छंटाई होती है। छंटकर जो योग्यतम होता है वंश-परंपरा के द्वारा वह भी जाता है।*

३—विविधता और विकार में भेद

यह बात डार्विन ने भी देखी कि "विविधता" एक निश्चित मार्ग में चलती है। किसी ऐसी विशेषता की जिसे आगे चलाने की आवश्यकता नहीं है, परंपरा नहीं बंध पाती। अथवा वह विविधता कई पीढ़ियों के बाद देख पड़ती है। डार्विन को यह बात नहीं मालूम थी कि मेरा सम-सामयिक मेन्डेल भी इसी विकास-विषयक खोज में लगा हुआ है। पादरी ग्रेगर मेंडेल ने यह सिद्ध किया कि जब शुद्ध लंबी मटर और शुद्ध बौनी मटर का जोड़ा मिलाया जाता है, तो उस से सब लंबी मटर ही निकलती है। लूथर बरबंक ने तो विकास के इन नियमों से पूरा लाभ उठाकर अनेक नये फल उपजाये और कांटे आदि दोष दूर किये। मार्किस गेहूं की कथा हम अन्यत्र कह चुके हैं। अनेक लोग पालतू जानवरों में इसी विधि को बरतकर बहुत-कुछ विकास कर रहे हैं।

---

* महाभारत में योग्यतमावशेष के नियम की चर्चा शांति-पर्व में की गयी है, जहां तिमिंगिलों अर्थात् छोटी मछलियों को निगल जानेवाली बड़ी मछलियों का उदाहरण दिया गया है।

बाहरी परिस्थिति के प्रभाव से भी व्यक्तियों में और कभी-कभी वंश-परंपरा में भी कुछ परिवर्त्तन आ जाते हैं परंतु यह वैविध्य नहीं है। इसे तो "विकार" समझना चाहिए। वैविध्य तो प्रकृति के चुनाव या छुटाई का फल है जो भीतरी परिवर्त्तन के कारण परंपरा के रूप में दिखाई दे रहा है। परंतु विकार तो बाहरी परिस्थिति के कारण व्यक्ति या जाति में आ जाते हैं। यहां विकास और वैविध्य पारिभाषिक हैं। बहुत व्यायाम करने से या नाचने आदि से मांसपेशियां बहुत बढ़ जाती हैं आदमी भारी और बड़ी डील-डौलवाला हो जाता है। प्रकाश में रहनेवाले जीव यदि बहुत काल तक अंधकार में रक्खे जाय तो उन की आंखें बेकाम हो जाती हैं, अंधे हो जाते हैं। ऊर्ध्वबाहु तपस्वियों की बाहें सूखकर बेकार हो जाती

चित्र ६७—ग्रेगर मेंडेल [सं० १८७९—१९४१ वि०]

हैं। गोरा चिट्टा युरोपीय धूपवाले गरम देश में बहुत काल तक रहते-रहते सांवला हो जाता है। यह सब विकार हैं, वैविध्य नहीं हैं। यह विकार भी पीढ़ी-दर-पीढ़ी चल सकते हैं, क्योंकि जिन कारणों से विकार उत्पन्न हुए वह कारण कई पीढ़ियों तक काम कर सकते हैं और यदि किसी कारण से एक बड़ी संख्या पर उन परिस्थितियों का प्रभाव बराबर पड़ता रहा तो धीरे-धीरे सारी जाति के चरित्र पर प्रभाव पड़ सकता है और वह जातिभर के लिए वंशानुगत विकार बन जा सकते हैं। अभी इस बात में मत-भेद है कि परिस्थिति बदलने पर भी यह विकार वंशानुगत चल सकते हैं या नहीं। परंतु विकारों का महत्व विकास के प्रश्न में नगण्य नहीं है। संभव है कि गर्भाधान के समय इस का प्रभाव होनहार संतान पर पड़ जाय और विकार वैविध्य में बदल जाय। ऐसी दशा में विकार की अनुकूलता या प्रतिकूलता दोनों

विचारणीय हैं। यदि विकार को वैविध्य में बदलना है तो संभवतः अनुकूल विकार ही इस तरह वैविध्य का रूप धर सकते हैं।

(४) वंश-परंपरा और मेंडेलवाद

भ्रूण में बीज रूप में जो विशेषताएं मौजूद रहती हैं वह और विशेषताओं से मिल-कर प्रौढ़ अवस्था में संयुक्त रूप से बढ़ती हैं। उन के ऊपर बाहरी विकारों का भी प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति की पूरी बाढ़ के बाद अंग अंग का जो कुछ रूप बन जाता है वही इन सब बातों के एकीकरण का फल है। इसी लिए प्रौढ़ अवस्था में जो रंग रूप देखा जाता है वह पूर्ण रूप से केवल बीज की विशेषता का ही फल नहीं है। प्रौढ़ व्यक्ति की नाक या बाल के रूप रंग से उस के किसी एक मूल कारण की खोज नहीं हो सकती। इस एक कार्य के मूल कारण अनेक हो सकते हैं यदि किसी आदमी के पाचों अंगूठे ही अंगूठे हों अर्थात् हर अंगुली में दो ही दो पोरवे हों तो यह जरूरी बात है कि उस के बाद होनेवाली पीढ़ियों में कुछ लोगों की अंगुलियां ऐसी ही हों। सब लोगों की अंगुलियां ऐसी हों यह संभव नहीं है और न यही संभव है कि किसी की भी अंगुलियां ऐसी न हों। अंगुलियों में विशेषता होने का कारण भ्रूण के अनेक सेलों में मौजूद है। यह आवश्यक नहीं है कि एक भ्रूण में जिन घटक सेलों के संघात से वैसी अंगुलियां बनी वही सेलें और वही संघात उस के वंशवाले सभी भ्रूणों में उपस्थित हों। संघात का भी बदलता रहना विकासक्रम का एक नियम है। रतौंधीवाले वंश में सब संतानों का रतौंधीवाला होना आवश्यक नहीं है। रतौंधी का अवगुण व्यक्ति की विशेषता है। परंतु वह व्यक्ति की विशेषता विशेष पीढ़ियों में विशेष अनुपात की संतानों में देखी जाती है। मेंडेल के अनुसार व्यक्ति की विशेषता बीज-सेलों में निश्चित घटकों के रूप में मौजूद रहती है। और वंश परंपरा की क्रिया में यह घटक अखंडनीय कणों की तरह जान पड़ते हैं और एक निश्चित योजना के अनुसार बट जाते हैं। किसी विशेष वैयक्तिक विशेषता का घटक या तो भ्रूणों में पूरा-पूरा संघात-युक्त मौजूद होगा अथवा उस का एक दम अभाव होगा।

मेंडेलवाद की दूसरी मूल कल्पना "प्रधानता" की है। जब मेंडेल ने शुद्ध लंबी मटर को शुद्ध बौनी मटर के साथ संयुक्त किया तो उस से उपजी हुई मटर लंबी ही निकली परंतु जब इन्हीं मटरों को आपस में उत्पन्न करने का अवसर दिया गया तो चौथाई संतान बौनी निकली। इसलिए मेंडेल ने यह निष्कर्ष निकाला कि लंबाई प्रधान गुण है और बौनापन मिट जानेवाली चीज़ है। इसी तरह की बातें अनेक प्रयोगों में पायी गयीं जिन से यह निष्कर्ष पुष्ट हो गया कि वंश-परंपरा प्रधानता को ही पुष्ट करती है।

मेंडेलवाद की तीसरी मूल कल्पना ज़रा कठिनाई से समझ में आती है। मेंडेल ने यह मान लिया कि लंबी और बौनी मटरों के साकर्य्य से दो तरह के बीजसेल लगभग बराबर संख्या में उत्पन्न हुए। एक तो लंबाई के घटक हुए और दूसरे बौनेपन के। तात्पर्य यह कि किसी विशेष वैयक्तिक भाव को उपजाने के लिए प्रत्येक बीज-सेल

शुद्ध है। मान लो कि लंबे बालवाले खरगोश या खरहे से छोटे बालवाले खरहे का जोड़ा किया गया तो संतान छोटे बालोंवाली होगी। परंतु संकर की मादा अगर आठ डिंब पैदा करेगी तो उन में से चार लंबे बालों के घटक होंगे और चार छोटे बालों के। उसी तरह संकर संतान के नर से आठ नर सेल पैदा हुए तो चार लबे बालों के घटक होंगे और चार छोटे बालों के। मान लो कि यह संकर आपस में ही संतान की उत्पत्ति करते हैं और अकस्मात ही नरसेलों का डिंबों से संयोग हो जाता है तो दो डिंबसेल दो ऐसे नरसेलों द्वारा प्रभावित होंगे जो छोटे बालों के घटक हैं और दो शुद्ध छोटे बालोंवाली सतान पैदा करेंगे। लंबे बालों के घटकवाले दो डिंबसेल लंबे बालो के ही घटक दो नरसेलो से प्रभावित होगे और बिल्कुल शुद्ध लंबे बालोंवाली दो संतान उत्पन्न करेंगे। छोटे बालोवाले घटक के दो डिंबसेल लंबे बालोंवाले दो नरसेलों से प्रभावित होंगे और संकर दपति की तरह दो अशुद्ध छोटे बालोंवाली संतान उत्पन्न करेंगे और लंबे बालोंवाले दो डिंबसेल छोटे बालोंवाले दो नरसेलो से प्रभावित होगे और संकर मा बाप की तरह दो अशुद्ध छोटे बालोवाली सतान उत्पन्न करेंगे। इस तरह परिणाम यह हुआ कि दो-दो शुद्ध छोटे बालोवाली सतानें हुई, चार अशुद्ध छोटे बालोवाली संतानें हुई। यदि अशुद्ध छोटे बालोवाले खरहो का आपस में जोड़ा किया जाय तो तीसरी पीढ़ी की संतानों में वही अनुपात १ : २ : १ का देखने में आवेगा। जिन से हमें काम लेना है उन की संख्या जितनी ही बढ़ायी जायगी उतना ही अधिक बारबार यही शुद्ध अनुपात देखने में आवेगा।

५—जीवन की एक ही धारा और शरीर में छँटाई। योग्यतमावशेष

डार्विन के बाद विकासवाद में यह बड़ी उन्नति हुई कि बीजों की परपरा बहुत स्पष्ट हो गयी और मान ली गयी। पीढ़ी के बाद पीढ़ी बीतती जाती है परंतु बीज की परपरा बनी रहती है। ऐसा जान पड़ता है कि एक विकसित शरीर की परपरा में एक बीज से दूसरे बीज में और दूसरे से तीसरे बीज में और तीसरे से चौथे बीज में, इस तरह परंपरा के क्रम से जीवन की एक ही धारा बहती चली जा रही है।

जैसा हम दिखा आये हैं, छँटाई नैसर्गिक भी होती है और प्राणिकृत भी। यदि छँटाई प्राणी करता है तो भूल भी कर सकता है और होशियारी भी। भूल के फल से ह्रास हो सकता है। प्रकृति छँटाई का काम बड़ी सावधानी से करती है। जीवन के रगड़े में जो सब से अधिक योग्य होता है वही बच जाता है। परन्तु योग्यतमावशेष का यह मतलब नहीं है कि जो सब से अधिक चतुर या बलवान होता है वही बच जाता है। योग्यतमावशेष का अभिप्राय केवल यही है कि अपनी परिस्थिति और विशेष अवस्थाओं पर जो काबू पा जाता है वही योग्यतम है। सभी प्राणी अपने जोड़े के लिए छँटाई या चुनाव करते हैं, यह प्रवृत्ति भी स्वाभाविक ही है।

ऐसा जान पड़ता है कि सभी सभ्य जातियों में अच्छी संतान उत्पन्न करने के लिए रक्त का बदलना, दूर-से-दूर के नातों में विवाह करना, भाई-बहिन में विवाह का निषेध आदि नियम हैं। योग्यतमावशेष के ये प्राकृतिक नियम हैं। हिंदू स्मृतिकारों ने मनुष्य को योग्यतम बनाने के लिए गर्भाधान से लेकर सन्यासाश्रम तक के संस्कारों के बड़े ही उपयोगी नियम बनाये हैं। सगोत्र और सपिंड में विवाह का निषेध किया है। विवाह के पूर्व वर-कन्या की पूरी परीक्षा के नियम रखे हैं। आयुर्वेद में भी इन नियमों की रक्षा के हेतुओं में, अच्छी पुष्ट और दीर्घायु संतान की उत्पत्ति को ही प्रधानता दी गयी है। अच्छी संतान उत्पन्न करना हर गृहस्थाश्रमी का कर्त्तव्य माना गया है। पाश्चात्य विज्ञान भी हाल में ही इस विद्या की ओर झुका है और सुजनन शास्त्र वा सुसतान शास्त्र-विज्ञान एक नयी शाखा बन गयी है। परंतु इस पर अभी इतनी खोज नहीं हो पायी है कि यहां उस विषय पर चर्चामात्र से अधिक विस्तार आपेक्षित हो। हां, इतना तो निःसंकोच कहा जा सकता है कि यह नया विज्ञान विकास-विज्ञान की एक संतान ही है और उस के प्रयोगों के अंतर्भूत समझा जाता है।

तीसरा खंड

जीव-विद्या

और

मानव-शरीर-विज्ञान

ग्यारहवां अध्याय

जीव-विद्या

१—जीवन क्या है

जीव विज्ञान के पंडित प्राणशक्ति नाम की किसी विशेष वस्तु की न तो आवश्यकता समझते हैं और न संभावना मानते हैं। उन के निकट बहुत ही विकट संगठन की विशेष प्रकार की वस्तुओं के विविध रूप से प्रकाश का नाम ही जीवन है। उन का कहना है कि यदि हम किसी मनुष्य या मनुष्येतर प्राणी को एक ऐसी कोठरी में रक्खें जो कलारीमापक के रूप में बना ली गयी हो तो हम उस शरीर से उपजती हुई शक्ति को गर्मी और कर्म की मात्रा के रूप में नाप सकते हैं। प्रयोग की साधारण मर्यादा के भीतर-भीतर यह बात मालूम कर ली गयी है कि जितनी शक्ति की मात्रा उस शरीर में से निकलती है उतनी ही मात्रा गर्मी के रूप में तब भी निकलती यदि उस के भोजन को खिलाने के बदले जला दिया जाता। शक्ति की अविनाशिता यहां भी स्पष्ट है चाहे वह प्राणी कुत्ता हो या मनुष्य हो, और उसी तरह स्पष्ट है जिस तरह भाप के इंजन या डाइनमो के विषय में है। किसी विशेष प्राण-शक्ति की यहां आवश्यकता नहीं है।*

निर्जीव पदार्थों में जो धातुएं और अधातुएं हैं वही धातुएं और अधातुएं सजीव में

---

*यद्यपि जीवित प्राणियों पर अनेक प्रकार के प्रयोग किये गये हैं तथापि अभी तक यह पता नहीं लगा है कि वह जीवित व्यक्ति-चेतना जो "अहं मम" का अनुभव करती है और जिस का अस्तित्व...की खोजों से शरीर-त्याग के बाद भी प्रमाणित हुआ है. क्या है, और यह कि इस अशरीरी व्यक्ति से जीवन-शक्ति से क्या और कितना और किस प्रकार का संबंध है। यह अभी तक जीव-विज्ञान का विषय भी नहीं समझा जाता। यह मनोविज्ञान का विषय माना जाता है।

भी मौजूद हैं। कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जो चेतन वस्तु मे मिलता हो और जड़ में न मिलता हो। अधिकाश जीवित पदार्थ कर्बन, उज्जन, नोषजन और ओषजन इन चार मूल द्रव्यों का बना हुआ है। इन के सिवा लोहा, स्फुर, गंधक, सोडियम, पोटासियम, खटिकम, और नैल यह प्राणिमात्र के शरीर में मौजूद हैं। पहले ऐसा समझा जाता था कि मंड, शर्करा, अलबूमेन, यूरिया इत्यादि शरीर से उपजनेवाले विकट सगठन के पदार्थ केवल चेतन शरीरो के भीतर ही बन सकते हैं। परंतु लगभग सौ बरस के हुए कि इस तरह की वस्तुएं भी यंत्रो द्वारा बनायी जा सकीं और अब तो सैकड़ों तरह की ऐसी शर्कराएं और विविध आगारिक या कर्बनिक पदार्थ प्रयोगशाला में बनने लगे हैं, जिन के लिये पहले यह धारणा थी कि जीवों के शरीर के भीतर ही बन सकते हैं और कृत्रिम नहीं बन सकते।

अभी तक कोई ठीक वैज्ञानिक विधि नहीं मालूम हो सकी है जिस से किसी विशेष नापने की क्रिया से हम जड़ और चेतन पदार्थों में विभेद कर सके। वस्तु वही है परंतु सगठन की विधि, परमाणुओं का संगठनक्रम, भिन्न है। वैज्ञानिक रीति से हम को यह पता नहीं लगा है कि जीवन का वास्तविक मूल क्या है। इतना निष्कर्ष अवश्य ही निकलता है कि जब धरती धीरे धीरे ठढी हो रही थी उसी युग में ऐसी अवस्था भी उपस्थित हो गयी जिस में इन्हीं निर्जीव अणुओं के सघात से सजीव अणु पैदा हो गये। वह सजीव इस बात में थे कि वह अपने जैसे जीवाणु पैदा करने की शक्ति रखते थे और बाहरी उत्तेजना को पाकर प्रतिक्रिया द्वारा उत्तर दे सकते थे। साथ ही उन्होंने विकास की नींव डाली और उत्तरोत्तर अपने से भी जटिल और विकट सगठन के प्राणियों को बराबर उत्पन्न करते गये। और जो विकास-क्रम से आजकल का प्राणि-संसार कहलाता है वह उन्हीं आदि प्राणियों के विकास का फल है और यह जीवन-विकास मूल रूप से निर्जीव या जड़ पदार्थ से ही आरभ हुआ है।

सूक्ष्म से-सूक्ष्म प्राणियों पर अबतक असख्य प्रयोग करके भी विज्ञान यह निश्चय पूर्वक नहीं मालूम कर सका है कि जीवन का वास्तविक तत्व क्या है। और किसी विधि से अभी तक वह इस बात में सक्षम नहीं हुआ है कि वह स्वयम् अपने किसी प्रयोग द्वारा निर्जीव पदार्थों से कोई सजीव प्राणी या जीवाणु उत्पन्न कर सके। विज्ञान उत्तरोत्तर वर्धमान शास्त्र है। यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रश्न की आगे क्या स्थिति होगी। अभी हम इतना ही कहेंगे कि इस रहस्य का कि जीवन क्या है अभी तक वैज्ञानिक उद्घाटन नहीं हुआ है।

संसार की वर्त्तमान परिस्थिति में निर्जीव पदार्थ से सजीव प्राणी का उत्पन्न होना अब तक देखा नहीं गया है। लोगों का साधारण विश्वास यह जरूर रहा है कि सड़ती हुई चीजों से नये प्राणी पैदा हो जाते हैं। परंतु यह विश्वास निराधार है जैसा कि सैकड़ो जांचों से निश्चित हो चुका है। सड़नेवाली वस्तु को बाहर के प्रभाव से बिल्कुल सुरक्षित रक्खा जाय तो वह नहीं सड़ती और उस में बिल्कुल विकार नहीं आता, अथवा उस के भीतरी रासायनिक विकार से ही उस में परिवर्त्तन होता है। पास्त्यूर और टिंडल

आदि ने अनेक परीक्षाओं से यह सिद्ध कर दिया है कि किसी तरह के प्राणी स्वयंभू नहीं हैं। जिन द्रवों में साधारण दशाओं मे दो ही एक दिनों मे जीवाणुपुंज भर जाते हैं उन्हीं को अच्छी तरह खौलाकर रखने से एक भी जीवाणु उन में दिखाई न दिया। रुई के छन्ने

चित्र ६८—लूई पास्चूर [सं० १८७९-१९५२ वि०]
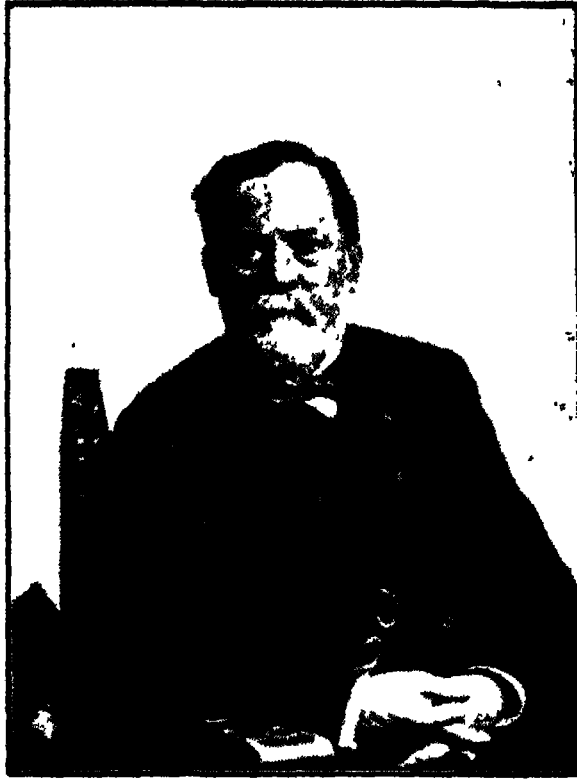
इस वैज्ञानिक ने लीबिग के विरुद्ध यह सिद्ध किया कि खमीर उठना जीव-वैज्ञानिक प्रक्रिया है।

[परिषद् की कृपा से

के द्वारा उन द्रवों मे शुद्ध वायु के प्रवेश करने पर भी कोई जीवाणु न बना। उस ने यह प्रमाणित कर दिया कि जहां कहीं स्वयम्भू जीवाणु प्रकट होते देख पड़ते हैं वहां अवश्य ही अदृश्य बीजों के रूप में वायु से बहाये हुए आकर इकट्ठे हुए हैं। निदान किसी अत्यंत प्राचीन युग में जिस को सौ करोड़ बरस के लगभग हुए, पहले पहल जड़ में

चेतन प्राणी बने। वह विशेष परिस्थिति थी जो आज से एक अरब बरस पहले होकर बदल गयी। अब वह परिस्थिति नहीं है। इसलिए अपने-आप निर्जीव से सजीव प्राणी वर्त्तमान काल में नहीं बनते।

२—प्रथम पंक

प्रथम पंक जीवन का मौलिक आधार है। अंडज, पिंडज, उद्भिज्ज और स्वेदज सभी तरह के प्राणियों का जीवित पदार्थ प्रथम पंक है। जब हम अनुवीक्षण यंत्र के द्वारा किसी अत्यंत सूक्ष्म सेल को देखते हैं तो उस में फेन सदृश या रेशेदार या दानेदार जीवित पदार्थ दिखाई पड़ता है। इसे ही हम प्रथम पंक कहते हैं। चर प्राणियों के सेलो में यह पदार्थ या तो सूक्ष्म झिल्ली से घिरा रहता है या बिना किसी आवरण के कण के रूप में रहता है। उद्भिज्जों में छिद्रोज के दृढ पर्त्त से ढंका रहता है। प्रथम पंक में अलबूमेन, मेद, मधुसार, लोहा और सोडियम, पोटासियम, मगनीसियम, और स्फटिकम के स्फुरेत रहते है। यह पदार्थ अर्धद्रवसा दीखता है। प्रायः नीरंग होता है। और अत्यंत विकट संगठन होते हुए भी प्रायः सीधा-सादा सा लगता है। अमीबा सरीखे सूक्ष्मतम जीवाणु इसी जीवित पदार्थ के अनावृत और अव्यवच्छिन्न कण हैं। इन अव्यवच्छिन्न कणो के प्रथम पंक में भी बड़े से बड़े प्राणियो के और नाजुक से नाजुक अगो के गुणो और स्वभावो के मूल रूप मौजूद हैं। पहले तो इस में पचाने का बल है अर्थात् यह मृत पदार्थ को जीवाणु में परिणत कर सकता है और विजातीय द्रव्य को अपने सरीखा बना लेता है। दूसरे बाहरी उत्तेजना से यह सहज ही उत्तेजित हो जाता है। धक्के से सिकुड़ जाता है। तेज रोशनी या गर्मी से स्थगित हो जाता है। कुछ वस्तुओं को पास आने पर खींचता है या दूर कर देता और बिजली की धारा से लाचार होकर एक विशेष दिशा में चलने लगता है। यही प्राथमिक गुण हैं जिन के आधार पर हमारी अद्भुत इंद्रियां बनी हुई हैं। प्रकाश की जिन तरंगो से अमीबा के प्रथम पंक मे परिवर्त्तन हो जाता है उन्हीं तरंगो को ग्रहण करने के लिए इसी गुण के कारण आंख का निर्माण हो सका है। बेतार-के तार में बिजली की इतनी बड़ी तरगें होती है कि सूक्ष्म प्रथम पंक पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकतीं। इसीलिए उन के देखने के लिए शरीर में कोई इंद्रिय नहीं बनी।

अमीबा ओषजन को पचाता है। कर्बन द्वयोषिद को बाहर निकालता है, चल सकता है, बढ़ता है और अपने सदृश और प्राणी उत्पन्न करता है। प्रथम पंक मात्र के यही मूल गुण हैं और इन्हीं के आधार पर विकास-शक्ति ने इस जीवित संसार की रचना की है और अनगिनत जाति के प्राणियों को पैदा किया है जिन की संख्या अब तक पूरी नहीं जानी गयी है। वैज्ञानिकों ने लगभग दस लाख का पता लगाया है। हिंदुओ के साहित्य में चौरासी लाख योनियां बतायी जाती हैं।*

---

* बृहद् विष्णुपुराण में चौरासी लाख योनियों में बीस लाख स्थावर, नव लाख

२—जीवन का व्यक्तित्व या एक-बीज

जितने पदार्थ हैं सभी बहुत छोटे-छोटे कणों के बने हुए हैं जिन का यदि अधिक विभाजन हो तो उस पदार्थ के गुणों और धर्मों में इतना परिवर्त्तन हो जाय कि वह पदार्थ बिलकुल भिन्न वस्तु हो जाय। ऐसे प्रत्येक कण को एक बीज या व्यक्ति कहेंगे। प्राणियों के शरीरों की रचना भी इन्हीं एक बीज या व्यक्तियों से हुई है।
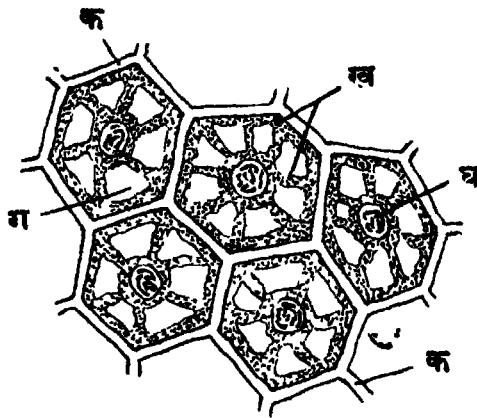
चित्र ११—वनस्पति के अंग की खड़ीकाट जिस में छ--पहल सेलों के मध्य में बीजाणु दिखाये गये हैं।

क—सेल की भीत।

ख—जीवन-मूल, प्रोटोप्लाज़्म।

ग—द्रवभरा अंतराल।

घ—उत्पत्ति-केन्द्र।

यदि हम किसी मनुष्य या जानवर के शरीर का व्यवच्छेद करें तो हम देखेंगे कि उस में हृदय है, पेट है, मस्तिष्क है, हाथ है, इसी प्रकार से सभी अंग हैं जो मिलकर पूरे शरीर को बनाते हैं। प्रत्येक अंग ऐसे अवयवों का या कणों का बना हुआ है जिन में से प्रत्येक एक स्वरूप दीखता है। उदाहरण के लिये, पेट की ही जांच करें तो हम देखते हैं

जलजंतु, नव लाख कृमादि उरग, दस लाख पक्षी, तीस लाख पशु, चार लाख वानर, शेष दो लाख में मनुष्य की जातियां मानी गयी हैं।

कि पेट का भीतरी भाग रस उपजानेवाले अवयवों का बना है और बाहरी भाग मांसपेशियों के करोां का बना है। जोड़नेवाले रेशे इसे बांधे और संभाले हुए हैं और उस के भीतर सारे पेट में रक्त के अवयव घुसे हुए हैं जिन मे रक्तवाहिनियां बनी हुई हैं। इसी तरह सारे पेट
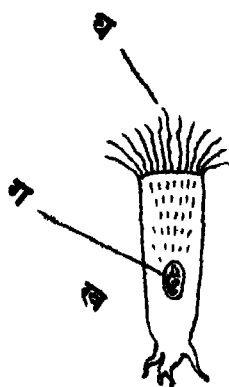
चित्र १००—खंभाकृति झालरदार सेल। ग-बीजाणु। घ-झालर

में फैली हुई नाड़ियों में नाड़ीवाले अवयव भरे हुए हैं। परन्तु एक अनुवीक्षण यंत्रमें हम इन अवयवों को देखते हैं तो जान पड़ता है कि ये एक स्वरूप नहीं हैं। प्रत्येक अवयव बहुत से अलग-अलग व्यक्तियां या टुकड़ों का बना हुआ है। इन टुकड़ों या व्यक्तियों को सेल
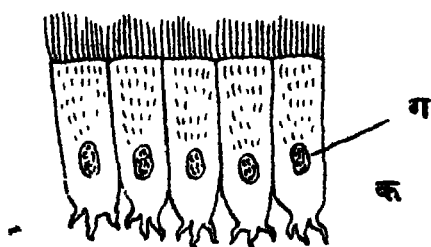
चित्र १०१—खंभाकृति झालरदार सेलें। ग-बीजाणु। क-कोष।

कहते हैं। रक्त में यह सेल अलग अलग और स्वतन्त्र हैं। और अवयवों में यह मिले हुए हैं।

बड़े-से बड़ा प्राणी और मनुष्य भी अकेले एक सेल से जीवन का आरंभ करता है।

मनुष्य भी एक आहित* डिंब या आहितांड से बना है। यह आहितांड व्यास में १।१२५ इंच से ज्यादा नहीं होता। सेलों के संख्या में बढ़ जाने से, स्थान बदलने से और रूप बदलने से इस का विकास होता है। पहले तो डिंब कटकर अपने सरीखे गोल-गोल या अंडाकार सेलों में विभक्त हो जाता है। फिर भावी भ्रूण का खाका बनाने के लिए सेलों की तीन पर्तें चारो ओर से घेर लेती हैं। इस खाके पर फिर विस्तार की कार्रवाई होती है और खास-खास अंगों की रूप-रेखा बनती है। बाहरी पर्तों से भावी मस्तिष्क, पृष्ठदेश, आंख, कान, नाक, और बाहरी त्वचा की नींव पड़ती है। भीतरी पर्त यकृत, प्लीहा, आदि ग्रंथियों की रूप रेखा बनाती है। बीचवाली पर्त रक्त-संस्थान वृक्कों मांसपेशियों और कंकाल की रूपरेखा बनाती है। इसी में जननवाले सेल भी रहते हैं जो शरीर के साधारण अवयवों में कुछ भिन्न होते हैं। यह केवल रूपरेखा की बात हुई। अभी तक इस से अधिक विकास नहीं हुआ है। भावी अंगों का उल्लेख मात्र है, क्योंकि जिन सेलों के ये बने हैं वह भी प्रायः सब समान हैं और अभी तक भिन्न कार्यों के लिए उन में विशेषता नहीं आयी है। इसीलिए यह अंग अभी काम नहीं करते।

अब सेलों का गोल या घन रूप बदलने लगा और जिस रूप में उन में से हर एक काम करनेवाला है, अब उसी सांचे में ढलने लगा।†

रक्त के सेल दो तरह के होते हैं। श्वेताणु चंचल होता है और अमीबा की तरह अपने आकार बदल सकता है और विजातीय पदार्थों को पचा सकता है। रक्ताणु लाल रंग का होता है जिस में ओषजन और कर्बन-द्वयोषिद को संयुक्त करनेवाले लौहकण होते हैं जिन के कारण रक्ताणु का रंग लाल होता है। रक्त के जिस रस में श्वेताणु और रक्ताणु बहते हैं वह असल में किसी रंग का नहीं है। उस का लाल रंग रक्ताणु के कारण है। रक्ताणु लंबी हड्डी की वसा में पैदा होता है और शरीर में परिक्रमण करते-करते प्लीहा में आकर अंत में नष्ट हो जाता है। जब किसी गड्ढे के चारों तरफ चिकने स्तर की जरूरत होती है तो उस की सीमा पर के सेल चिपटे हो जाते हैं और एक दूसरे में मिल

---

* नरजीवाणु के मादा अंडे या डिंब में प्रवेश करने का नाम "गर्भाधान" है। जिस अंडे में नरजीवाणु प्रविष्ट हो चुका होता है उसे "आहित" कहते हैं। यही आहितांड जिस का विकास तुरंत आरंभ हो जाता है, "भ्रूण" भी कहलाता है।

† नरसेल या वीर्याणु और मादासेल या डिंब दोनों में एक विशेष प्रकार के जीव-परमाणु रहते हैं जिन का पारिभाषिक नाम "जनी" है। हाल में (सं० १९८७ में) वैज्ञानिक पाशवी शक्ति के विशेषज्ञ डाक्टर मार्क्स ने यह मत प्रकट किया है कि प्राणी जैसा कुछ होता है उसे बनानेवाली उस की भावी को निश्चित करनेवाली यही "जनी" है। जनी के जोड़े ने जैसा कुछ शरीर और जीव को बना दिया है, कोई लाख कोशिश करे उस से अधिक कोई प्राणी हो नहीं सकता। परंतु विशेष प्रकार और विकास जनी युग्म को मिलानेवाली संचालक-शक्ति परमात्मा है।

जाते हैं। जब सेलों को शरीर के लिये रस बनाना और देना होता है अर्थात् किसी ग्रंथि का अंश बन जाना रहता है तो सेल लंबे हो जाते हैं और उन के भीतर रस के बिंदु
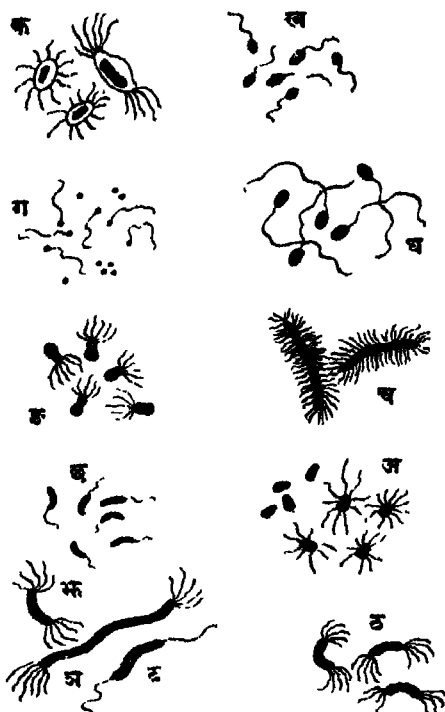
चित्र १०:—विविध-जीवाणु

क—ख—सूक्ष्म जीवाणु
ग—घ—हरी पीब के अंडाकार एक केशागवाले जीवाणु।
ङ—एक देश में केशांग-गुच्छ-युक्त वर्णजनक बड़े जीवाणु।
च—केशागमय बड़ा जीवाणु।
छ—कामा के आकार के हैजे के रोगाणु।
ज—चतुर्दिक केशांग युक्त आंत्रज्वर के रोगाणु।
झ ञ ट ठ—सिरों पर केशागवालेजीवाणु।

दिखाई पड़ते हैं। जिन सेलों में चर्बी के रूप में भोजन इकट्ठा किया जाता है वह चर्बी की बूंद के ऊपर कसी हुई खाल के रूप में फैल जाते हैं। कंकाल के कठोर अवयव भी सेलों से बनते हैं। अस्थिकल्प में अपने चारों ओर गोल सेल लसदार पारदर्शी पदार्थ के पर्त

के पर्त लपेट लेते हैं और हड्डी में उस के सेल क्रम से लग जाते हैं और अपने चारों ओर चूने के लवण से कठोर बेठन या आवरण बना लेते हैं। जोड़नेवाले सूक्ष्म अवयव जिन सेलों के बनते हैं वह चीमड़े या लचीले सूक्ष्म रेशों के से होते हैं और यह सब छिटके-फुटके सेलों के बीच में आ जाने से बन जाते हैं। मांसपेशियां भी सेलों की बनती हैं। वस्ति की सेलें बहुत लंबी होती हैं जिन में देशांतर रेखाओं की सी रेखाएं दिखाई पड़ती हैं। हिलाने डुलानेवाली मांसपेशियों की सेलें बहुत बड़ी होती हैं और एक एक में अनेक जीव-केंद्र होते हैं। इन में धूप और छाया के से एक पर-एक लच्छे होते हैं जो जल्दी मुड़ने-सुकड़ने के लिए उपयुक्त होते हैं। नन्हे कीड़ों के डैनों में इन का सब से अधिक विकास होता है। और इन्हीं के बल से इन डैनों का कल्पनातीत वेग से कंपन होता है।

बाहरी चमड़े की सेलें बराबर रूसी की तरह उड़ती और साफ होती रहती हैं। भीतरी चमड़े की गोल सेलें बराबर संख्या में बढ़ती रहती हैं और जब वह ऊपरी तल पर पहुँचती हैं तब चिपटी हो जाती हैं और कुछ कड़ी होकर उड़ जाती हैं। इस तरह पर ऊपरी खाल बराबर बदलती रहती है परन्तु हमें इस बात का पता नहीं लगता। अगर हम किसी अंग पर बराबर पट्टी बांध रहें, तो कुछ दिनों पीछे उस जगह की खाल इसीलिए उधड़ आती है।

मस्तिष्क भी सेलों का ही बना हुआ है। भ्रूण की दशा में यह गोल होती है। इन में से दो दो शाखाएं निकलती हैं जो बहुत लंबी हो जाती हैं। फिर उन में भी शाखाओं पर शाखाएं निकलती हैं। जो शाखाएं सब से अंत में होती हैं वह बहुत बारीक होती हैं। वह ग्रंथियों और मांसपेशियों की सेलों के साथ अथवा आंख कान या त्वचा के इंद्रियग्रामों से मिलती हैं। इस तरह नाड़ी की सेलों के ताने-बाने शरीर के अंग अंग में फैले हुए हैं जो जीवित बिजुली के तारों का काम करती हैं और एड़ी से चोटी तक फैली हुई हैं।

मस्तिष्क के अगले भागों की सेलें सब में अद्भुत हैं। उन्हीं के द्वारा मन विचार करता है।

अंत में उन सेलों की कथा आती है जिन से जनन-क्रिया होती है। यह खास सेलें हैं जो जननेन्द्रियों में बनती हैं और जब प्राणी जवान होता है तब ये सेलें स्वतन्त्र हो जाती हैं। आरंभ में यह गोल हुआ करती हैं और इन का केंद्र बड़ा हुआ करता है। मादासेल या डिंब गोल रहता है और अपने भीतर भोजन की सामग्री इकट्ठा करने के कारण बड़ा भी हो जाता है। परन्तु नरसेल छोटा ही बना रहता है और अंत में वीर्याणु का रूप धारण करता है। उस का केंद्र घना और लंबा हो जाता है। उसी से सिर जैसा गोल भाग बनता है और शेष अंश बहुत चंचल लंबी पूँछ के रूप में परिणत हो जाता है जिस के सहारे वीर्याणु तैरता रहता है और अंत में डिंब तक पहुँच जाता है।

इस तरह प्रत्येक शरीर एक एक भारी देश है जिस में सेल ही सेल आबाद हैं। एक घन-सहस्रांश मीटर मानव रक्त के भीतर कोई पचास लाख सेलें तैरती होती हैं। साधारण मनुष्य के शरीर में लगभग साढ़े तीन सेर रक्त होता है। इस हिसाब से शरीर में केवल

रक्ताणुओं की संख्या पौने दो नील के लगभग है। इसी तरह और सेलों की लगभग संख्या भी निकाली जा सकती है। एक-एक शरीर में संख्यातीत सेलें हैं, इतनी सेलें हैं जितनी कि संसार में समस्त पिंडजों की आबादी न होगी। इस विशाल सेल-साम्राज्य में, एक छोटा-सा विचार करने में, असंख्य मस्तिष्क की सेलों की सहकारिता होती है। एक अंगुली के हिलाने में मांसपेशी के हजारों सेल एक साथ काम करते हैं। हृदय की एक गति में स्वरबों रक्त की सेलें रक्तवाहिनियों में बह जाती हैं। विकास करनेवाले जीवन के लिए ऐसी विविध संख्यातीत सेलों में प्रतिक्षण पूरी सहकारिता का होना बड़ा ही अद्भुत चमत्कार है।* यदि कहीं कहीं सेलें बगावत करके मांसवृद्धि या बदगोश्त आदि पैदा कर देती हैं तो कोई बड़ी बात नहीं है? परन्तु तो भी इन की बगावत इस दर्जे को पहुँचती है कि सारा सेल-साम्राज्य एक दिन काल के गाल में चला जाता है, सारे शरीर की मृत्यु हो जाती है। शायद प्रकृति इस बगावत में भी भावी विकास का साधन रखती है, इस भूल से भी चेतन-सेल शिक्षा पाती है।

४—पुनर्जनन या वृद्धि की समस्या

जीवित प्राणी का सब से आवश्यक गुण यह है कि अपने चारों ओर जितने रासायनिक पदार्थ पावे उन को अपने जटिल सादृश्य में परिणत करने के लिए पचा सके। जीवन के सभी प्रारंभिक रूपों में यह बात देखी जाती है कि वह बराबर पचाते और विसर्जन करते रहते हैं। परन्तु विसर्जन की क्रिया इतनी जल्दी नहीं होती जितनी कि पचाने की होती रहती है। फल यह होता है कि प्राणीकी बराबर वृद्धि होती रहती है। परन्तु आयतन की वृद्धि जितनी अधिक होती है उतनी अधिक ऊपरी तल की हो नहीं सकती। भीतरी आबादी को खिलाने के लिए भोजन ऊपरी तल के द्वार से आता है। शरीर की वृद्धि वहीं तक हो सकती है जहां तक उस के भीतरी सेलों को उपयुक्त भोजन मिलता रहे। बाहरी तल और आयतन में इसी दृष्टि से एक ऐसा अनिवार्य अनुपात है जिस के भंग होने से वृद्धि रुक जाती है और ह्रास और वृद्धि का अनुपात समान हो जाती है। बड़े शरीरों में सब तरह के जीवन को ऐसी कठिनाइयों का मुकाबला करना पड़ता है। परंतु सेलों के सामने यह समस्या कभी नहीं आयी। उन्हें वृद्धि में जहां इस तरह की रुकावट पड़ी वहां वह तुरंत बढ़े, लंबोत्तरे हुए और बीच से कटकर दो हो गये। पहले एक प्राणी था अब दो हुए। इन में से हर एक प्राणी फिर बढ़कर दो हो जाता है। इस तरह सेलों की संख्या आयतन में बढ़ते जाने के बदले दूनी से चौगुनी, चौगुनी से

* हर सजीव पिंड में, चींटी से लेकर हाथी तक में, इसी तरह का अद्भुत संगठन और सहकार है। जो पिंड में है, वही ब्रह्मांड में भी है। इस अद्भुत संगठन का नियमन करनेवाला कौन है?

अठगुनी होती जाती हैं। इस प्रकार एक सेलवाले जंतु और उद्भिज्ज तथा ऐसे सेल जिन जिनसे कि बहुत से सेलोंवाले शरीर बनते हैं इसी रीति से संख्या में बढ़ते जाते हैं। इस तरह की वृद्धि में नर-मादा की जरूरत नहीं पड़ती। इस विधि से ही किसी पदार्थ का क्षय नहीं होता। एक सेल से अनेक सेलें सहज में बन जाती हैं और श्रुति के "एकोऽहं बहुस्याम" महावाक्य को चरितार्थ करती हैं। प्रत्येक सेल जिस सेल में से निकलती है वह सेल भी पूर्ण होती है। निकलनेवाली भी पूर्ण होती है। निकाली जाती है पूर्ण। बचती भी है पूर्ण। इस से श्रुति का यह मंत्र चरितार्थ होता है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥ *

बहुत सेलोंवाले अनेक छोटे-छोटे कीड़े इसी विधि से बढ़ते हैं। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि इस तरह प्राणियों का विभाग होने के पहले कुछ काल तक यह जंजीर की तरह पर इकट्ठा जीवन व्यतीत करते हैं।

परन्तु विकास के आगे के मार्ग में इस तरह की संख्यावृद्धि अधिकाधिक कठिन होती जाती है। षट्पद में या अष्टभुज में इस तरह कटके पुनः-संगठन असंभव होगा और यदि यह क्रिया कुछ काल ले तो उस प्राणी की गति-विधि रुकी रहेगी और वह जल्द अपने दुश्मनों का शिकार हो जायगा।

जब शरीर अधिक जटिल हो जाता है और इस तरह आधा भाग कटकर संख्या-वृद्धि नहीं हो सकती तब अंकुरण से काम लिया जाता है। मूंगा में और कुछ विशेष प्रकार के कीड़ों में और कुछ रीढ़वाले अत्यंत छोटे जंतुओं में भी अंकुरण होता है। सारा शरीर ज्यों का-त्यों रहता है परंतु उस का एक छोटा-सा भाग कट जाता है और फिर छोटे से रूप में वैसा ही पूरा शरीर बन जाता है। बढ़ने और संगठन के काल में यह अंकुर अपने बड़े पैदा करनेवाले शरीर से लगा रहता है। जिन प्राणियों में अंकुरण जटिल हो गया है परंतु वह इस विधि से पैदा करते हैं तो उनमें अंकुरों का ज़ंजीर सा कुछ काल तक शरीर में लगा रहता है और जब संगठन पूरा हो जाता है तब अपने-आप सब अंकुर अलग हो जाते हैं। यह क्रिया भी उन्हीं प्राणियों में होती है जिन के अस्थि पंजर में अभी जटिलता नहीं आयी है और जिन की वृद्धि बराबर होती ही रहती है। इसलिए अंकुरण की क्रिया बड़े प्राणियों और पौधों तक पहुँचने के पहले ही समाप्त हो जाती है।

अनेक सेलोंवाले जंतुओं और पौधों में आगे की संतान पैदा करने में जोड़ावाली क्रिया का विकास होता है। जोड़ावाली क्रिया से मतलब यह है कि दो अकेली सेलें जुड़-कर एक सेल बन जाती हैं। इस क्रिया के लिए अनेक सेलोंवाले दो प्राणियों की दो सेलें

*** "वह पूर्ण है, यह पूर्ण है। पूर्ण में से पूर्ण निकलता है। पूरे को पूरे में से ले लेने पर निश्चय पूर्ण ही बचता है।"**

अलग हो जाती हैं और मिलकर पहले तो एक सेल बनाती हैं और फिर एक से अनेक हो कर बहुत सेलोवाली एक नयी व्यक्ति को उत्पन्न करती हैं। अनेक एक-सेलवाले प्राणियों में भी विभाजन की क्रिया के सिवाय जोड़ेवाली क्रिया भी होती है। दोनों क्रियाएं बारी-बारी से होती रहती हैं। यहा दो बातें ध्यान देने की हैं। पहली तो यह कि बहुत छोटे-छोटे सीधे-सादे शरीरों में अथवा सेलो के रूप में जोड़े की क्रिया में यह आवश्यक नहीं है कि दोनो मिलनेवाले प्राणी भिन्न-भिन्न लिंग के हो, अर्थात् नर-मादा हो। दूसरी बात यह है कि आरभिक जीवन में जनन-क्रिया से और नर-मादा के भेद से कोई सबध नहीं है।

परतु बहुत से सेलोवाले शरीर के जतुओं में यह भेद आवश्यक हो गया है कि नर का वीर्याणु हो और मादा का डिंब। इन का वर्णन हम अन्यत्र कर चुके हैं। जब यह बड़े प्राणी काफ़ी बाढ़ को पहुँच जाते हैं तो अपने शरीर में बहुत बड़े परिमाण में बहुत काल तक सतान पैदा करनेवाली बहुत सूक्ष्म सेलों को उपजाते रहते हैं। एक साधारण बड़ा प्राणी अपने जीवन भर में इतने वीर्याणु उत्पन्न करता है जितने कि सृष्टि की आदि से आज तक मनुष्य नहीं हुए हैं। ऐसे प्राणियों में पुनर्जनन का एक ही उपाय जोड़े की क्रिया है जिसे हम "दाम्पत्य" कहेंगे।

छोटी-छोटी और बहुत सी अल्पायु सेलोवाले शरीरों में जोड़ के द्वारा जनन में कुछ कठिनाई आ पड़ती है क्योंकि एक नन्हीं सी जननी एक बार में थोड़े से ही डिंब उप-जाती है। यदि जनकों की आवश्यकता न पड़े तो दूनी व्यक्तियां सतान की उत्पत्ति में लग सकती हैं। इसलिए जहाँ विभाजन या अकुरण के लिए शरीर अधिक जटिल हैं और जोड़े द्वारा उत्पादन के सब सुभीते नहीं हैं वहा एक और विधि सतान पैदा करने की देखी जाती है, जिसे पृथा जनन या "अशुक्र-जनन" कह सकते हैं। इस में वीर्याणु के प्रवेश बिना ही डिंब का विकास होता है। जहा डिंब को वीर्य्याणु-जनित उत्तेजना की अपेक्षा रहती है अर्थात् जहा शुक्राणु द्वारा गर्भाधान हुए बिना काम नहीं चल सकता, वहा डिंब की वृद्धि रुक जाती है। पृथा जनन वाले डिंबो में उत्तेजना की आवश्यकता नहीं होती। वह ज्यो ही प्रौढ़ता को पहुँचते हैं त्यों ही उन के भीतर शरीर-रचना होने लगती है। पौधों के नन्हें कीड़े बहुतेरे षट्पद और कई जल-भ्रमर गर्मी भर पृथा-जनन से काम लेते रहते हैं। नर मधुमक्खी भी इसी तरह पृथा जनन से पैदा होता है। उस की माता है। पिता नहीं हैं। रानी और काम करनेवाली मक्खियां वीर्य्याहित अडो से पैदा होती हैं।

इस प्रकार जनन-क्रिया के हिसाब से हम देखें तो चार प्रकार के प्राणी होते हैं। भेदज, अकुरज, दंपतिज और अनाहिताडज। पुनर्जनन की क्रिया केवल वृद्धि की क्रिया है। वृद्धि जब एक शरीर में अपनी हद को पहुँच जाती है तब अपने को अनेक शरीरों में ऊपर की बतायी हुई चारों में से किसी एक विधि से प्रकट करती है।

(५) नव-जनन

बराबर बढ़ते जाने की प्रवृत्ति जैसे संतान उपजाने का कारण होती है उसी तरह

नव-जनन का भी कारण होती है। हम लोग नव-जनन को बड़े आश्चर्य की दृष्टि से देखते हैं क्योंकि हमारे शरीर में स्पष्ट रीति से नव-जनन की क्रिया दिखाई नहीं पड़ती और जो बड़े-बड़े जानवर साधारणतया हमारे अनुभव में आते हैं उन में भी नव-जनन नहीं देख पड़ता। परन्तु छोटे-छोटे प्राणियों में नव-जनन केवल आवश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य है। हमें यह याद रखना चाहिए कि शरीर का संगठन और उस की परिस्थिति दोनों में साम्यावस्था से ही किसी पौधे या कीड़े का रूप रंग निश्चित होता है। यह नियम तो जड़ पदार्थों में भी लगता है। एक चीनी के बर्तन में एक बूंद पारा रक्खा हो और उसे दो टुकड़े कर डालिये तो जैसे उस का पूर्व रूप गोलाकार था वैसे ही उस के दोनों टुकड़े भी गोलाकार हो जायेंगे। इस का कारण बर्तन और पारा और हवा तथा पारे के बीच धरातल के तनाव के नियम हैं। यदि पारा सजीव होता तो हम कहते कि उस का आकार गोल है। इसी प्रकार एक सेलवाले प्राणी को यदि हम दो या अधिक टुकड़े करें जिस में उस के केन्द्र का पूरा या आंशिक भाग आ जाय तो टुकड़े अपने को फिर से साम्यावस्था में लाने का यत्न करेंगे और अपने पूर्व संपूर्ण रूप को ग्रहण कर लेंगे। वह टुकड़े भी ज्यों के-त्यों पूरे हो जायँगे। यह उसी तरह बढ़ेंगे जैसे कि पूरा प्राणी बढ़ता है। अनेक सेलोंवाले प्राणियों में भी नव-जनन की अनंत शक्ति है। परन्तु कुछ बड़े प्राणियों में यह क्रिया जटिल हो गयी है। एक पत्र-कृमि या चपटे कीड़े का एक टुकड़ा अगर काट लिया जाय तो वह कटा टुकड़ा पहले एक नया शिरोदेश पैदा करेगा। यह नये सिरे से जमा हुआ सिर ज्यों ही बनेगा त्योंही उस टुकड़े के बाकी हिस्से को चलाने लगेगा। सिर से पूछ तक शरीर का क्रम ठीक हो जायगा। यह भी कहा जा सकता है कि शरीर का हर अगला हिस्सा पिछले पर शासन करता है। यदि शरीर के एक बग़ल में काटा जाय तो घाव के अवयव काटने से इतने उत्तेजित हो जाते हैं कि वह हुकूमत करनेवाले सिर से झट अलग हो जाते हैं और अपने लिये नया सिर पैदा कर लेते हैं। दूसरी तरह पर भी काटा जा सकता है कि कटी हुई जगह पर नया अंग निकल पड़े और वह पुराने ही अंग के बस में रहे। इस तरह एक फालतू पूछ बन जायगी। बनावटी रीति से इस प्रकार विचित्र रूपों के प्राणी उपजाये जा सकते हैं जिन के फालतू पूछ और सिर हों या दोनों ओर सिर हों।

कई स्पंजों में यह बात देखी गयी है कि एक से अधिक घटक व्यक्तियों में कट जाने पर भी उन के टुकड़े बराबर बढ़ते रहते हैं।

केंचुओं के टुकड़े कर दिये जायँ और वह एक दूसरे के साथ बराबर जोड़ दिये जायँ तो एक बहुत लंबा केंचुआ बन सकता है। अथवा छोटे-छोटे दो टुकड़े सिरों के जोड़ दिए जायँ तो एक छोटा केंचुआ बन जायगा। बीचवाले टुकड़े को उलट दें कि जो हिस्सा मुंह की ओर था पूछ की ओर हो जाय तो ऐसा भी बन जायगा। यह सब केंचुए शुद्ध और स्वस्थ होंगे। हैरिसन ने तो मेंढक के बच्चों पर कलम लगाने की क्रिया की है। एक जाति के मेंढक के बच्चे का सिर दूसरी जातिवाले की पूंछ से जोड़ दिया। यह बनावटी बच्चा बढ़ा,

बड़ा हुआ और साधारण मेंढक हो गया। विशेषता यही थी कि दो रंगों का मेल होने से उस का आधा शरीर एक रंग का था और दूसरा आधा दूसरे रंग का।

जब हम प्राणि-जीवन के संबंध में ऊंचे उठते हैं तो नवजनन की शक्ति घटती हुई पाते हैं। यदि हम किसी केकड़े को या छोटी गोह को बीच से काट दें तो वह मर जायगी। परन्तु कोई अंग काट दें तो वह अंग फिर से जम सकता है। छिपकिली की दुम कट जाती है तो फिर जम आती है। उस से भी अधिक ऊँचे उठने पर पशु-पक्षियों में इतनी भी शक्ति नहीं रह जाती कि वह अपनी कटी हुई पूंछ जमा सकें। अब भी बहुत थोड़ी थोड़ी हानियों की पूर्ति हो जाती है। जैसे कोई घाव भर सकता है अथवा किसी अंग का बहुत छोटा अंश किसी दूसरे प्राणी के वैसे ही छोटे अंश से जोड़ दिया जा सकता है।

विकास-क्रम में ज्यों-ज्यों हम ऊंचे उठते हैं त्यों-त्यों नवजनन की क्रिया घटती जाती है। मेंढक का कोई अंग काट दिया जाय तो वह उसे फिर जमा नहीं सकता। परन्तु मेंढक के बच्चे का कोई अंग काटा जाय तो वह जमा सकता है। मेंढक के बच्चे को दो टुकड़ों में विभक्त कर दीजिए तो वह जी नहीं सकता, परन्तु नवजात दशा में वह दो टुकड़े किए जाने पर भी जी सकता है और दो स्वतन्त्र और पूरे मेंढक बना सकता है। यह बात मनुष्य के भ्रूण तक में देखी जाती है। जोड़ुआ बालक कभी-कभी भाई-बहन और कभी दोनों बहनें या दोनों भाई पैदा होते हैं। यह बात अक्सर देखी जाती है कि जब भाई बहन होते हैं तब तो रूप में उतना ही अन्तर होता है जितना भाई-बहन में साधारणतया हुआ करता है। परन्तु जब दोनों भाई या दोनों बहन होती हैं तो रूप में इतनी समानता होती है कि एक दूसरे में पहचान नहीं हो सकती। यह दूसरे प्रकार के जोड़ुवा तब पैदा होते हैं जब भ्रूण की अत्यन्त आरंभिक दशा में किसी दुर्घटना के कारण दो स्वतंत्र टुकड़े हो जाते हैं। इस तरह एक ही वीर्याणु और डिंब से बने हुए शरीर के दो स्वतन्त्र मनुष्य पैदा होते हैं।

बदगोश्त या मांस-वृद्धि का रोग प्राकृतिक वृद्धि-क्रिया का ही एक तरह का विकार है। शरीर के कुछ सेल साधारण संगठनवाले सेलों से और शरीर के मात्रातिक शासन से अलग होकर अपने मन की अनियमित वृद्धि का काम करने लगते हैं। किसी-किसी बात में तो वह ऐसे उद्धत हो जाते हैं कि उन की बढ़ने की क्रिया बड़ी तेज हो जाती है और शरीर की सहकारिता से वह बिल्कुल अलग हो जाते हैं। फल यह होता है कि बदगोश्त बढ़ता है, कटवा दिया जाता है, और फिर बढ़ता है और अधिकांश शरीर के नाश का कारण बन जाता है।

मिस स्लाई ने कुछ चूहियों पर अद्भुत प्रयोग करके देखे। कई चूहियों को गर्भाशय में मांसवृद्धि का रोग हो गया था। इन रोगिणियों में से कुछ अलग रखी गयीं, और कुछ को बच्चा पैदा करने का अवसर दिया गया। जो अलगायी गयी थीं उन में रोग बड़ी तेजी से बढ़ा और वह एक महीने में मर गयीं। जिन को जोड़े के साथ रखा गया था उन्हें बच्चों के झोल-के-झोल बराबर होने लगे। मांस-वृद्धि तब तक रुकी रही जब तक बच्चे होते रहे। जब बच्चों का पैदा होना बंद हो गया तब मांस-वृद्धि ज़ोरों से बढ़ी। जान पड़ता है कि भ्रूण और मांस-वृद्धि दोनों में गर्भ के भीतर भोजन पाने की होड़ लगी हुई थी जिस में भ्रूण ही

सफल होता रहा। उस की सफलता इस दर्जे तक रही कि रोग को बढ़ने के लिए भोजन नहीं मिलता था। मांस-वृद्धि के प्रश्न पर वैज्ञानिकों ने अभी कुछ निश्चय नहीं कर पाया है। खोज जारी है। परन्तु वृद्धि के विषय से उस में बड़ी सहायता मिल सकती है।

६—जरा और मरण

एक सेलवाले प्राणियों का भेद द्वारा दो हो जाना मरना नहीं कहा जा सकता। जो व्यक्ति पहले थी वह व्यक्ति नहीं रह गयी, यह बात भी निश्चय रूप से नहीं कही जा सकती। संभव है कि जो व्यक्तियां अब हैं उन में से एक व्यक्ति वही हो जो पहले थी। यह भी संभव है कि उस व्यक्ति का लोप हो गया हो और बिल्कुल दो नयी व्यक्तियां पैदा हो गयी हों; केवल इसी दूसरे अर्थ में पहली व्यक्ति का मरण समझा जा सकता है। जो हो कम से-कम कोई लाश बरामद नहीं हुई। व्यक्तियां प्रकट होती हैं और लुप्त हो जाती हैं परन्तु एक ही वस्तुसत्ता के निरंतर बढ़ते और कटते रहने से भी जीवन की अनवरत धारा बराबर एक-सी जारी रहती है। शरीर में परिवर्त्तन बराबर होते रहते हैं परन्तु बहुत काल तक रूप ज्यों-का-त्यों बना रहता है। यदि बीच में कोई दुर्घटना न हुई तो स्वाभाविक मृत्यु तो अनिवार्य है। साधारणतया विकास के क्रम में हम ज्यों-ज्यों ऊंचे उठते हैं त्यों-त्यों यह देखते हैं कि व्यक्ति का शरीर अधिकाधिक काल तक ठहरने लगता है। शरीर के बढ़ते रहने का काल इतना लम्बा नहीं होता जितनी लंबी वह प्रौढ़ावस्था होती है जिस में वृद्धि और ह्रास लगभग बराबर रहते हैं। छोटे जानवरों में वृद्धि मरणकाल तक बराबर जारी रहती है। परन्तु बड़े प्राणियों में वृद्धि का काल जल्दी ही बीत जाता है और युवावस्था तक पहुंचते-पहुंचते परिवर्त्तन का वेग अत्यन्त घट जाता है। बहुत से छोटे प्राणियों में जिन कारणों से बुढ़ापा आता है उन्हें लौटाया भी जा सकता है और कभी कभी बुढ़ापे को आने से रोका भी जा सकता है। जैसे एक सेलवाला प्राणी जब दो बनने के लिए बढ़ने लगा तभी उस के शरीर के एक एक अंश को काट दिया जाया करे तो जब तक हम चाहें तब तक उस प्राणी को दूने होने अथवा लुप्त होने से रोक सकते हैं। हम कह चुके हैं कि चिपटे कीड़े के टुकड़े कटकर नवजनन द्वारा अनेक हो जाते हैं। ऐसी ही एक को लेकर हम भूखा रखें तो वह अपने शरीर से ही अपना पोषण लेता रहेगा और छोटा होता जायगा। साथ ही चञ्चल भी होता जायगा। यों तो वह पुनर्जनन कर के खतम हो जाता परन्तु बहुत काल तक भूखा रख कर उसे नौजवान बनाया जा सकता है और फिर खिलाकर बढ़ाया जा सकता है। और फिर भूखा रखकर फिर से जवान किया जा सकता है। इस तरह अनन्त काल तक उसे जीवित रखा जा सकता है।

परन्तु इस तरह की रीतियों से बड़े प्राणियों को दीर्घजीवी नहीं बना सकते। उन्हें दीर्घजीवी बनाने के उपायों में से परिस्थिति को अनुकूल बनाना एक उपाय है। शायद सभी ठंडे रक्तवाले प्राणियों में और षट्पदों में भी ठंढ से आयु बढ़ सकती है। परन्तु गरम रक्तवाले प्राणियों में जिन में प्रौढ़ होने के बाद वृद्धि नहीं होती, इन विधियों से काम

नहीं ले सकते। प्रौढ़ावस्था एक प्रकार से साम्यावस्था है। जब साम्यावस्था का सामंजस्य बिगड़ जाता है तब बुढ़ापा आ जाता है और मरण अनिवार्य हो जाता है। अभी हाल में एक बात यह जानी गयी है कि शरीर के कई अवयव अमर होने का सामर्थ्य रखते हैं यद्यपि शरीर को एक दिन मरना ही है। जीवित प्राणी से इन अवयवों के टुकड़े निकाल कर पोषक द्रवों में रखा गया है और द्रवों को समय-समय पर बदला गया है। न्यूयार्क में कारेलने अंडे फोड़ने के पहले ही मुर्गी के बच्चे के योजक अवयव का इसी तरह का टुकड़ा निकाल लिया और इसी प्रकार इतने काल तक उसे सजीव रखा जितने काल तक साधारणतया मुर्गी जीवित नहीं रहती। और बड़े मारके की बात तो यह है कि उस के घटक सेलों का बराबर बढ़ता रहना जारी रहा। भिन्न भिन्न अवयवों की वृद्धि और ह्रास के सामंजस्य के बिगड़ने से यदि मृत्यु होती है, तो यदि यह मालूम हो जाय कि हम किस प्रकार विविध अवयवों को पुष्ट कर के चिरजीवी करें और सामंजस्य बनाये रक्खें, तो व्यक्ति को दीर्घायु करने में शायद हम समर्थ हो सकें।

७—प्रणाली-रहित ग्रंथियां

जरा मरण के संबंध में विज्ञान अभी तक पर्याप्त खोज नहीं कर सका है और हमारा ज्ञान इस संबंध में बहुत थोड़ा है। तो भी हम यह कह सकते हैं कि जरा-मरण का रहस्य शायद प्रणाली रहित ग्रंथियों में और नाड़ी-मंडल में, विशेषतः मस्तिष्क में, छिपा हुआ है। प्रणाली-रहित ग्रन्थियां वह अंग हैं जो अपने रस सीधे रक्त में छोड़ते हैं। शरीर की बाढ़ पर इन रसों का असाधारण अधिकार है। शरीर की क्रिया के बढ़ाने घटाने और उस के विविध अवयवों की सहकारिता के ऊपर इन रसों का सामान्य प्रभाव है। मस्तिष्क में श्लेष्मिक ग्रंथि* विशेष रूप से कंकाल की वृद्धि के ऊपर बड़ा प्रभाव रखती है। यह ग्रंथि जितना ही विकास करती है उतना ही बड़ा कंकाल होता है।* काकलक ग्रन्थि या चुल्लिका+ ग्रन्थि तो प्राणाग्नि ही समझी जानी चाहिये। यदि यह कम हो तो शरीर की आग घट जाती है और मृगाशोथ रोग हो जाता है जिस से शारीरिक और मानसिक क्रियाएं शिथिल पड़ जाती हैं। यह ग्रंथि बहुत बढ़ जाय तो भी शरीर का ह्रास होने लगता है, नाड़ी का वेग बढ़ जाता है। भूख तो बढ़ती है पर क्षय भी बढ़ता जाता है। नाड़ी-मंडल में दुर्बलता आ जाती है। इसी प्रकार जननेंद्रियों का एक अवयव जिसे अंतराल तंतु कहते हैं, ग्रंथि की तरह व्यवहार करता है और एक ऐसा रस बनाता है जिस का प्रभाव शरीर के नर या मादा-वाले विशिष्ट अंगों की बाढ़ पर पड़ता है। यह मस्तिष्क को भी उत्तेजित करके दाम्पत्य भावों को जाग्रत करता है।

ऐसा समझा जाता है कि इन ग्रंथियों के व्यापार से जीवन का बहुत बड़ा संबंध है।

---

* पिट्युइटरी ग्लैंड। + थैरोइड ग्लैंड।

इन के व्यापार में बुढ़ापा के आने पर शिथिलता आ जाती है, अथवा यह कहना भी ठीक है कि इन के व्यापार में शिथिलता आना ही बुढ़ापा है। इन्हीं के कार्यों में अत्यंत शिथिलता ही मृत्यु की तैयारी समझी जानी चाहिये। यह ग्रंथियां जीव को सुखी रखती हैं। इन की शिथिलता से जीवन में कोई रस नहीं रह जाता। प्राणी उस से ऊब या थक जाता है।

प्रोफेसर मेचनीकाफ का कहना है कि मेरे देखने में स्वाभाविक मरण के जितने मामले आये उन में मैंने यही देखा कि मरने में कोई कष्ट नहीं हुआ बल्कि मरनेवाले मृत्यु को उसी तरह चाहते थे जैसे थका हुआ आदमी सुख से सोना चाहता है।

बारहवां अध्याय

मनुष्य का अन्नमय कोष

१—पुराने निशान

मानव शरीर ऐसा यंत्र है जिस की तैयारी के लिए प्रकृति करोड़ों बरस तक भिन्न-भिन्न ठठरियों पर अपना हाथ साफ करती रही है और कई करोड़ बरस हुए कि उस ने मनुष्य का शरीर बना पाया है। शायद यही कारण है कि मानव शरीर के भीतर अब तक कई अंग या अंगों के अंश ऐसे रह गये हैं जिन्हें प्राचीन नमूनों के चिह्न-मात्र समझना चाहिए और वर्त्तमान शरीर में वास्तव में जिन की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रकृति ने मनुष्य के शरीर से अनावश्यक अंशों को धीरे धीरे दूर किया है और अब भी दूर करती जा रही है।

जन्म के पहले बच्चे का सारा शरीर बारीक बालों से ढका रहता है और प्रौढ़ मनुष्यों के शरीर में सिर और मूछ दाढ़ी आदि के सिवा जो सौंदर्य के लिए आवश्यक है सारे शरीर में जो रोएं हैं उन की तो कोई आवश्यकता नहीं है। इन की आवश्यकता सभी प्राणियों को उस जमाने में थी जब इस धरती पर हिमप्रलय था। यह उसी समय की निशानी मालूम होती है। हमारे सिर के दाहिने-बायें बगल अस्थिकल्प के जो टुकड़े वास्तविक कान के ऊपर लगे हुए हैं और जिन्हें हम कान कहते हैं वह असल में सुनने में कोई मदद नहीं देते। घोड़े के कान नोकदार होते हैं। जब उसे सुनना मंजूर होता है तब वह शब्द तरंगों को कनौतिया उठा कर अपने श्रवणेंद्रिय में प्रवेश कराता है। हमारे कानों को भी हिलाने के लिए सात मांसपेशियां अब भी हैं तो भी कोई इक्का-दुक्का ही उन में से एक दो को काम में ला सकता है। इसीलिए यह कान हमारे शरीर के विकास की पुरानी कहानी सुनाने को रह गये हैं। आंख के भीतरी कोने में जो ज़रा सा मांस का बढ़ा हुआ टुकड़ा दिखाई पड़ता है वह भी अत्यन्त प्राचीन विकास की कहानी कहता है। आज उस की कोई जरूरत नहीं है। पिंजड़े के सुग्गे को देखा गया है कि कभी-कभी वह अपनी आंख के कोयों पर एक सफेद झिल्ली फेर लेता है। हमारी आंख का वह मांस का टुकड़ा यही चीज सिकुड़ी हुई है। पहले इस से आंख की धूल झाड़ी जाती थी। अब उस से अच्छा बंदोबस्त होने के कारण उस का लोप हो रहा

है। प्रायः और सभी पिडजों की आंखों में यह तीसरी पलक पूर्ण विकसित रूप में होती है।

जीवित उरगों की शरीर की परीक्षा से और प्राचीन ठठरियों को देखने से भी पता चलता है कि ऐसे भी प्राणी थे कि जिनके सिर में बीचोबीच तीसरी आंख हुआ करती थी। आजकल भी उरगों को यह तीसरी आंख होती है, पर वह एक चमड़े से ढकी रहती है और काम में न आने के कारण वह धीरे-धीरे नष्ट हो रही है। पक्षियों और पिंडजों में यह और गहरे घुस गयी है और ज्यादा खराब हो गयी है। मनुष्य में यह तीसरी आंख और भी छोटा अंग बन गयी है और मस्तिष्क के बीचोबीच में निकली जान पड़ती है। यह तो निश्चय
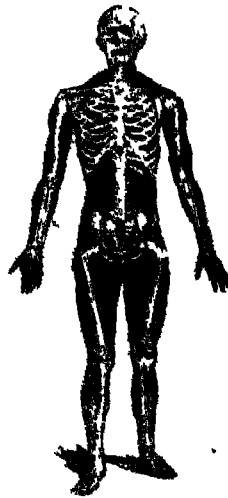
चित्र ००३—मनुष्य की ठठरी

हमारे शरीर की रचना में] [ग्रन्थकार की कृपा

पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इसका कोई काम नहीं है। यह अंग रहस्यमय है, परन्तु तो भी करोड़ों बरस पहले की तीसरी आंख से इस का संबंध मिलता है।

मनुष्य के दहिनी ओर पेड़ू में जहां छोटी बड़ी आंतों का जोड़ है, ठीक उसी जगह लगभग छः अंगुल लंबी अंधात्र है जो अंधी गली की तरह बंद है और रोग और पीड़ा का स्थान होने के कारण बदनाम है। आजकल लाखों आदमियों ने इसे कटवाकर निकलवा दिया है परंतु उन्हें कोई हानि नहीं पहुँची है। यह भी प्राचीन शाकाहारी पिंडजों के एक विशेष अंग की निशानी रह गयी है।

मनुष्य की रीढ़ की हड्डी के अंत में वस्ति के पास एक हड्डी है जिसे पुच्छास्थि कहते

हैं। यह किसी प्राचीन युग की पूंछ की निशानी है। कभी-कभी बच्चे पैदा होते हैं तो वह अंश पूंछ की तरह निकला सा भी होता है और वह हिला भी सकते हैं। इस तरह के एक दो नहीं, गिनकर पूरे एक सौ सात अंग और अंगांश मनुष्य के शरीर में हैं जिन्हें प्राचीन काल का चिह्न मात्र समझना चाहिए और जिन की कोई उपयोगिता अभी तक जानने में नहीं आयी है।

२—पाचन-संस्थान में मुख की गुहा

जीवन की सब से अधिक महत्त्व की क्रिया भोजन करना और उसे पचाना है। मनुष्य के शरीर में इस काम का आरंभ मुख से होता है और इस का अंत मलद्वार से समझने में कोई हर्ज न होगा। मुंह इस पाचन संस्थान का फाटक है, इस बड़े महल के रसोई घर का
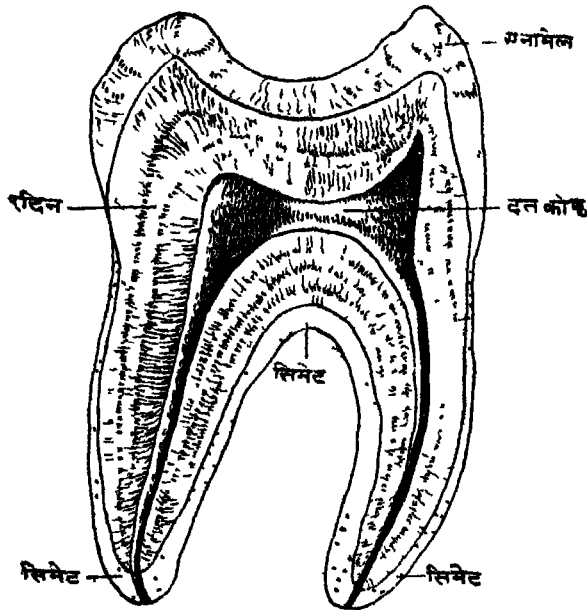
चित्र १०४—दांत की रचना [बावन के अनुवर्तन में

सिंहद्वार है। इस के ऊपर तीन बड़े-बड़े पहरेदार नियुक्त हैं। दो आंखें और एक नाक। यह तीनों बराबर जांचा करते हैं कि मुंह के भीतर जानेवाली चीजें ठीक हैं या नहीं। फिर जीभ के ऊपरी भाग में हजारों बारीक अंग हैं जो चखकर अन्न को भीतर भेजते हैं। उन के

ऊपर बहुत बारीक खाल होती है जिन में से घुसकर चखनेवाली नाड़ियों के सिरे तक अन्न के रस पहुँच जाते हैं। यह नाड़िया तुरत दिमाग को ज्यों ही खबर पहुँचाती हैं कि सब ठीक है त्यों ही और नाड़िया नीचे के जबड़े के मासपेशियों को चला देती हैं और ग्रास का पीसना शुरू हो जाता है। पीसनेवाले यत्र दात हैं। रुचक या दतवेष्ट और रदिन यह दो कठोर पदार्थ दात के भीतर के नरम भाग को ढके रहते हैं। इसी नरम भाग में नाड़िया और रक्त-वाहिनिया रहती हैं। जड़ो के ऊपर एक प्रकार का सीमेंट या मसालेवाला मसाला लिपटा
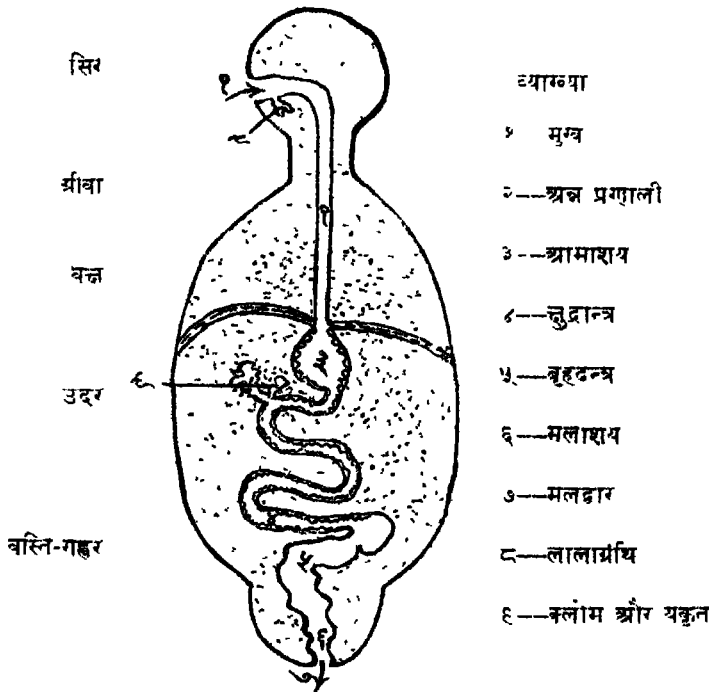
चित्र १०१—अन्नमार्ग और उसके मुख्य भाग।

डा० त्रिलोकीनाथ वर्मा की कृपा] [हमारे शरीर की रचना से

रहता है जिस से कि दात अपने ऊखल में जमा रहता है। ऐसी कठोरता से भी कसा नहीं रहता कि कड़ी चीज तोड़ने में दाढ़े दुखने लगें। जड़ के चारों ओर गद्दी सी रहती है जिस से धक्के का प्रभाव कम पड़ता है। इन दातों के बनाने के लिए सेलों की एक विशेष सेना बचपन में ही लगा दी जाती है। वह ठीक-ठीक मसाले को बच्चे के भोजन से निकाल-निकाल कर एक-एक परमाणु को अलग-अलग ठीक वैज्ञानिक विधि से जोड़-जोड़ कर बालक के सुदर दात बनाती है। हमारे बनाये नकली दांत तो इन के सामने अत्यंत फूहड़ हैं। और

यह कारीगर अपने काम को बिल्कुल ठीक समय पर करते हैं, न पहले न पीछे। परंतु इन कारीगरों को आगे चलकर कठिनाई का सामना करना रहता है। बालक का जबड़ा तो अभी बढ़ता जायगा। उस की बाढ़ के अनुकूल दांत जैसी कड़ी चीज को आगे चलकर बढ़ा देना तो संभव नहीं है। इसलिए हड्डी बनानेवाले सेल दूध के दांतों को धीरे-धीरे अपने काम में लगाने लगते हैं और भीतर के बहुत से भाग को खर्च कर डालते हैं। गिरा हुआ दूध का दांत छिलका मात्र है। नये दांत बढ़े हुए जबड़े के अनुकूल निकलते हैं। कुछ वैज्ञानिकों की राय है कि सभ्यता के फलने के कारण लोग दांतों से अब कम काम लेते हैं। अब भोजन ऐसा करते हैं कि चबाने की जरूरत कम पड़ती है। इसलिए धीरे-धीरे दांत कमजोर होते जाते हैं और बहुत काल पीछे बिना दांत के मनुष्य होंगे। परन्तु हम सभ्यता महारोग का मुकाबिला करने के लिए यदि दांतों से काफी काम लें, खूब चबा-चबा कर खाया करें, तो ऐसी स्थिति कभी न आने पावे।

चित्र १०६— ग्रास की यात्रा
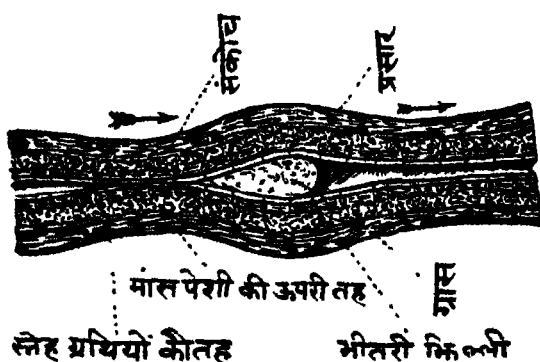
विलियम्स एंड नारगेट] [सर आर्थर कीथ का अनुवर्त्तन

ज्यों ही पिसाई शुरू होती है त्यों ही तीन जोड़ी ग्रंथियां ग्रास में लाला डालने लगती हैं और भोजन सनने लगता है। ग्रंथियां भी विचित्र हैं। भोजन की शकल देखते ही लाला निकालने लगती है। इन ग्रंथियों में जो सूक्ष्म सेलें लाला रस बनाती हैं वह अद्भुत यंत्र हैं जो अभी तक समझ में नहीं आये हैं। लाला में निन्नानबे भाग जल है और एक भाग ऐसे पदार्थों का है जो मंडमय भोजन को द्राक्षाशर्करा में बदल देते हैं। हम लोग जो खाते हैं उस में मंड या नशास्ता अधिक होता है। इसीलिए खूब चबाना जरूरी है कि लाला अच्छी तरह मिले। फिर तो आधे घंटे तक पेट में शकर बनाने की क्रिया जारी रहती है। लाला के खूब न मिलने से तरह-तरह की बीमारियां होती हैं।

ग्रास का निगला जाना भी साधारण बात नहीं है। जब ग्रास तैयार हो जाता है तो मुंह के भीतरी हिस्से के पीछे के नाड़ीजाल खबर देते हैं कि भोजन जाने के लिए तैयार है। जब हम चबा रहे थे तब पीछेवाली मांसपेशियों ने भीतरी नाली को बन्द कर रखा था। अब उन्हों ने ढीला कर दिया। नीचे के जबड़े ने ऊपर को दबाया। कोमल तालू ढालू बन गया। और मांसपेशियों ने नाक और फेफड़े के वायुमार्गों को बन्द कर दिया। इस तरह सारे यंत्र ने मिलकर अन्न को उस के मार्ग के पहले भाग या पहली मंजिल मुखकंठ में पहुंचाया। यों ही कभी जरा-सा अन्न राह भूलकर कहीं वायुमार्ग में चला जाता है तो और मांसपेशियां अपने आप उन्हें खांस कर बाहर निकाल देती हैं। मुंह के भीतर अनेक रास्ते हैं। गले के भीतर अन्नमार्ग और वायुमार्ग हैं। इस के ठीक ऊपर की ओर नाक के पीछेवाली नाली है और उसी में दो कंठकर्ण नालियां हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि जहां कई मार्ग मिलते हैं वहां अच्छी चौकसी रखी जाय।

३—पाचन-संस्थान में आमाशय की थैली

मुखकंठ में अन्न को एक लम्बी यात्रा करनी पड़ती है, क्योंकि मलद्वार तक इस मार्ग की लंबाई अट्ठारह हाथ से अधिक है। इतने लंबे रास्ते में ले जाने का कारण यह है कि इस मार्ग में सैकड़ों कारखाने हैं जहां सेल रूपी मजदूर अन्न में से अपने अपने काम की चीजें निकाल कर ले लेते हैं और बाकी को आगे बढ़ने देते हैं। रास्ता इतना लंबा न हो और माल के जाने में देर न लगे तो कारखाने का सारा काम सुभीते से नहीं हो सकता। ग्रास के गले के नीचे उतरने की क्रिया भी समझने लायक है।

मुखकंठ की राह से ग्रास ज्योंही चला त्योंही उस का दरवाजा बन्द हो गया। ग्रास के पीछे की नाली सिकुड़ गयी और बराबर यही सिकुड़न धीरे धीरे आगे बढ़ती जाती है और अपने आगे से ग्रास को खसकाती जाती है। ग्रास ज्यों ही गले के भीतर पहुंचता है त्यों ही वह एक ऐसे अंग को अपने आप दबा देता है जिस से कि उस के पीछे से सिकुड़ना जारी हो जाता है। वह ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है त्यों-त्यों सिकुड़नेवाले अंग दबते जाते हैं और उस की आगे की राह अपने आप खुलती भी जाती है और ग्रास की गति में रुकावट नहीं पड़ती।

अब अन्न आमाशय या मेदे में पहुंचता है और मथा जाता है। मथने समय उस में पेट के भीतर उपजे खटाईवाले रस और खमीर कई घंटे तक बराबर मिलते रहते हैं। बायीं तरफ हृदय से लेकर बड़ी दूर तक पेट चला गया है। परन्तु ऊपर का उस का बड़ा हिस्सा पाचन से कम संबंध रखता है। जब अन्न पेट में आधी राह तक पहुँच चुकता है तब पाचक रस उसमें मिलने लगते हैं। और जब तक वह पेट के निचले भाग में नहीं पहुँच जाता तब तक मिलना जारी रहता है। पेट में मांसपेशियों के तीन पर्त हैं जो दिनभर गीले भोजन को बराबर मिलाते रहते हैं। समझदार भले चंगे आदमी का पेट चार घंटे में यह काम पूरा कर लेता है। उसे फिर भोजन की

आवश्यकता पड़ती है। वह एक विशेष रूप से अपनी मांसपेशियों को ऐंठने लगता है। इस का खबर नाड़ीजाल दिमाग को पहुँचाते हैं। इसी को भूख लगना कहते है।
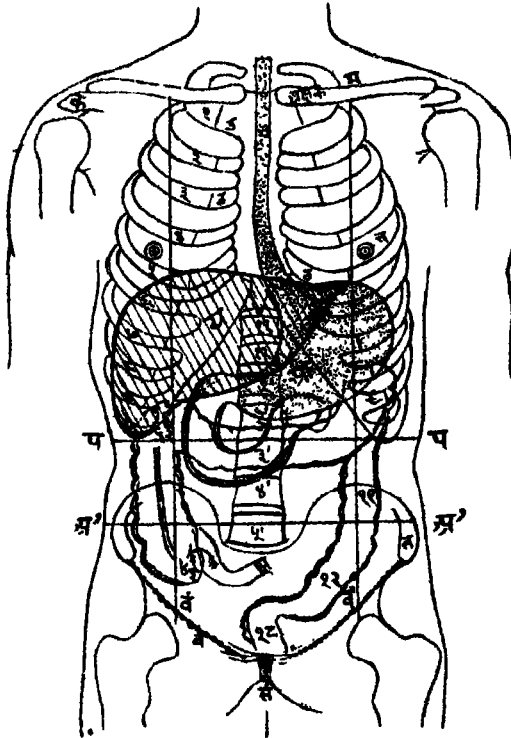
चित्र १०१—अन्नमार्ग के विविध भाग और पाचन का काल

डा० त्रिलोकीनाथ वर्मा की कृपा] [हमारे शरीर की रचना से

इस चित्र में उदर के नौ प्रदेश दिखाये गये हैं। और यह भी दिखाया है कि अन्न-प्रणाली, आमाशय, यकृत, क्षुद्रांत्र और बृहदंत्र शरीर में कहां-कहां रहते हैं। भोजन कितनी कितनी देर में किस-किस भाग में पहुँचता है। यह बात ४॥, ७॥, ११, १२ और १८ अंकों से विदित होता है। ये अंक घंटा बताते हैं।

१–१० तक=पसलियाँ। उ = उपपर्शुका। च=चूचुक या स्तनवृत। ११, १२ वक्ष के कशेरुका। क=असकूट। म=अक्षक का मध्य। अ=अन्न-प्रणाली। आ=आमाशय। य=यकृत। न=पुरोर्ध्वकूट। क्ष=क्षुद्रांत्र का अन्तिम भाग। व=वक्षण या खड़ी रेखा। इस के ऊपर को उरस्थल पर बढ़ावे तो अक्षक के मध्य तक पहुँचेगी। प प=पर्शु का अधो रेखा। अ' अ'=अर्बुदान्तरिक रेखा। चूचुक चौथे पर्शुकान्तर में रहता है। व=वक्षण बन्धन।

आमाशय की भीतरी भीत में बड़ी प्रचुरता से रक्त पहुँचता है और उस में चारो तरफ हजारों सूक्ष्म ग्रंथियां हैं जो आमाशयिक रस बनाती हैं। ज्योंही आदमी खाने बैठता है त्यों ही इन ग्रन्थियों को बेतार का तार पहुँच जाता है। और ज्योंही जिह्वा चखती है ताकीदी तार पहुँचते हैं। खून पेट की दीवारों की ओर दौड़ता है और उस से पोषण लेकर ग्रंथियां तुरंत पाचक रस बनाती हैं और अन्न पर डालती हैं। अन्न के बहुत बड़े भाग पर तो पेट का प्रभाव नहीं पड़ता। आमाशय में तो पचना आरम्भ होता है। शर्करा, नशास्ते या मंड, और स्नेह अर्थात घी तेल चर्बी आदि दूसरे विभाग को सौंप दिये जाते हैं। आमाशय में तो पोषजनीय या प्रोटीन या प्रत्यमिन अन्न ही पचाया जाता है। यह अधिकांश दाल, मांस, मछली, अंडे आदि होते हैं। यहां यह चीजें तोड़ डाली जाती हैं। और चूसे जाने योग्य बना ली जाती हैं। स्वयं पेट उस अन्न का बहुत थोड़ा अंश सोखता है। मांस दाल आदि का कुछ रस पेट में से ही सीधे रक्त में पहुँच जाता है। परन्तु अन्न का बहुत बड़ा भाग सोलह हाथ लंबे रसोई घर में जाता है। यहीं पकाया जाता है, इसी लिए इसे पक्काशय भी कहते हैं। यहां पका कर सोख भी लिया जाता है। यह बात भी हर आदमी को जानना चाहिए कि पेट के भीतर काम करने के लिए रक्त कुछ काल के लिए दिमाग से आता है। इस लिए खाना खाते हुए या खाने के बाद दिमागी काम लेना अस्वाभाविक और हानि कर है।

४—पाचन-संस्थान में पक्काशय

पेट के थैले के निचले भाग में जहां अन्न मार्ग फिर नली की तरह हो जाता है एक बहुत मजबूत गोल मांसपेशी है जो द्वार की रक्षा करती है और बिना सना हुआ और पकने के लिये बे तैयार भोजन को पक्काशय के भीतर नहीं जाने देती। अन्न का स्पर्श होते ही वह और भी सिकुड़ जाती है और मार्ग बिल्कुल बन्द कर देती है। जब विशेष प्रकार की रासायनिक क्रिया से उसे भोजन की तैय्यारी की सूचना मिलती है तभी वह भोजन को पक्काशय में जाने देती है। जब भोजन पक्काशय में जाने लगता है तो बड़े वेग से उस मार्ग से निकलता है।

पक्काशय के पहले भाग में एक बड़े महत्व की क्रिया होती है जिस से पता चलता है कि शरीर में डाक का भी विभाग उसी तरह है जैसे तार का विभाग। आंख ज्योंही भोजन को देखती है त्यों ही दिमाग को खबर देती है और दिमाग लाला और पेट की ग्रंथियों को काम में लगा देता है। यह तो तार का विभाग हुआ। आमाशय में से खटाई से सना हुआ भोजन जिसे हम आहार रस कहते हैं जब पक्काशय की दीवारों को छूता है तो उसी में की ग्रंथियां तुरंत ही एक प्रकार का रस बनाती हैं जिसे हम "स्रविण" या हारमोन कहेंगे। वह स्रविण को रक्त में छोड़ती हैं। रक्त उसे सारे शरीर में लेकर बड़ी शीघ्रता से दौड़ता है। परंतु उस की डाक को लेने के लिए दो ही एक अंग उस की बाट जोहते रहते हैं। यह डाक क्लोम या अग्न्याशय लेता है। वह तुरत ही अधिक उत्साह से काम में लग

जाता है और अधिक पाचक रस पक्वाशय में छोड़ता है। रक्त में प्रविष्ट हो कर यह रासायनिक पदार्थ जो डाक की तरह काम करता है अंग्रेजी भाषा में "हारमोन" कहलाता है।

अन्न-मार्ग के एक बगल मे और उसी से बाहर की ओर निकले हुए दो अग हैं जिन्हें यकृत और क्लोम कहते हैं। इनका विभाग अलग हो गया है और पक्वाशय से इन का संबंध नालियो के द्वारा है। इन दोनो में से लगभग डेढ़-डेढ़ पाव के रस पक्वाशय में प्रतिदिन इस लिए भेजा जाता है कि पचाने के काम में सहायता करें। यकृत पित्त भेजता है और कभी-कभी इतना अधिक भेजता है कि वह आमाशय तक पहुँच जाता है। पित्तरस पाचक नहीं है, पर भोजन में चर्बी को तैय्यार करने का काम करता है। क्लोमरस पाचक है और नशास्ता और शक्कर और स्नेह को और पोषजनीय पदार्थों को भी घोल कर दूध सा कर लेता है और शरीर में आत्मसात् करने के लिए तय्यार कर देता है। पक्वाशय और क्लोम के रसो में बड़े तेज खमीर होते हैं जिन्हें "उत्प्रेरक" कहते हैं। इन के मौजूद रहने से ही रासायनिक क्रियाएं हो जाती हैं। स्वय इन के खर्च होने की जरूरत नहीं पड़ती। एक खमीर तो मंड या नशास्ता और शक्कर को पचाता है दूसरा चर्बी को पचा डालता है, तीसरा प्रत्यमीनो को।

आमाशयिक अन्नरस धीरे-धीरे आंत में आगे बढ़ता है। उस की भी तो मासपेशिया हैं जो सिकुड़ती हैं और अन्न को आगे बढ़ाती हैं। एक सेकड में एक इञ्च के लगभग अन्न आगे बढ़ता है। अंत्र की भीतरी दीवारो में न केवल ग्रंथिया हैं बल्कि रोएं की तरह निकली हुई सूक्ष्म अगुलिया हैं जो दीवार को मखमल का-सा रूप दे देती हैं और जगह जगह आंतें सिकुड़ी हुई हैं जिस में उगलियों को अधिक विस्तार मिले और यह अगणित अगुलिया अन्नरस में डूब कर पोषक पदार्थ को सोख सकें। सोखने के लिए सब मिलाकर लगभग सोलह वर्गफुट धरातल छोटी आंतो में मिलता है और इसी जगह से रक्त में या लसीका में पोषक पदार्थ जा मिलता है। बाकी बचा हुआ पदार्थ बड़ी आंतो मे चला जाता है। यह बड़ी आंतें निचले भाग में बहुत चौड़ी होती हैं।

बड़ी और छोटी आंतो के ठीक मेल की जगह पर केंचुए की शकल की अंधात्र बाहर को निकली हुई होती है। बाहर की ओर की राह बंद है और भीतर की ओर आंतों की तरफ का रास्ता बहुत तग है। कभी-कभी बीज आदि कोई कड़ी चीज़ उस में जाकर अटक जाती है और प्रदाह पैदा करती है। खरहा आदि जानवरो मे यह अंधात्र बहुत बड़ी होती है और इस में छिद्रोजो को तोड़कर घुलाने के लिए कीटाणु भरे रहते हैं। शाकाहारी पशु बहुत ही मोटे छिद्रोजवाले खाने खाता है इसलिए उसे इस की बड़ी ज़रूरत है। आमाशय के अम्ल रसों से छिद्रोज नहीं घुलता। मनुष्य में यह काम बड़ी आंतों में खरबों और नीलो कीटाणु मिलकर करते हैं। आदिम मनुष्य शायद बहुत कड़ी चीज़ें खाता रहा होगा। तब उस की अंधात्र बड़ी रही होगी। ज्यों-ज्यों वह कोमल पदार्थ खाने का अभ्यासी होता गया त्यों-त्यो अंधात्र घटती गयी। बड़ी आंतों में जो कीटाणु हैं वही अंधात्र में भी होते थे।
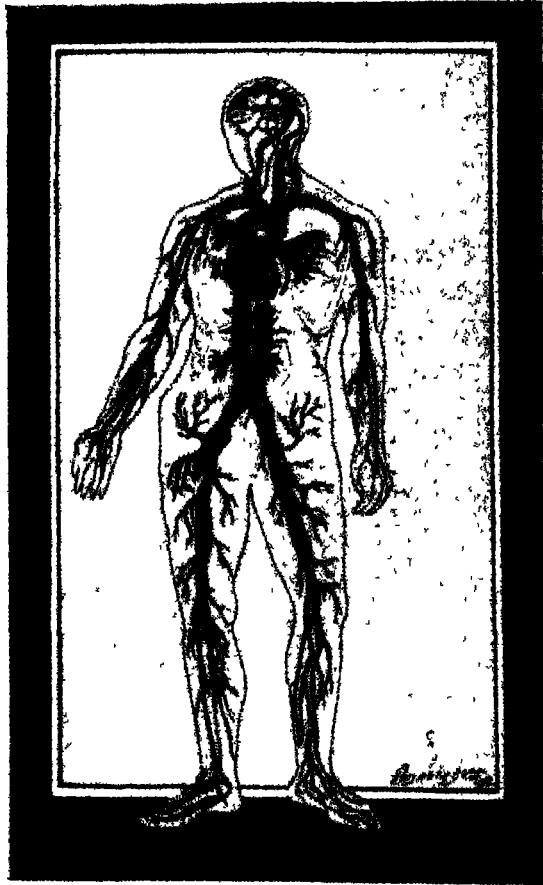
चित्र १०८—रक्त-संस्थान। धमनियां लाल और शिराएं नीली दिखायी गयी हैं।

यह शरीर के लिए उपयोगी होते हैं। सभी कीटाणु रोग नहीं पैदा करते। कुछ ही कीटाणु हैं जो रक्त में विष फैलाते हैं और प्राणी को रोगी कर देते हैं।

५—रक्त-संस्थान का डाक-विभाग

रक्त को यदि हम प्राणरस कहें तो अनुचित न होगा। इस का चक्कर ऐड़ी से लेकर चोटी तक सारे शरीर में लगता है। हम ने देखा कि हमारे रसोई घर में किस तरह अन्न पकाकर तैयार किया जाता है। परन्तु साथ-ही-साथ अन्न ज्यों-ज्यों तैयार होता है त्यों-त्यों शरीर का डाक-विभाग आवश्यकतानुसार सभी अंगों को अन्न पहुँचाता रहता है। शरीर की खूनी डाक रग-रग में पहुँच कर हर एक सेल को भोजन पहुँचाती है। यह साधारण चीज़ नहीं है। सूई चुभोकर ज़रा-सा अँगुली का रक्त निकाल कर अनुवीक्षण यंत्र में देखा जाय तो
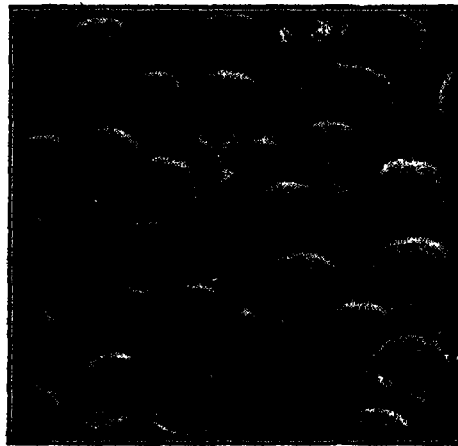
चित्र १०१—रक्ताणु

अनगिनितियों छोटी-छोटी टिकिया पैसों की गड्डियों की तरह जल सरीखे पीले द्रव में देख पड़ती हैं। यह द्रव शरीर का भोजन है और घुले हुए कूड़ा करकट को बाहर निकालने का भी साधन है। लाल टिकिया रक्ताणु हैं। ये फेफड़ों से ओषजन को लेकर शरीर के विविध अवयवों के पास पहुँचाते हैं। इन्हीं के कारण खून का रंग लाल होता है। रक्ताणुओं की सुर्ख़ी का कारण लोहा है और यद्यपि रक्ताणु के एक-एक अणु में लगभग दो हज़ार परमाणु के लोहा है तो भी खून में लोहे की इतनी सूक्ष्म मात्रा है कि लोहेवाली ओषधियों की वह मात्रा जो हम खाते हैं उस की तुलना में लोहे की पहाड़ी सी हैं। इसलिए वह रक्ताणुओं से मिल नहीं पाती। उन्हें खाकर हम उस की मात्रा को बढ़ा नहीं सकते। रक्त का लोहा जिस सूक्ष्मता की अवस्था में है उस अवस्था में पहुँचाना असाधारण रीति से ही हो सकता है।

जिस पीले द्रव में यह लाल रक्ताणु तैर रहे हैं वह और प्राणियों के रक्ताणुओं को जो मनुष्य से भिन्न हैं नष्ट कर डालता है। मनुष्य के रक्तरस में बनमानुसों के रक्ताणु या बनमानुसों के रक्तरस में मनुष्यों के रक्ताणु अच्छी तरह रह सकते हैं। इस से यह भी पता चलता है कि बनमानुसों से मनुष्यों का रक्त-संबन्ध है।

रक्ताणुओं के सिवाय सफेद रंगवाले श्वेताणु भी हमारे रक्त में होते हैं। यह अत्यन्त सूक्ष्म बे रंग के गोल-गोल अमीबा सरीखे वृद्धि करनेवाले प्राणी हैं। अगर रक्त में कीटाणु आ जायं तो यह तुरत उन्हें घेर लेते हैं और पचा जाते हैं। जैसे रक्ताणु ओषजन को पहुँचानेवाली डाक का काम करते हैं वैसे ही श्वेताणु रक्त में पुलिस का काम करते हैं और चोर डाकुओं से रक्षा करते हैं। कीटाणुओं की संख्या बड़ी तेजी से बढ़ती है और कभी-कभी श्वेताणुओं को घोर युद्ध करना पड़ता है। इसी से रक्त का तापक्रम बढ़ जाता है। यदि श्वेताणुओं की जीत होती है तो रोग मिट जाता है। हार हुई तो दशा भयानक हो जाती है। कीटाणु विष उपजा कर रक्त को दूषित करते हैं परन्तु रक्त प्रतिविष उपजा कर विष को मार देता है। हाल में मरे हुए कीटाणुओं से ओप्सोनिन नाम की एक प्रकार की चटनी बनायी गयी है जिस से जीवित कीटाणु श्वेताणुओं को बहुत स्वादिष्ट लगते हैं। और वह अधिक उत्साह से कीटाणुओं को खाते हैं। इस अद्भुत क्रिया द्वारा शत्रुओं से शरीर की रक्षा की जाती है।

अब यह देखना चाहिए कि यह खूनी डाक शरीर के अंग-अंग में किस तरह पहुँचायी जाती है। इस के चक्कर का केन्द्र-कार्यालय हृदय है जो कि छाती के बीच से कुछ बायीं ओर नीचे की तरफ बराबर धड़कता रहता है। उस में से एक बड़ी नलिका निकलती है जिसे धमनी कहते हैं। जैसे पेड़ के तने में से कई बड़ी शाखाएं होकर भिन्न दिशाओं में जाती हैं और मोटी शाखाओं में से पतली शाखाएं और फिर टहनियां निकल कर बहुत बारीक रूप में फैल जाती हैं, उसी तरह इस धमनी में से भी पहले बड़ी फिर छोटी फिर उस से भी छोटी, होते-होते बाल से भी बारीक धमनी की शाखाएं निकलती हैं। इन सूक्ष्म नलिकाओं से जिन्हें धमनी की "केशिका" कहते हैं, शुद्ध रक्त शरीर के कोने-अंतरे तक पहुँच जाता है। दांत और हड्डियां तक बाकी नहीं बचतीं। हड्डियों से और दांतों से और शरीर के हर भाग से जहां जहां केशिकाएं गयी हुई हैं रक्त पहुँचकर लौटता है। परंतु उसी मार्ग से नहीं लौटता। धमनी केशिकाओं से एक और तरह की केशिकाएं मिली हुई हैं। जिन्हें "शिराकेशिका" कहते हैं। इन्हीं की राह रक्त का प्रवाह अब बदलकर केन्द्र कार्यालय अर्थात् हृदय की ओर जाता है। इन केशिकाओं का संबंध बढ़ती हुई मोटाई की शिराओं से होता है जो धीरे-धीरे हृदय तक पहुँचते-पहुँचते धमनी की सी बड़ी शाखाएं हो जाती हैं। धमनी के द्वारा शुद्ध रक्त सारे शरीर में पहुँचता है और शिराओं के द्वारा गन्दा खून सारे शरीर से बटोरकर हृदय की ओर लाया जाता है। हृदय का केंद्र कार्यालय मानों एक दफ्तर है जहां शरीर की म्युनिसिपैलिटी का दोनों काम होता है, शुद्ध जल का पंप द्वारा शहर भर में पहुँचाना और गंदे जल के परनालों को पंप कर के एक जगह पर लाना। म्युनिसिपैलिटी गंदे जल को या मैले को बहा देती है या खाद के काम में लाती

है परन्तु शरीर गंदे रक्त को शुद्ध कर लेता है और उस में आवश्यक पदार्थ मिलाकर फिर शरीर में भेजता है।
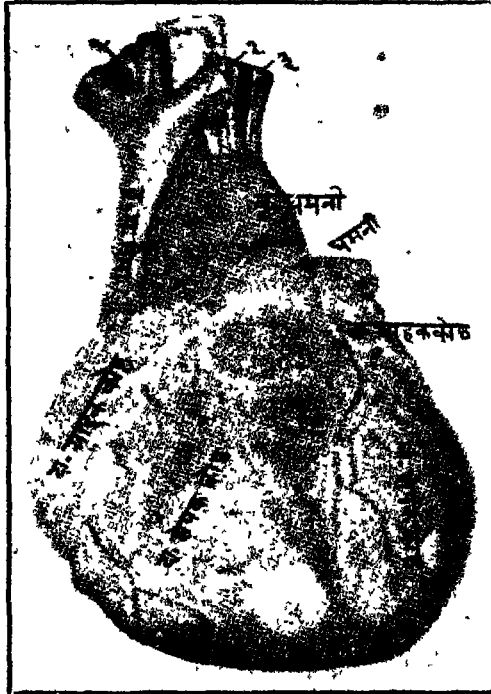
चित्र ११० —मानव हृदय

ग्रन्थकार की कृपा से] [हमारे शरीर की रचना से

६—हृदय का पंप-घर

मानव हृदय में चार कोठे हैं। दो कोठों में रक्त आता है, दो से निकाला जाता है, जो क्रम से ग्राहक और क्षेपक कोष्ठ कहलाते हैं। दहना ग्राहक कोष्ठ शरीर से, दो ऊपर की शिराओं से और एक नीचे की शिरा से, गंदा खून पाता है। यह रक्त दहने क्षेपक कोष्ठ में से गुजरता है और फुफ्फुस धमनियों की राह से फेफड़ों में फेंका जाता है। फेफड़े में शुद्ध होकर रक्त फिर फुफ्फुसीय शिराओं के द्वारा बायें ग्राहक कोष्ठ की ओर लौटता है।

बायें ग्राहक कोष्ठ से रक्त बायें क्षेपक कोष्ठ में गुजरता है जहां से नियमित अर्ध

चन्द्राकार कपाटमय नलिका द्वारा शरीर में भेजा जाता है। इस अर्धचन्द्र से पहली धमनी तो बाहु और सिर को अपनी दो शाखाएं भेजती है, दूसरी धमनी और तीसरी भी सिर और बाहु को जाती है। यह पीछे की ओर मुड़ कर घूमती हुई पीछे की बृहत् धमनी बनाती है जो पीछे के समस्त शरीर को रक्त पहुंचाती है।

शरीर के इस पंप वाले कार्यालय में यह विशेष प्रबंध है कि साफ और गंदा खून मिलने नहीं पाता। मानव हृदय के दो बिल्कुल अलग-अलग विभाग हैं। अधिकांश उरगों में यह विभाग बहुत कम अलग हैं और मिला जुला खून भी शरीर में फैल जाता है। परंतु पशुओं और पक्षियों में दोनों विभाग बिल्कुल अलग-अलग हैं।

हृदय एक मोटी मांसपेशी की थैली है जिस की दीवारें मनुष्य के शरीर में अधिक-से अधिक मोटाई की जगह में आधे इंच के लगभग होती हैं। इस को एक ओर से तो शुद्ध होने के लिए फेफड़ों में रक्त उलीचना पड़ता है और दूसरी ओर शरीर के अवयवों में रक्त ढकेलना पड़ता है। इसीलिए इस के दो भाग हैं। प्रत्येक आधे में एक छोटी सी कोठरी रक्त के लेने के लिये रहती है जिसे हम ग्राहक कोष्ठ कह आये हैं। इसी के ऊपर एक बड़ा घर होता है जो ऊपर की ओर फेफड़ों में खून को उछाल देता है। हर सूराख पर इस तरह के ढकने लगे हुए हैं कि एक तरफ को खुलते हैं पर दूसरी तरफ को बंद हो जाते हैं जिस में रक्त का बहाव एक ही ओर को रहे।

हृदय का यंत्र ऐसा अद्भुत है कि वैज्ञानिकों को यह अब तक पता नहीं लगा है कि किस तरह पर उस के धड़कने को नियमित रक्खा जा सकता है। प्रौढ़ स्वस्थ और आराम करते हुए मनुष्य का रक्त हर मिनिट में बहत्तर बार हृदय द्वारा उछाला जाता है। इस छोटे से यंत्र में दस बीस हजार बहुत सूक्ष्म मांसपेशियां हैं जो बड़ी चतुराई से इस की भीतों में लगी हुई हैं जिन के सहारे यह कोष्ठ हर तरफ से इतनी जल्दी-जल्दी मुट्ठी की तरह बंधते रहते हैं जिस से कि खून को वह उछाल मिलता है कि चक्कर लगाकर फिर उसी जगह तक पहुंच जाता है। ऐसा भी कोई न समझे कि हृदय कभी आराम नहीं करता है। वह तो हर धड़कन के बाद सुस्ता लेता है। और हर बार सुस्ताकर फिर काम करता है। अचरज की बात तो यह है कि तुम ने उठकर काम करने का इरादा किया और हृदय महाराज ने यह समझकर कि और अंगों को अब ज्यादः खून चाहिए तेजी से काम करना शुरू कर दिया। जब हम बैठे रहते हैं तब हर मिनिट में उन्नीस-बीस छटांक खून उछाला जाता है। जब हम तेज चलते होते हैं तब एक मिनट में छः सेर से ज्यादः खून हृदय ढकेला करता है। जो आदमी सीढ़ियों पर दौड़ता हुआ चढ़ता है वह अपने हृदय से एक मिनिट में लगभग चौदह सेर खून उछालने को लाचार करता है। बांया क्षेपक कोष्ठ हृदय का खास पंप है। इसी में से होकर रक्त एक बड़ी नलिका में ढकेला जाता है जिसे महाधमनी या बृहत्धमनी कहते हैं। जब रक्त इस के भीतर घुसता है तब इस की लचीली दीवारें फैल जाती हैं और जब रक्त घुस जाता है तो धीरे-धीरे सिकुड़ जाती हैं जिस से कि रक्त को आगे बढ़ना पड़ता है। इस

तरह धमनियो के बराबर झोंका सहते-सहते धक्के के बल से हृदय से जो खून रुक-रुक आता है धीरे-धीरे अनवरत धारा की तरह बहने लगता है। धमनियो की शाखाए हर एक दिशा मे फैली हुई हैं जिस में हर एक अवयव को भोजन
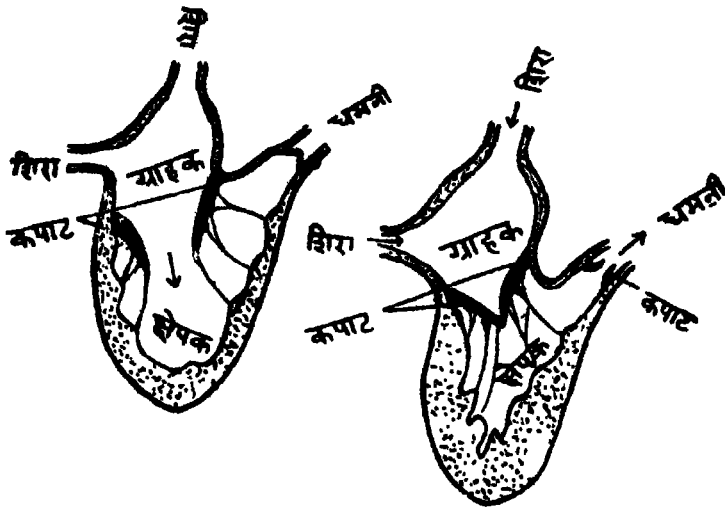
चित्र १११— हृदय के दाहिने भाग के कपाट

अन्धकार की कृपा] [हमारे शरीर की रचना से

(१) ग्राहक कोष्ठ सिकुड़ कर रक्त को क्षेपक कोष्ठ मे ढकेल रहा है। ग्राहक और क्षेपक कोष्ठों के बीच के किवाड़ खुले हुए हैं।

(२) क्षेपक कोष्ठ सिकुड़ रहा है। किवाड़ जो पहले खुले थे अब बंद हो गये हैं। ग्राहक कोष्ठ में रक्त शिरा से आ रहा है। क्षेपक कोष्ठ से रक्त निकलकर फुफ्फुसीय धमनी में जा रहा है।

पहुँच सके। जब अवयवों तक शाखाएं पहुँचती हैं, अत्यन्त बारीक हो जाती हैं और असख्य हो जाती हैं। यह केशिकाएं हैं। तीन हजार केशिकाए एक पाती में समानान्तर रख दी जाय तो एक इंच से ज्यादः न होंगी। इन रक्तवाहिनियों की भीत इतनी सूक्ष्म होती है कि रक्त का पोषक पदार्थ इन्हीं भीतों से छनकर अवयवों या तंतुओं में पहुँच जाता है। साथ ही तंतुओं के मल इन्हीं भीतों से छनकर रक्त में आ जाते हैं। यह भी एक विकट क्रिया है। वस्तुतः होता यह है कि प्रत्येक तंतु की प्रत्येक सेल अपने-अपने लिए उपयुक्त अन्न और ओषजन रक्त से ले लेती है और ओषजन किसी विकट रासायनिक

क्रिया मे कर्बन से मिलकर कर्बन-द्वयोषिद बनाता है। यह कर्बन-द्वयोषिद मल है जो फिर पास ही की केशिकाओं की भीत में से घुसकर रक्त मे मिल जाता है। इस के मिलने से रक्त में नीलिमा आ जाती है।
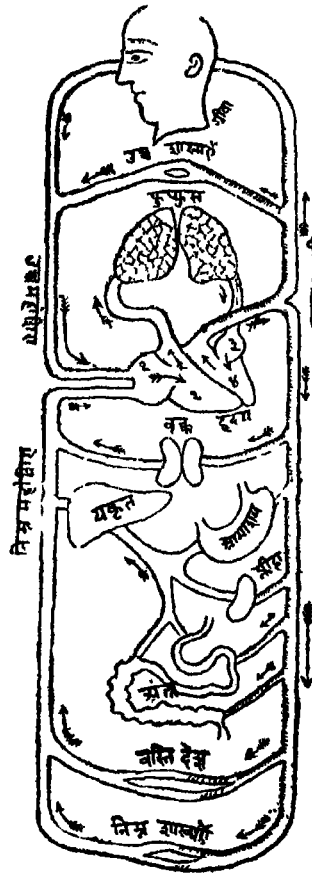
चित्र ११२—रक्त-संचारण-चक्र

हमारे शरीर की रचना से] [ग्रन्थकार की कृपा

हृदय एक मिनिट में औसत ७२ बार धड़कता है। अर्थात् उस की भीतें सिकुड़ती हैं। हृदय के दो भाग हैं। हर भाग में एक ग्राहक और एक क्षेपक यह दो कोष्ठ हैं। दोनों भागों में कोई सीधी राह नहीं है। दहने भाग से फेफड़ों में बारीक केशिकाओं द्वारा रक्त

जाता है और वहां शुद्ध होता है। फिर फेफड़े से बायें भाग में रक्त आता है और बांये क्षेपक कोष्ठ से बड़ी धमनियों से होकर सारे शरीर में चक्कर लगाता है। धमनियों की अनंत शाखाएं प्रशाखाएं फूटते-फूटते बाल से भी बारीक नालियां हो जाती हैं। शरीर का कोना-कोना चप्पा-चप्पा रक्त से सिंचता है। फिर इसी क्रिया में रक्त गंदा भी होता है। उस में से भोग योग्य पदार्थ शरीर ले लेता है, मल और विष रक्त के हवाले कर देता है। फिर यह गंदा रक्त शिराकी केशिकाओं में होकर धीरे-धीरे बड़ी-से-बड़ी शाखाओं में से चलकर बृहत् शिराओं या महाशिराओं के द्वारा फिर शुद्ध होने के लिए हृदय के मार्ग से फेफड़े में जाता है। यह चक्र निरंतर तब तक चलता रहता है जब तक मनुष्य जीता है।

उस स्थान पर जहां धमनी की अनंत सूक्ष्म शाखाएं अर्थात् केशिकाएं बनती हैं एक तरह का पेंच लगा रहता है जो रक्त को नियमित रूप से आने देता है। धमनी के चारों ओर मांसपेशी के रेशे लिपटे रहते हैं। इन्हीं के बल से धमनी फैलती सिकुड़ती रहती है और किसी विशेष तंतु को रक्त का मिलना कम या अधिक हो सकता है। आदमी जब खाने बैठता है तो यह पेंच पाचक अंगों की ओर पूरा खुल जाता है और मांसपेशियों और मस्तिष्क की ओर कुछ थोड़ा बंद होता जाता है। जब हम खड़े होते हैं या कमरे में से चलने लगते हैं तो विविध मांसपेशियों को काम करना पड़ता है। इसलिए उन की ओर पेंच खुल जाते हैं। जब मांसपेशियों को सारा रक्त मिलने लगता है तब दिमाग और पाचक अंगों को कम मिलता है। कुछ देर खड़े रहने से रक्त-संस्थान को यह देखना पड़ता है कि सिर से हटकर पांवों में रक्त इकट्ठा न हो जाय लेकिन जब बहुत देर तक खड़ा रहना पड़ता है तब इस बंदोबस्त में त्रुटि आने लगती है। दिमाग को खून कम मिलता है। चक्कर या बेहोशी आने लगती है। कमजोरी मालूम होती है।

धमनियों के मांसपेशियों से सुषुम्ना नाड़ी तक असंख्य नाड़ियां गयी हुई हैं। यह पेंच सुषुम्ना नाड़ी से चलनेवाली नाड़ियों के द्वारा खबर पाकर खुलता है और बंद होता है। परन्तु वैज्ञानिक यह नहीं कह सकता कि मनुष्य-शरीर-रूपी यंत्र के ये जड़ अंग ऐसी पूर्णता से किस प्रकार व्यवहार करते हैं। जिन हारमोनों की चर्चा कर चुके हैं वह प्रणाली रहित ग्रंथियों में बनते हैं और खून की डाक द्वारा किसी दूर के अंग को भेज दिये जाते हैं। इन्हीं में से एक हारमोन रक्त के संबंध में भी काम करता है। जब आदमी देर तक मेहनत का काम करने के लिए तैयार होता है तो उसी समय नाड़ी के समाचार वृक्कों के पासवाली उन ग्रंथियों को उत्तेजित करते हैं जिन्हें "उपवृक्क" कहते हैं। इन ग्रंथियों से [अड्रीनालिन] अद्रेनलिन या उपवृक्किन नाम का रासायनिक पदार्थ बनकर रक्त में पहुँचता है। यह एक हार्मोन है जो रक्त के साथ चक्कर लगाकर जब छोटी धमनियों तक पहुँचता है तब पेंचों को बंद कर देता है और जिन अंगों को उस समय काम नहीं करना है उन की तरफ खून जाना बंद कर देता है। इस तरह जिन अंगों को कड़ी मेहनत करनी है सारा खून उन्हीं की तरफ जाने लगता है।

जब खून तंतुओं में से होकर चलता है, भोजन पदार्थ दे डालता है, और मल

रूप कर्बन-द्वयोषिद् और घुलनशील नाषजनीय कूड़ा ले लेता है, तब हृदय की ओर लौटता है। यह नयी केशिकाओं में प्रवेश करता है और इन केशिकाओं की अनंत धाराएं शिराओं में मिल जाती हैं। शिराओं की दीवारें धमनियों की भीतों से पतली होती हैं क्योंकि अब दबाव कम है। परन्तु जगह-जगह बड़े विचित्र ढकने लगे हुए हैं। इन के कारण रक्त लौट कर उलटे नहीं चल सकता। अपनी बाँह की नील शिराओं से अपनी अंगुलियों तक अगर कोई नीले रक्त को भेजना चाहे तो देख सकता है कि जगह-जगह मार्ग में रुकावट डालनेवाली गाँठें खड़ी हो जाती हैं। इस तरह दूषित श्याम रक्त बराबर बहकर हृदय के जिस ओर से चला था उस की दूसरी ओर लौटकर दहने ग्राहक कोष्ठ में आता है और उसी ओर के क्षेपक कोष्ठ में पहुंचता है। यहां से धड़कन द्वारा फुफ्फुसों में जाकर अपना सारा मल छोड़ देता है और ओषजन लेकर फिर शुद्ध लाल रंग का हो जाता है। फिर यहीं बायें ग्राहक कोष्ठ में आकर बायें क्षेपक कोष्ठ में से धमनियों में धकेला जाता है। शरीर के लिए इस प्राण रस का निरंतर इसी तरह चक्कर लगता रहता है।

— —

तेरहवां अध्याय

मनुष्य का प्राणमय कोष

(१) श्वास-यंत्र

पिछले प्रकरण में हम कह चुके हैं कि दूषित रक्त मल से लदा हुआ हृदय के दहने ग्राहक कोष्ठ से फुफ्फुस में जाता है और वहां मल विसर्जन करके ओषजन चूसकर शुद्ध लाल रक्त हो जाता है। तब वह बायें ग्राहक कोष्ठ में होते हुए क्षेपक कोष्ठ में बृहत् धमनी में धकेला जाता है। फुफ्फुस में रक्त का सब से बड़े महत्व का काम होता है। शरीर के भीतर रक्त के शोधन के लिए दो यंत्र बड़े महत्व के हैं। एक तो फुफ्फुस और दूसरे वृक्क। फुफ्फुस में कर्बन-द्वयोषिद का विसर्जन होता है और वृक्कों में नोषजनीय घुलनशील मलों का। शरीर को यदि हम भापवाले यंत्र के समान समझें तो अनुचित न होगा। भापवाले यंत्र में जैसे ईंधन देना पड़ता है उसी तरह पेट में भोजन पहुंचाना पड़ता है। अंजन में जैसे हवा धौंकने की ज़रूरत होती है वैसे ही फुफ्फुस की धौंकनी से बराबर भीतर को सांस जाती रहती है। भीतर जब ईंधन चलता है अर्थात् जठराग्नि से जब अन्न पचता है तब उस से गर्मी पैदा होती है और प्राणी का काम उसी से चलता है।

हवा नथुनों की राह से प्रवेश करती है। मुंह से सांस कभी न लेना चाहिए। नाक में प्रकृति ने जो प्रबंध रक्खे हैं मुंह में नहीं है। इसलिए मुंह से सांस लेना भयानक है। नाक के अंदर वायु को गरमाने का प्रबंध है क्योंकि रक्त-वाहिनियां भरी हुई रहती हैं और जाड़ों में इस का बंदोबस्त अधिक रहता है। नाक के बाल सांस को छानकर भेजते हैं। हवा में रहनेवाली विजातीय वस्तुएं बालों में रुक जाती हैं। सूखी हवा नथुनों में जाकर नम हो जाती है। नाक में श्लेष्मा की झिल्ली होती है जो बड़े काम की चीज़ है। नम, कसे हुए और बे-हवावाले कमरों में रहने से यह झिल्ली रक्त और श्लेष्मा से कम उठती है। और आदमी को सर्दी हो जाती है। हवा नाक के भीतर से चलकर जिह्वामूल के पीछे की हवा की नाली से चलकर अन्नमार्ग को पारकर के श्वासमार्ग पर आती है जहां उसे

अपने से खुलने और बंद होनेवाला द्वार मिलता है। इस के पीछे स्वररज्जु हैं जो बोलने में काम आते हैं। इस के आगे हवा की नली की दो शाखाएं हो जाती हैं जिन्हें वायु नलिकाएं कहते हैं। एक-एक शाखा एक-एक फेफड़े को जाती है। जो कीटाणु नाक के चौकी-पहरे से बचकर यहां तक आ गये हैं या जो गर्द-गुबार इस तरह से आ गया है उस को

चित्र ११३—फुप्फुस

रोकने का यहां बढ़िया बन्दोबस्त है। इन नलियों में कफ की एक तह जमी हुई है जिस में कीटाणु फंस जाते हैं और अनंत सूक्ष्म बरौनियों के से रेशे हैं जो बड़े क्रम से बराबर उठते-बैठते रहते हैं और द्वार की ओर बराबर इन की क्रिया जारी रहती है जिस से आनेवाला धीरे-धीरे बाहर की ओर ही धकेल दिया जाता है। यदि कुछ जोखिमवाले कीटाणु उन पर बैठ भी जायें तो ग्रंथियों में से बहुत सा कफ आकर उन्हें घेर लेता है और समय-समय पर सर्दी और खांसी के रूप में उनको फेफड़ा निकाल बाहर करता है।

श्वास मार्ग जब फेफड़ों की ओर जाता है तो उस की प्रधानतः दो शाखाएं हो जाती है और हर एक शाखा की छोटी-छोटी उपशाखाए और हर उपशाखा में केशिकाओं की बहुत सूक्ष्म नलिकाए निकल कर दोनों फुफ्फुसों में फैली हुई रहती हैं। हर बारीक नलिका के अन्त में बहुत सूक्ष्म वायु-मंदिर बीसों की सख्या मे होते हैं। दोनों फेफड़ों में यह वायु-मदिर साठ लाख के लगभग होते हैं। लबाई मे यह बराबर रक्खे जायँ तो एक इच मे दस वायु मदिर आ जायँगे और अगर हर एक वायु मंदिर को खोल कर फैलाया जाय और एक साथ सब जोड़ दिए जायँ तो हमारी खाल की ऊपरी सतह सारे शरीर मे जितनी है उसकी सौगुनी सतह इन वायु-मदिरों की हो जायगी। इस अद्भुत यत्र में साँस मे खींची हुई हवा हमारे शरीर के सौगुने तल पर लगती है और काम करती है। और सीधे रक्त मे मिल जाती है। यह क्रिया एक मिनट मे पदरह बीस बार होती है। जब हम गहरी साम लेते हैं तब लगभग एक-एक गिलन हवा बाहर से खींच लेते हैं और मामूली साम मे लगभग आधे गिलन के खींचते हैं। इस तरह आदमी मामूली साम लेते हुए एक मिनिट मे आठ दस गिलन हवा अपने शरीर के भीतर ले जाता है। हवा प्राण है। सारे शरीर के रक्त को यही साफ करती है। गहरी साँस लेने से रक्त की इतनी सफाई होती है। इसी लिए नाक से गहरी साँस लेते रहने की आदत डालना स्वास्थ्य के लिए बहुत हितकर है और जहाँ कहीं आदमी रहते हों वहाँ उन की साँस के लिए काफी हवा आने का पूरा बन्दोबस्त रहना भी ज़रूरी है।

यह साँस की मशीन हमारे जागते सोते सभी दशाओं में चलती रहती है। हम जब तक जीते रहते हैं तब तक फेफड़ों की धौंकनी बराबर बिना रुके चलती ही रहती है। इन के चलाते रहने के लिए नाड़ीजाल के तार उसी तरह लगे रहते हैं जिस तरह बिजली के पखों के लिए तार लगे रहते हैं। मस्तिष्क के सब से निचले भाग को सुषुम्ना शीर्षक कहते है। यह सुषुम्ना नाड़ी का एक चक्र है। यह चक्र रक्त में इकट्ठे होनेवाले कर्बन-द्वयोषिद से बराबर उत्तेजित होता रहता है। इसी लिए यह अपने-आप पसुलियों और वक्षोदर-मध्यस्थ पेशी के पास बराबर समाचार भेजता रहता है। इसी तरह के समाचार से जब-जब हम साँस भीतर ले जाते हैं तब-तब बाहर जोड़ी मांसपेशियाँ एक साथ मिलकर छाती को फैलाती हैं और दूसरी मासपेशियां थैले को सिकुड़ा देती हैं और कर्बन-द्वयोषिद से भरी हवा को बाहर निकाल देती हैं। यह महत्व का काम जल्दी-जल्दी होता रहता है। हम जब साँस बाहर निकालते हैं तो सारी हवा बाहर नहीं निकल जाती। केवल पचमांश निकलती है। अगर हम बलपूर्वक फेफड़े को खाली करना चाहें तो नहीं कर सकते, क्योंकि वायु-मदिरों का मुँह अपने-आप बद हो जाता है। बाहरी और भीतरी हवा की अदला-बदली बराबर जारी रहती है। जब हम मासपेशियों से कड़ी मेहनत लेते रहते हैं तब कर्बन-द्वयोषिद की मात्रा रक्त में अधिक होती जाती है, जिस से सुषुम्ना नाड़ी को अधिक उत्तेजना मिलती है और फेफड़ों की मासपेशियों के पास तारों का ताँता बँध जाता है और हम साँस लेने के लिए हाँफने लगते हैं। इसी के विपरीत जो लोग मासपेशियों से बहुत कम मेहनत लेते हैं या जिन्हें बैठे-बैठे काम करना पड़ता है वह फेफड़ों से केवल दश-

दशमांश काम लेने के आदी हो जाते हैं। ऐसे लोग पीले पड़ जाते हैं। उन के शरीर में रक्ताणु घट जाते हैं। उन के लिए खुली हवा में व्यायाम और टहलना इसी लिए बहुत जरूरी है।

वायु मंदिरों की भीत अत्यंत सूक्ष्म होती है। यह प्रायः उतनी ही पतली होती है जितनी कि साबुन के बुलबुलों की दीवारें होती हैं। इन वायु-मंदिरों के बाहर उतनी ही सूक्ष्म भीतोंवाली रक्तवाहिनी केशिकाएं होती हैं। यह वायु-मंदिरों से सटी हुई अनगिनत संख्या में होती हैं। इन्हीं भीतों में से होकर नन्हे नन्हे रक्ताणु अपने कर्बन-द्वयोषिद वायु मन्दिरों में डाल देते हैं। यह क्रिया वायु के गौंजने के अद्भुत नियम से होती है। हल्की वायु भारी वायु से जल्दी गौंजती है। कर्बन द्वयोषिद ओषजन की अपेक्षा अधिक भारी वायु है। परन्तु केवल गौंजने से यह क्रिया पूरी नहीं हो सकती। रक्ताणुओं में विसर्जन और आकर्षण की विशेष शक्ति होती है। फेफड़े में वायु मंदिर और रक्तवाहिनियां दोनों साथ साथ काम करते हैं। यह रक्तवाहिनियां हृदय के दहिने भाग से फेफड़े में आती हैं और फेफड़े की धमनियाँ कहलाती हैं।

यह कर्बनद्वयोषिद से लदी हुई आती हैं। जब फेफड़े में कर्बन-द्वयोषिद देकर ओषजन से लद जाती हैं तो फिर लाल रंग की होकर हृदय के बायें भाग में प्रवेश करती हैं। इन्हें फेफड़ों की शिराएं कहते हैं। अब यह शुद्ध रक्त है जो धमनी के मार्ग से शरीरभर में फिर चक्कर लगाता है और ओषजन का पार्सल सब जगह पहुँचाने के लिए डाक-विभाग का काम करता है। जब यही शुद्ध रक्त भिन्न भिन्न अंगों में केशिकाओं तक पहुँचता है तो वहाँ ओषजन देकर शिरा की केशिकाओं में से कर्बन-द्वयोषिद का नया बोझा लादते हुए हृदय की दहिनी ओर फिर लौट आता है। इस तरह रक्त-सञ्चरण का यह अद्भुत चक्र सारे जीवन में निरंतर चलता रहता है।

सारे शरीर में रक्त के इस निरंतर चक्र के चलते रहने की आवश्यकताओं में से ओषजन और कर्बन द्वयोषिद का वहन एक भारी आवश्यकता है। ओषजन ही प्राण-वायु है। इसी से शरीर में अग्नि बनी रहती है। वायु को अग्नि का सखा कहते हैं। यहाँ यह केवल अग्नि का सखा नहीं है वह अग्नि को जन्माता है और उस का बराबर पोषण करता रहता है। सारे शरीर में यह प्राण-वायु का चक्र बराबर चलता रहता है। इसी से अन्न पचता है, शरीर को बल मिलता है, और जीवन की सारी क्रियाएं बराबर चलती रहती हैं। थोड़ी देर के लिए ओषजन न मिले और कर्बन-द्वयोषिद का विसर्जन न हो तो सारा शरीर काला पड़ जाय, जीवन की सब क्रियाएं रुक जायँ, फुफ्फुस की धौंकनी थककर रुक जाय और हृदय के पंप का चलना बंद हो जाय और शरीरान्त हो जाय। जैसे हम रक्त को प्राणरस कहते हैं उसी तरह शरीर में काम करनेवाली वायु को प्राण-वायु कहते हैं। जहां तक शरीर की क्रिया अन्न के पचाने और मल के विसर्जन में लगी हुई है वहाँ तक शरीर के संपूर्ण संगठन को हम अन्न-मय कोष कहते हैं। इस में पाचन-संस्थान और रक्त संस्थान दोनों शामिल हैं। जहाँ तक शरीर में वायु के संचरण की क्रियाएं

होती रहती हैं जिन से कि पाचन आदि सभी क्रियाएं सहायता पाती हैं, वहां तक शरीर के संगठन को हम प्राणमय-कोष कहते हैं। प्राणमय-कोष के अंतर्गत शरीर का अग्नि का संस्थान, रक्त संस्थान और समस्त नाड़ी-मंडल सम्मिलित है।

हमारे शरीर में एक विशेष तापक्रम की गर्मी निरंतर बनी रहती है। इस गर्मी का कारण यह है कि शरीर के भीतर हम जो कुछ भोजन ले जाते हैं उस की आक्सिजन के साथ रासायनिक क्रिया होती है। उस से अन्नरस बनकर शरीर की सातों धातुएं बनती रहती हैं। इस रासायनिक क्रिया से अन्न के अवयवों में से छिपी हुई शक्ति ताप या अग्नि के रूप में बराबर निकलती रहती है। इसी रासायनिक क्रिया से एक ओर तो काम की चीजें शरीर में आत्मसात् कर ली जाती हैं और दूसरी ओर बेकार चीज़ें निकालकर बाहर कर दी जाती हैं। इस अद्भुत यंत्र में शरीर की इस अद्भुत रासायनिक क्रिया का सामञ्जस्य निरंतर ऐसा बना रहता है कि शरीर का तापक्रम ९८.४ फ़ारनहाइट की गर्मी स्थिर रहती है। इस तापक्रम में गर्मी ज़रा भी कम या अधिक हुई तो मनुष्य रोगी समझा जाता है। विज्ञान की प्रयोगशालाओं में बहुत उद्योग करने पर भी ऐसी निपुणता से एक तापक्रम पर निरंतर एक ही आंच नहीं रक्खी जा सकती। तापक्रम सौ हो जाय तो हरारत, एक सौ दो हो जाय तो ज्वर, और एक सौ चार हो जाय तो बहुत ज्वर समझा जाता है। एक सौ सात के ऊपर रोगी का बचना असाध्य हो जाता है। अट्ठानवे के नीचे उतरने में "शीत" का भय होता है। पचानवे के नीचे इतना शीत हो जाता है कि शरीर की सब क्रियाएं शिथिल हो जाती हैं और मृत्यु हो जाती है। ज्वर का बढ़ना बतलाता है कि रासायनिक क्रिया बहुत वेग से हो रही है। शीत से प्रकट होता है कि रासायनिक क्रिया शिथिल हो रही है और तापक्रम के घटते जाने से रासायनिक क्रिया का धीरे-धीरे बंद होना प्रकट होता है।

हमारे शरीर पर बाहरी सर्दी गर्मी का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। जब बाहरी हवा बहुत ठंडी हो जाती है तब हम कांपने लगते हैं। यह स्वभाव की ओर से सूचना है कि हम को अपने अंग-अंग को हिलाकर बाहरी शीत का मुकाबिला करने के लिए भीतरी गर्मी पैदा करनी चाहिये। इसीलिए पांव पटकते हैं, हाथ मलते हैं या व्यायाम करने लगते हैं। शारीरिक परिश्रम से इतनी गर्मी पैदा हो जाती है कि आदमी बाहरी शीत का अच्छी तरह मुकाबला करने लग जाता है। इसी के विपरीत जब बाहरी गर्मी बहुत बढ़ जाती है तो हमें शरीर के भीतर की गर्मी को घटाने की ज़रूरत पड़ती है। शीत काल में धमनियों के जो पेच बंद रहा करते हैं वही कड़ी गर्मी पड़ने लगती है तब खुल जाते हैं और रक्त की गर्मी को खाल की राह से निकलने देते हैं। अगर यह क्रिया काफी नहीं होती तो नाड़ी चक्रों से अपने आप खाल की अनंत स्वेद-ग्रंथियों के पास संदेशे जाते हैं और पसीना निकलने लगता है। पसीना को गरम करने के लिए इतनी अधिक गर्मी दरकार होती है कि बाहर की और भीतर की गर्मी का सामंजस्य ठीक बैठ जाता है। हवा सूखी और गरम दोनों हो तो स्वेद की क्रिया से तुरत आराम होता है। परन्तु यदि हवा में नमी भरी हुई है और गर्मी भी है तो पसीना होते हुए भी आराम नहीं मिलता क्योंकि नम हवा पसीने को बहुत कम उड़ाती है। इस का फल

यह हो सकता है कि खून की गर्मी बढ़ जाय और हमारे दिमाग़ पर गर्मी चढ़ जाय। आर्द्र शीत भी अच्छा नहीं होता। हवा में ठंढक और नमी दोनों के होने से हमारी प्राण-शक्ति उस से मुक़ाबला करने में निर्बल हो जाती है और सर्दी के कीटाणुओं को हमारे शरीर पर चढ़ाई करने मौक़ा मिलता है।

जैसे हम फफड़े से साम लेते हैं उसी तरह अपनी खाल से भी साम लेते हैं। हमारी खाल में असंख्य छेद हैं जिन में से पसीना निकलता है। उन्हीं छेदों से बहुत सूक्ष्म रूप में साम लेने की क्रिया भी होती है। इस तरह प्राणमय कोष सारे शरीर में फैला हुआ है। नित्य के स्नान करने में शरीर की खाल को खूब साफ़ करना स्वास्थ्य के लिए इन्हीं कारणों से बहुत ज़रूरी है। इन्हीं बारीक छेदों से बहुत सूक्ष्म रूप में शरीर का मल और विष भी निकलता रहता है। पसीना और पेशाब एक ही तरह का मल है। सफ़ाई के लिए भी खाल का बारबार धोया जाना ज़रूरी है।

(२) औंर और यंत्र

शरीर के भीतर जितने अंग हैं सब का एक दूसरे से बड़ा घना संबंध है। हड्डियां और मांसपेशियां भी अन्नमय और प्राणमय कोषों से संबंध रखती हैं। पोषण और पुनर्जनन शरीर के प्रधान काम हैं। इन कामों में शरीर के सभी अंग किसी-न-किसी रूप में सहायता देते हैं।

शरीर में दो सौ हड्डियां हैं और दो सौ साठ जोड़ी मांसपेशियां हैं। हड्डियों में दांतों और कुर्रियों की गिनती नहीं की जाती। आश्चर्य होता है कि शुक्राणु और डिंब के अत्यंत सूक्ष्म और कोमल संपर्क से हड्डी और दांत जैसे अत्यंत कठोर पदार्थों का विकास कैसे होता है। इस विचित्र बात को समझने के लिये हमें यह याद रखना चाहिए, कि जब भ्रूण के सेलों का विकास होने लगता है तब भिन्न वर्गों में उन का विभाजन भी होने लगता है। मांसपेशियों के सेल, नाड़ियों के सेल, हड्डियों के सेल, ग्रंथियों के सेल, सभी तरह के सेल, अलग-अलग होते हैं। उनकी बनावट भी भिन्न-भिन्न हुआ करती है। हड्डी के सेल पहले शरीर का ढांचा कुर्री या अस्थिकल्प का बनाते हैं। भोजन में से चूनेवाले नमक रक्त में मिल जाते हैं। इसे ही ले लेकर हड्डीवाले सेल हड्डी की रचना करते हैं। तुरत पैदा हुए बच्चे के जघे में हड्डी बनानेवाले सेल बीस लाख के लगभग होते हैं। यह संख्या बढ़ते-बढ़ते बहुत जल्दी पंद्रह करोड़ के लगभग हो जाती है। यही हड्डी को ठोस बनाते हैं और फिर उस के भीतरी भाग को हल्का परन्तु मज़बूत कर देते हैं।

हड्डियों के जोड़ हमारे शरीर में दो-सौ तीस हैं परंतु उन में से किसी में आपस में रगड़ने या एक दूसरे से धक्का खाने की बात देखने में नहीं आती। बात यह है कि हर हड्डी के सिरे पर एक तह उपास्थि की बनी रहती है। यह बहुत घनी और लचीली होती है और उस के चारों ओर चिकनाई चुपड़ी हुई होती है। यह चिकनाई क्या है? यह कुर्री के सेल हैं जो अपना काम कर के मर चुके हैं। उन का शरीर चिकनाई में परिणत हो गया

है। साथ ही रगड़ बचाने के लिए और इधर-उधर घूमने घुमाने का सुभीता करने के लिए जोड़ों पर ठीक हिसाब से बने हुए गड्ढे से बने होते हैं जिसमें जुड़नेवाली हड्डी का गोल सिरा ठीक-ठीक बैठ जाता है।

चित्र ११४—मांसपेशियां।

ग्रंथकार की कृपा] [हमारे शरीर की रचना से

१—शिरचालक
२—द्विशिरस्का
३,४—द्विशिरस्का की स्नायु
५—त्रिशिरस्का
६—स्नायु
७—अंगूठे की पेशियां
८—उरश्छादनी बृहती
९—उरश्छादनी लघ्वी

१०—उदरस्थ तिर्यक् पेशी, बाह्य	१७—ऊरु की सरल पेशी
११—उदरस्थ तिर्यक् पेशी की स्नायु	१८—ऊरु-प्रसारिणी, बाह्य
१२—उदरस्थ तिर्यक् पेशी आभ्यन्तर	१९—ऊरु-प्रसारिणी, अंतःस्थ
१३—उदरस्थ सरल पेशी	२०—ऊरुकी एक पेशी।
१४—छिद्र। शुक्र-प्रणाली इसी में से होकर उदर में जाती है, इसी में से कभी-कभी आंत अंडकोश में उतर आती है।	२१—ऊरु अंतरनायनी।
	२२—पिंडली की मोटी पेशी।
	२३—जंघे की सामने की पेशी।
	२४—स्नायु।
१५—स्नायु	२५—असाच्छादनी
१६—ऊरु की एक पेशी जिस के संकोच से जांघ पर जांघ रखी जा सकती है।	२६—कूर्पर-नमनी
	२८—शिरश्छदापेशी

हड्डियों को इधर उधर चलाने का काम मांसपेशियां करती हैं। यह लाल मांस की बनी हुई होती हैं। मनुष्य की भुजा की द्विशिरस्का पेशियों में एक में छः लाख रेशे या सूत्र होते हैं। हर एक सूत्र अनेक बारीक बारीक रेशों का बना होता है। इन्हीं सूक्ष्म रेशों में खिंचाव का बल हुआ करता है जिस का रहस्य अभी तक विज्ञान बहुत कम समझ सका है। तीन सौ बरस हुए कि साहसी लोगों ने अंगों का विच्छेद करके उन्हें अलग-अलग समझने की कोशिश की फिर प्रत्येक अंग का विच्छेद अवयवों में किया गया। अभी हाल की ही बात है कि इन अवयवों का विच्छेद करके सेलों का पता लगाया गया है। अब हमें मालूम हुआ है कि सेलों का रहस्य उन अणुओं में थोड़ा-बहुत छिपा हुआ है जो प्रत्येक सेल को बनाते हैं। अच्छे-से-अच्छे अनुवीक्षण यंत्र से भी हम इन अणुओं को देख नहीं सकते। विज्ञान की सतत वर्त्तमान गति को देखकर कोई यह नहीं कह सकता है कि कल को अणुओं के देखने का भी साधन न निकल आवेगा और हम उस के रहस्य को जानने के लिए परमाणुओं और विद्युत्कणों तक न जायंगे।

इस में तो तनिक भी संदेह नहीं है कि मांसपेशियां बड़ी अद्भुत जीती जागती यंत्र हैं। हर मांसपेशी के पास धमनियां अन्न और ओषजन की धारा पहुंचाती हैं। मांसपेशियों की सेलें उन में से अपना भोजन चुन लेती हैं और जो कुछ उन्हें नहीं चाहिए उसे छोड़ देती हैं। इस जठन या कूड़ा-करकट को शिराएं उठा ले जाती हैं और फुफ्फुस की राह से रोमकूपों से या वृक्कों से उस कूड़े को शरीर के बाहर फेंकने के लिए उन-उन अंगों में पहुंचाती हैं। हर मांसपेशी पर प्रायः सुषुम्ना से आयी हुई नाड़ियों के बारीक सिरे पहुंचते हैं और जब-जब जरूरत पड़ती है इन्हीं सिरों से बिजली की सी वह ताकत आती है जिस से

मासपेशी के सभी सेल और रेशे एक साथ सिकुड़ जाते हैं और मासपेशी से लगी हुई हड्डी को उठाते हैं। नाड़ी से आयी हुई उत्तेजना या धक्का बहुत सूक्ष्म होता है। वह वही काम करता है जो एक जलती हुई दियासलाई बारूद के ढेर के साथ करती है। मासपेशियों का एक ही क्षण में एक साथ मिलकर बड़े नियम से काम करते रहना अत्यंत अद्भुत बात है। जब हम चलते हैं तो पग-पग पर चौवन मासपेशिया काम करती हैं और वह भी इस अन्दाज से कि बारी-बारी से काम करती हुई कुल तीन-सौ मासपेशिया चलने के काम मे लगी होती हैं। इस में नाड़ी, नाड़ी-केन्द्र और मासपेशिया बिना हमारे जाने ही मिल-जुलकर नियम से काम करते हैं। वर्त्तमान काल का यह बहुत ही सुन्दर प्रबन्ध करोड़ों बरस से होते आनेवाले विकास का फल है जिस में प्रत्येक दोषवाले शरीर को धीरे-धीरे छांट कर निकाल दिया गया है और जीवन के रगड़े में वही सुधार ठहर सके हैं जो मिल-जुलकर यंत्र की सब से अधिक उपयोगिता को पूरा करते हैं।

———

चौदहवां अध्याय

प्राणमय कोष का तार-विभाग

१—नाड़ी का निर्माण

शरीर भर में सब से अद्भुत संस्थान नाड़ियों का है। इन के तारों का ताना सारे शरीर में फैला हुआ है। इन तारों के केन्द्र-कार्यालय मस्तिष्क में, सुषुम्ना में और नाड़ी-सेलों के कुछ और चक्रों में हैं। नाड़ी की सेलों के गुच्छ जहां मिलकर एक होते हैं वह चक्र कहलाता है और मिले हुए गुच्छों को नाड़ीकेन्द्र या नाड़ीगंड कहते हैं। आदि और प्राथमिक जीवों में न तो नाड़ी है, न मांसपेशी है, न मुंह है, और न पेट है। वह तो एक ही सेल है जो एक बारीक झिल्ली में लपसी के रूप में बन्द है। उस का हर एक अंश अन्न को पचाता है, गति उत्पन्न करता है और अपनी परिस्थिति के अनुकूल व्यवहार करता है। इसी आदिप्राणी का विकास होते-होते बड़े शरीरधारी बने जिन में असंख्य सेलें अद्भुत सामंजस्य से परस्पर मिलकर काम करती रहती हैं और विचित्र श्रम-विभाग प्रकट करती हैं। कुछ सेलें पचाने का काम करती हैं, कुछ नयी सेलों के उपजाने का काम करती हैं और कुछ गति पैदा करती हैं। इसी तरह कुछ ज्ञानवाली सेलें हैं और दूसरी कर्मवाली सेलें हैं। ज्ञानवाली सेलें जब शरीर में विकास करने लगीं तो उन्हों ने अपने लिए जगह-जगह फाटक या द्वार बना लिए। कुछ सेलें प्रकाश को ग्रहण करनेवाली हुईं, कुछ गन्ध को और कुछ शब्द को ग्रहण करनेवाली हुईं। हर एक प्रकार की सेलों ने इकट्ठी हो-हो कर अपने लिए अलग-अलग द्वार बनाये। शुरू-शुरू में यह त्वचा के ऊपर छोटे-छोटे धब्बों या गड्ढों के रूप में दीखने लगे। विकास-क्रम में यही बढ़ते-बढ़ते इन्द्रियग्राम बन गये। गतिवाली सेलों ने अपने द्वार मांसपेशियों के रेशों के पास बनाये। धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते इन विविध केन्द्रों, चक्रों और द्वारों का नाड़ी के रेशों से संबन्ध जुट गया और एक प्रधान केन्द्र-कार्यालय बन गया जिस का सम्बन्ध इन्द्रियग्रामों से, नाड़ीचक्रों से, मांसपेशियों से, और ग्रंथियों से सीधा स्थापित हो गया। जब रीढ़ की हड्डी का विकास हुआ तब केन्द्रीय

कार्यालयों का प्रधान मार्ग उसी के भीतर से होगा और इसी सुषुम्ना के ऊपरीभाग के बढ़ जाने से मस्तिष्क बना जिस की रक्षा के लिए हड्डी की मजबूत खोपड़ी रची गयी।

हम पहले ही कह चुके हैं कि शरीर में डाक और तार दोनों के विभाग हैं। शरीर में कुछ अंग ऐसे हैं जो रक्त में बहुत आवश्यक रासायनिक भोजन लेकर दूर-दूर के अंगों को पहुंचाते हैं। कितनी ही जल्दी करें यह डाक-विभाग शरीर की आवश्यकता के अनुसार तेज़ी नहीं बरत सकता। इसीलिए तार-विभाग की भी आवश्यकता पड़ती है। मान लो कि गंगा में नहाते समय एका-एकी किसी नुकीले पत्थर पर पांव पड़ गया। उसी क्षण पांव के उस अंश से सुषुम्ना नाड़ी-मंडल में तुरन्त खबर पहुंची। उसी क्षण उस केन्द्र से तुरन्त एक नाड़ी तरंग ने टांग की मांसपेशियों को सिकोड़ दिया जिस से पांव झट पीछे को हट गया। यह क्रिया कितनी शीघ्रता से हुई यह प्रत्यक्ष है। अष्टपाद में यह नाड़ी समाचार लगभग अस्सी इंच प्रति सेकण्ड के हिसाब से जाता है। मेढक में नब्बे फुट प्रति सेकेण्ड का वेग हो गया है। मनुष्य में यही वेग चार सौ फुट प्रति सेकण्ड है।

मनुष्य के शरीर में तो नाड़ी-समाचार पहले दिमाग के भीतर जाकर एक घंटी सा बजाता है अर्थात् सूचना देता है। यह सूचना पाकर दिमाग की ओर से उचित कार्रवाई का आदेश होता है। परन्तु मनुष्यों में और दूसरे प्राणियों में भी बिना इस घंटी के बजाये भी काम होता रहता है। इस तरह की क्रिया को प्रत्यावर्त्तन या परावर्त्तित क्रिया कहते हैं। तात्पर्य यह कि शरीर के स्वामी दिमाग तक खबर पहुंचने की जरूरत नहीं होती। समाचारवाले तार से किसी केन्द्र पर खबर पहुंचते ही अपने-आप कर्म की नाड़ियों में तुरन्त उत्तेजना होती है और उसी क्षण काम हो जाता है। जितने कर्म चेतना को खबर पहुंचाकर किये जाते हैं विज्ञात कर्म कहलाते हैं। जितने बिना खबर पहुंचाये प्रत्यावर्त्तन से होते हैं अविज्ञात कर्म कहलाते हैं। आंख में किरकिरी पड़ने को आयी नहीं कि केन्द्र तक सूचना-तरंग पहुंची और तुरन्त ही क्रिया-तरंग अपने आप पलकों की मांसपेशियों में आयी और पलकें झट बन्द हो गयीं, आंखों की रक्षा के लिए पर्दा पड़ गया। यह काम इतनी जल्दी का था कि चेतना को ख़बर पहुंचाने की देर भी हानिकर थी। प्रायः सारा शरीर सुषुम्ना द्वारा इसी तरह की अपने-आप काम करनेवाली नाड़ियों से बंधा हुआ है। सिर और चेहरे की मांसपेशियों के लिए नाड़ी-केन्द्र मस्तिष्क के भीतर होते हैं।

नाड़ी की सेलों में, जिन्हें हम वातसेल भी कह सकते हैं, सेल का शरीर होता है और बाहर निकलनेवाले रेशे या तार होते हैं। हर सेल से दो या अधिक रेशे निकले होते हैं, जिनके सिरों पर बहुत बारीक रेशों के गुच्छे से होते हैं। इस तरह एक दूसरे से यह आसानी के साथ मिलते हैं। दिमाग और सुषुम्ना तो विशेष रूप से हर सेल के बारीक रेशों के गुच्छे होते हैं और एक सेल के गुच्छे दूसरे सेल के गुच्छों से आपस में लपट जाते हैं। मांसपेशियों और ग्रन्थियों को कर्म की उत्तेजना देनेवाली नाड़ियों में बहुत से लम्बे लम्बे रेशे होते हैं जो सरपत के पूलों की तरह बंधे होते हैं। हर रेशे के भीतर एक अद्भुत मध्यगामिनी नाड़ी होती है जिस के भीतर एक तरह का रस रहता है।

२—नाड़ी में बिजली नहीं चलती

नाड़ी-तरंग का भेद अभी तक खुला नहीं है। इस के चलने से विद्युत प्रकट होती है परन्तु यह स्वयं उस की तरंग नहीं है। होती तो नाड़ी-समाचार का वेग लगभग दस लाख गुना अधिक होता। एक और विशेषता है कि जब तक ओषजन पूरी मात्रा में मिलता रहता है तब तक यह नाड़िया थकती नहीं जान पड़तीं और आज तक शरीर विज्ञा-

चित्र ११५—हमारे शरीर के कोष्ठ
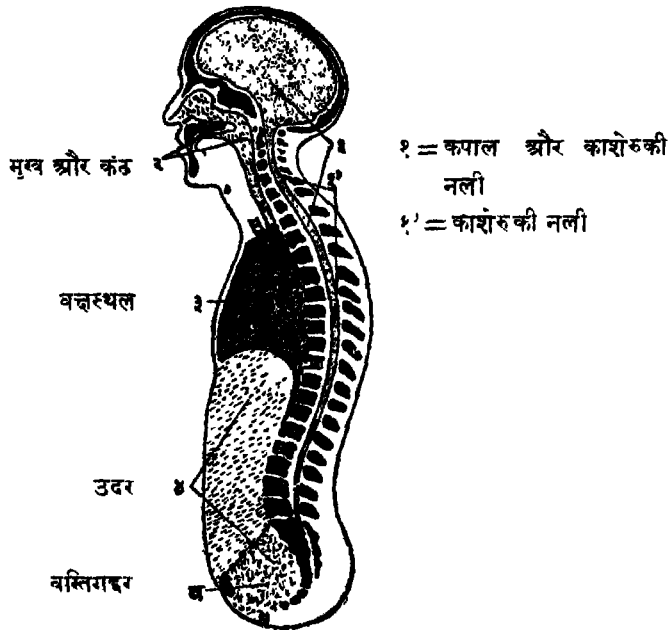
अन्धकार की कृपा] [हमारे शरीर की रचना से

नियों को यह पता नहीं लगा है कि नाड़ियों में किसी तरह का रासायनिक विकार भी होता है। सोते जागते सभी दशाओं में यह तार बराबर काम करते रहते हैं और जीते जागते दिखाई पड़ते हैं। इतना काम होते हुए भी शरीर-विज्ञानियों ने यह पता नहीं लगा पाया है कि इतनी कर्मरचना के साथ ताप की कोई मात्रा भी प्रकट होती है या नहीं।

मस्तिष्कवाले केन्द्र की नाड़ी सेलों की यह दशा नहीं है। यह थक भी जाती हैं और सुस्ताने और आराम करने के लिए इन्हें समय भी चाहिए। नींद के समय इस तरह का आराम मिलता है। साधारणतया यह बात मानी जाती है कि जब आदमी सोता है तो दिमाग की ओर खून का बहना घट जाता है जिस से ओषजन का मिलना भी कम हो-

जाता है। इस से चेतना के अंगों की प्राण-शक्ति घट जाती है। सोने के लगभग एक घंटा बाद मस्तिष्क की जीवन-क्रिया बिल्कुल रुक जाती है और रक्त थकी हुई मासपेशियों को खिलाने में लग जाता है। कुछ घंटे बाद रक्त फिर दिमाग़ की तरफ़ आने लगता है और थोड़ी थोड़ी चेतना आजाती है जिस पर बुद्धि और विवेक का कुछ अधिकार नहीं होता। इसी को स्वप्नावस्था कहते हैं। कुछ लोगों में चेतना के लौटने के बदले क्रियाओं का प्रत्यावर्तन होता है। वह सोते हुए भी चलने-फिरने और काम करने लगते हैं। नींद के सम्बन्ध मे इतनी बातें साधारणतया मानी हुई हैं। परन्तु आज भी निद्रा एक कठिन पहेली है। उसके सम्बन्ध में कोई सिद्धान्त सन्तोषजनक नहीं पाया गया है। मस्तिष्क के सम्बन्ध मे अलगही खोज होती है। उसे मनोविज्ञान कहते हैं।

हमारा नाड़ी-संस्थान बड़ा विचित्र है। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि हमारा जीवन इसी पर निर्भर है तो भी इसमे तो तनिक भी सन्देह नहीं है कि हमारी सुस्ती और तेजी, मन्दता और तीव्रता, स्वार्थभाव या परार्थभाव, खुश रहना या उदास रहना, चचलता या दृढता, इसी वात-संस्थान या नाड़ी-संस्थान पर निर्भर है। कुछ विज्ञानियों का यह विचार है कि हमारा वात-संस्थान तारों से बने हुए बाजे की तरह है जिसको अन्तरात्मा निरन्तर बजाता रहता है अथवा काम में लाता रहता है और जब कभी ज्वर में सन्निपात हो जाता है अथवा बुढापे मे मानसिक शक्तियों का क्षय हो जाता है तो वस्तुतः यह समझना चाहिए कि इस विचित्र बाजे का कोई पर्दा खराब हो गया या काम मे लाने लाने पर्दों के घिस जाने से तरह तरह के दोष आ गये हैं। कुछ लोगों का विचार है कि हमारा जीवन रहस्यमय है, जो प्राण-शक्ति अन्न पचाती है और रक्त-संस्थान को चलाती रहती है वही वात संस्थान और मनोमय कोष का नियंत्रण भी करती रहती है।

साधारणतया ऐसा समझा जाता है कि खोपड़ी के भीतर जो कुछ यन्त्र है सब विचारों और भावों से सम्बन्ध रखता है और बड़ी खोपड़ी का अर्थ बड़ी योग्यता ही है। परन्तु इस मे भ्रम है। जिसे भावों और विचारों का कार्यालय अर्थात् दिमाग़ या मस्तिष्क कहते हैं वह खोपड़ी के भीतर का बहुत थोड़ा अंश है। सिर की चोटी से लेकर माथे की जड़ तक जो खोपड़ी का भाग है उसी में नाड़ीमय पदार्थ का एक अत्यन्त पतला छिलका सा फैला हुआ है जिस की औसत मोटाई इञ्च के नवें भाग के लगभग होती है। बस इतने ही अंश को वह दिमाग या मस्तिष्क कहना चाहिए जो चेतना का अग या इद्रिय है। किन्तु यह अनमोल छाल वल्क या छिलका बड़ी ही विकट बनावट का है। इस में नव-अरब बीस-करोड़ नाड़ियोंवाली सेलें लगी हुई हैं, और इस तरह पर अत्यन्त पास-पास लिपटी और जुड़ी हैं कि मनुष्य की खोपड़ी के भीतर कम-से-कम जगह लेकर अधिक-से-अधिक तल से काम कर सकें। इस छिलके के चारों ओर भीतर अनेक नाड़ी-चक्र हैं जो सिर, चेहरा, आँख, जीभ आदि विविध अंगो को अपने काबू में रखते हैं। नाड़ियों के वह केन्द्र भी यहीं हैं जो आँख, नाक, कान आदि इन्द्रियों के समाचार पाते रहते है। जिस आदमी का शरीर पचहत्तर सेर के लगभग होता है उस के दिमाग का छिलका तोल में उस के शरीर-भार का केवल पंच सहस्रांश अथवा एक तोले से कुछ ही अधिक, १.०२ तोला, होता है।

३—नाड़ी-विभाग

सिर के पिछले भाग को लघु मस्तिष्क कहते है । यही वह-केन्द्र कार्यालय है जहां से सारे शरीर की मांसपेशियों की समंजस गति रखी जाती है । हम चलते हों और एकाएकी हमारे दोनों पाँव साथ उठ पड़ें तो हम लड़खड़ा जायंगे । लिखते समय जिन अँगुलियों

चित्र ११६—सिर और गर्दन की नाड़ियाँ

[हमारे शरीर की रचना से ग्रंथकार की कृपा]
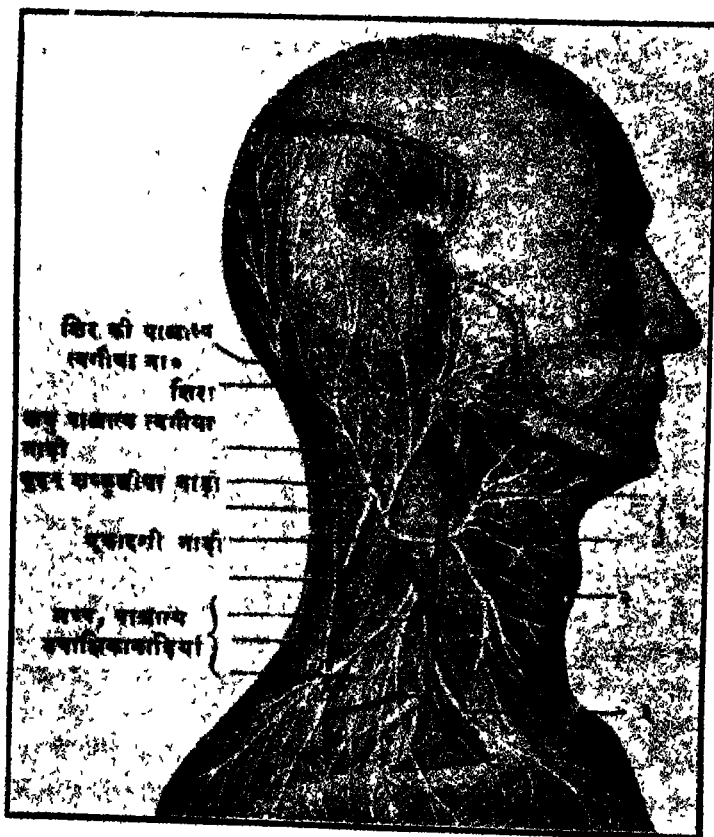
को हम काम में लाते हैं यदि वह हट जायँ और दूसरी अँगुलिया उन के बदले आ जायँ तो काम बिगड़ जायगा । शराबी के पाँव लड़खड़ाते हैं और वह गिर जाता है । इस का कारण यही है कि नशे से उस के लघु मस्तिष्क पर ऐसा बुरा प्रभाव पड़ा है कि वह मांस-

पेशियों पर काबू नहीं रखता और उनका सामंजस्य बिगड़ गया है। लघु मस्तिष्क सारे दिन शरीर के सभी अंगों से निरंतर असंख्य समाचार पाता रहता है और बराबर तीन की
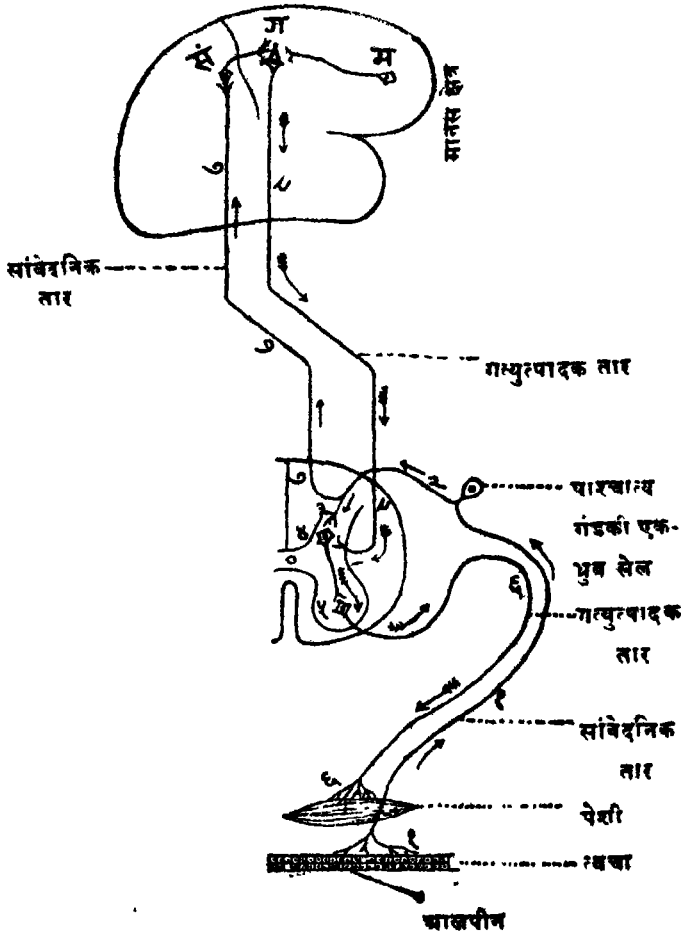
चित्र ११७—एक आलपीन धँसने पर नाड़ीजाल में क्या होता है। परावर्तित क्रिया।
[हमारे शरीर की रचना से ग्रंथकार की कृपा से]

चित्र १२७ की व्याख्या

इस चित्र में यह समझाया गया है कि परावर्तित क्रिया (प्रत्यावर्तन) किस प्रकार होती है। १ = त्वगीय नाड़ी का तार। २ = यह तार सूचना को सुषुम्ना में ले जाता

है। सुषुम्ना में इस के कई भाग हो जाते हैं। एक तार (३) पश्चात्य शृंग की सेल (४) के पास रह जाता है। यह सेल सूचना को पूर्वशृंग की सेल (५) तक पहुँचाती है जो अपने तार (६) द्वारा पेशी को संकोच करने की आज्ञा देती है। ३=केन्द्रगामी तार का सुषुम्ना में ही रह जानेवाला भाग। ४=सेल। ५=पूर्व शृंग की सेल। ६=मांस में अंत होनेवाला तार। ७=मस्तिष्क को जानेवाला केन्द्रगामी तार। सं=सांवेदनिक क्षेत्र जिस की सेलें अपने तारों द्वारा गतिक्षेत्र की सेलों से संबन्ध रखती हैं। ग=गति-क्षेत्र। म=मानस क्षेत्र जिस की सेलों का गति-क्षेत्र की सेलों से सम्बन्ध है। ८=इस तार द्वारा गति करने की आज्ञा सुषुम्ना की सेलों को पहुँचती है।

(१) ऐच्छिक क्रिया—जब हम कोई गति अपनी इच्छा से करते हैं तो मानस क्षेत्र की सेलों की आज्ञा पाकर गति-क्षेत्र की सेलें सुषुम्ना की (यदि गति का सम्बन्ध मस्तिष्क नाड़ियों से है तो उन नाड़ियों के उत्पत्ति स्थान की) सेलों को आज्ञा देती हैं और गति हो जाती है। आज्ञा म से आरंभ हो कर ग, ८, ४, ५, में से होती हुई ६ में पहुँचती है।

(२) परावर्तित क्रिया—इस का मार्ग यह है—त्वचा, १, २, ३, ४, ५, ६ मांस।

मांसपेशियों को बिना किसी भूल-चूक के समंजस गति से चलाता रहता है और उन की ताकत को बनाये रहता है। यह क्रिया अपने-आप होती है। परन्तु संसार में ऐसा कोई तार घर्की का केन्द्र कार्यालय नहीं है जो इस तरह बिना थके निरंतर काम करता हो और कभी भूल भी न करे। इन सब से बड़े आश्चर्य की बात यह है कि ऐसा अद्भुत तार-घर्की का एक एक केन्द्र-कार्यालय हर खोपड़ी में मौजूद है।

लघुमस्तिष्क के नीचे ही सुषुम्ना-शीर्षक है। यह छाती की उन मांसपेशियों को काबू में रखता है जिन से सांस लेने और निकालने की क्रिया होती है, हृदय और रक्त संस्थान की मांसपेशियां इसी के अधिकार में हैं और अन्नमार्ग में लाला ग्रन्थियों से लेकर छोटी आँत तक की गति पर इसी का प्रभाव है। विकास-क्रम में लघुमस्तिष्क सब से पुराना अंग है जो खोपड़ी के भीतर रहता आया है। प्राणी का ज्यों-ज्यों विकास हुआ है त्यों त्यों मस्तिष्क का छिलकेवाला भाग धीरे-धीरे बढ़ता गया है। परन्तु लघुमस्तिष्क से भी अधिक पुराना रीढ़ के भीतर रहनेवाला सुषुम्ना नाड़ीजाल है। इसी सौषुम्न स्तंभ में अनेक चक्र हैं जो हाथ-पाँव आदि अंगों को और पेट की बड़ी-बड़ी मांसपेशियों को अपने आप चलाते हैं। जगह-जगह से इसी में से नाड़ियों के जोड़े निकले हुए हैं जो सारे दिन समाचार पाते और हुकुमनामे निकालते रहते हैं। अपने-आप सीख लेने की शक्ति भी सुषुम्ना नाड़ीजाल में अद्भुत है। बच्चा चलना सीखता है या लड़की बजाना सीखती है तो धीरे-धीरे हाथ-पावँ की मांसपेशियाँ ऐसा चलने और काम करने लगती हैं कि हम उसे स्वाभाविक गति समझते हैं और हमारे बिना सोचे-विचारे ही अपने आप काम होता रहता है।

पंद्रहवा अध्याय

सरहदी चौकियां और डाक

१—इन्द्रियग्राम या करण के अंग

खाल के ऊपर जिन विशेष नाड़ियों के धब्बों की चर्चा हम कर आये हैं वही धीरे-धीरे विकास पाकर इन्द्रिय बन गये। करोड़ों बरस के समय में जो धब्बे प्रकाश से उत्तेजित होनेवाले नाड़ीजाल के सूचक थे उन्हीं का विकास होकर आँखों का ढाँचा बना। इसी प्रकार कानों के, नाक के, जिह्वा के ढाचे धीरे-धीरे बने। स्पर्शवाली नाड़िया त्वचामात्र में कहीं कम और कहीं अधिक फैलीं। इस शरीर के सेल-साम्राज्य की बाहरी सीमाओं पर नाके-नाके पर यह चौकी पहरा बैठा हुआ है।

इन्द्रिय द्वार झरोखा नाना।
जँह तँह सुर बैठे करि थाना॥

इन्द्रिय ग्रामों के झरोखों पर विशेष-विशेष प्रकार के नाड़ीजाल के तार लगे हुए हैं जो सीमा के बाहर की अवस्था की सूचना केन्द्र-कार्यालय को प्रतिक्षण देते रहते हैं। बहुत काल तक उनका यही काम था कि भोजन का पता और जोखिम की सूचना देते रहें। विकास पाते पाते मनुष्य के शरीर में इन्द्रियों का काम बहुत ज्यादा बढ गया।

खाल के ऊपरी तल तक बहुत से छोटे-छोटे नाड़ीजाल आये हुए हैं। उन की अत्यन्त सूक्ष्म शाखाओं के सिरों पर बहुत नाजुक घुंडियाँ हैं। गिनती में असंख्य हैं। इनका काम है कि पीड़ा का पता दे। हम जब पीड़ा होती है तो हम बहुत बुरा मानते हैं परन्तु सचमुच बुरा मानने की कोई बात नहीं है। पीड़ा तो असल में टेलीफोन की घंटी है जो हमें जोखिम का पता देती रहती है। ऐसा न हो तो शरीर के लिए वही घातक हो जाय। और छोटी-छोटी घुंडियाँ हैं जो हथेली की ओर अंगुलियों पर अधिक हैं। यह स्पर्श का ज्ञान देती हैं। कुछ ऐसी हैं जो ठढक बतलाती हैं। उन से भी भिन्न और हैं

जो गरमी का पता देती हैं। दबाव का पता देनेवाली घुंडियां इन सब से अलग हैं। पीड़ा, दबाव, ठढक, गर्मी, कड़ाई, नर्मी, इन छः बातों का पता देनेवाली घुंडियाँ हमारे शरीर की ऊपरी खाल के पास कहीं कम कहीं अधिक सर्वत्र फैली हुई हैं।

मुँह के भीतर वह घुंडियाँ हैं जो भोजन का स्वाद बताती हैं। जीभ के ऊपरी तल पर बहुत नन्हीं-नन्हीं अंडाकार घुंडियां सेना की तरह हैं। स्वाद लेने को घनी पाँती में खड़ी हो जाती हैं। इन स्वादवाली घुंडियों की भीतरी सेलों के अन्त में रोएं से होते हैं जो दिमाग तक सूचना पहुँचानेवाली नाड़ियों को छूते हैं। सम्भवतः भिन्न स्वादों के लिए भिन्न नाड़ियाँ होती होंगी। जीभ के सिरे पर बहुतायत से वह छोटी घुंडियां हैं जो मिठास का पता देती हैं और पिछले भाग में वह हैं जो कड़वे स्वाद का अनुभव करती हैं। स्वाद की इन्द्रियों तक पहुँचने के लिए रस या द्रव के रूप में अन्न का होना जरूरी है।

सूँघने के लिए हर एक पदार्थ के वायव्य-खड हो जाने चाहिए। दिमाग के घ्राण के केन्द्रों से निकलकर नाड़ियां अनेक शाखाओं में बँट जाती हैं और नाक के भीतर ऊपरी भाग की झिल्लियों में उन का अन्त होता है। इस झिल्ली में असख्य नाड़ी सेलें बराबर पहरा देती रहती हैं कि हवा में मिली हुई जोखिम की चीजें तो नाक में नहीं आ रही हैं। जिन पदार्थों में किसी तरह की गन्ध निकलती है समझना चाहिए कि उन में से हवा में बहुत बारीक कण निकलकर मिलते जाते हैं। प्राणिमात्रमें सूँघने की इन्द्रिय सब से अधिक महत्व की चीज रह आयी है और मनुष्य के शरीर में भी इस का विकास हुआ है कि कस्तूरी का अस्सी लाखवां अश भी वायु में मिला हो तो मनुष्य मालूम कर सकता है। बहुत तेज दुर्गन्धवाली चीज तो वह पचीस नीलवें अश तक मिले होने पर भी जान सकता है। तो भी मनुष्य में घ्राणशक्ति का ह्रास हो रहा है और बहुतों में यह शक्ति बहुत निर्बल है। अनेक छोटे प्राणियों की अपेक्षा तो उस की घ्राणशक्ति बहुत कम है ही।

२—आंख के झरोखे

आँखों से बढ़कर शरीर की कोई इन्द्रिय नहीं समझी जा सकती, क्योंकि साधारण मनुष्य के दिमाग में बाहरी वस्तुओं की सारी कल्पनाएँ आँख में पड़नेवाली छाया के चित्र हैं। आँख का गोलक इस यंत्र का सब से आवश्यक अंग है। इसी गोलक के पिछले भाग से आँखवाली नाड़ी दिमाग के भीतर दृष्टि के नाड़ी-केन्द्र तक जाती है। फोटो लेने के लिए जो कैमरा इस्तेमाल करते हैं वह इसी आँख की भद्दी नकल है। आँख का कैमरा बड़ा ही अद्भुत है। यह घने और मजबूत रेशेवाले मांसकणों का बना हुआ गोला सा है जिस के छः अंशों में पांच तो अ-पारदर्शी हैं और छठा जो आगे की ओर कुछ निकला सा है पारदर्शी है और कर्नीनिका कहलाता है।

कर्नीनिका के भीतरी ओर पहले थोड़े से द्रव का परदा है और फिर उस के बाद एक बहुत ही कोमल पर्दा है जो आगे की ओर की पारदर्शी खिड़की के ऊपर पड़ा हुआ है, और विविध रंगों का होता है। जब आँख पर रोशनी पड़ती है तो बहुत अधिक होने पर यह खिड़की छोटी हो जाती है और बहुत कम होने पर बड़ी हो जाती है।

मासपेशी के रेशे ऐसी चतुराई से इसमें लगे हुए हैं कि यह तेज रोशनी पर प्रायः बन्द सी हो जाती हैं और अन्धकार में एक दम खुल जाती हैं। इस के सिवाय इस में रंग के सेल हैं जो कि तेज रोशनी पर घने हो जाते हैं और अधिक किरणों को चूस लेते हैं
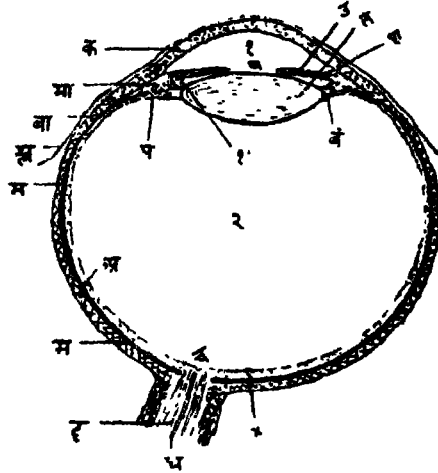
चित्र ११८—आँख की पड़ी काट

ग्रन्थकार की कृपा] [हमारे शरीर की रचना से

१ = आँख का अगला कोष्ठ। १' = पिछला कोष्ठ। २ = बृहत् कोष्ठ।

क = कनीनिका। उ = उपतारा। छ = तारा। त = ताल। ब = ताल-बंधन।

श = चक्रवत् शिराकुल्या का छिद्र। प = उपतारानुमंडल। मा = मांस।

बा = बाह्यपटल। श्ल = श्लैष्मिक कला। म = मध्यपटल।

अ = अन्तरीय पटल। च = चक्षुबिम्ब। द = दृष्टिनाड़ी।

ध = धमनी। ४ = पीतबिन्दु।

और जब आँखों को अधिक रोशनी की जरूरत पड़ती है तब यह बहुत कम हो जाते हैं। जिन देशों में धूप बहुत तेज हुआ करती है वहाँ आँखें काली होती हैं और जहाँ धूप कम हो जाती है और रोशनी कम मिलती है वहा की आँखें नीली होती हैं। दोनों अवस्थाओं के बीच में प्रकाश के तारतम्य से सभी रंगों की आँखें पायी जाती हैं।

इस गोल खिड़की के पीछे एक चमकदार ताल लगा हुआ है जिसे पुतली या तारा कहते हैं। मनुष्य ऐसा ताल नहीं बना सकता जो किसी दूरी के लिए प्रकाश की किरणों को केन्द्रित करने के लिए इच्छानुसार घटाया-बढ़ाया जा सके। परन्तु यह ताल बहुत सूक्ष्म मासपेशियों का बना हुआ है और आवश्यकता के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है। आँख के गोलक के बाहर की ओर दूसरी मासपेशियाँ और कंडराएं लगी हुई हैं जो अपने-आप, हम जिधर चाहें उधर, गोलक को घुमा देती हैं। कुछ विज्ञानी आँख की रचना में दोष

निकालते हैं परन्तु जब हम यह सोचते हैं कि इस अद्भुत कमरे की रचना कितने काल में कैसी चतुराई से हुई है और जब तक हम जागते रहते हैं तब तक हमारे जीवन भर यह यन्त्र निरंतर अपने आप काम करता रहता है तो दोष निकालने का भाव मिट जाता है।

सब से विचित्र रचना आँख के गोल के पीछे का वह पर्दा है जिस पर बाहर का
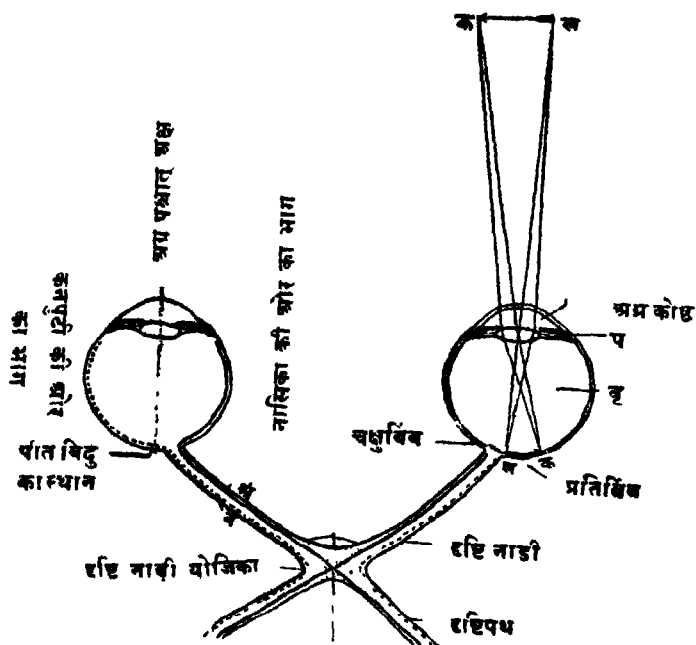
चित्र ११६ दोनों आंखे दो उल्टे चित्र बनाती हैं पर एक ही सीधा दृश्य दीखता है

अन्धकार की कृपा] [हमारे शरीर की रचना से

मस्तिष्क के नीचे और जतूकास्थि के ऊपर एक ओर की दृष्टिनाड़ी दूसरी ओर की दृष्टिनाड़ी से जा मिलती है। मिलने पर दृष्टिनाड़ी योजिका बनती है। यहाँ से दृष्टिपथ का आरंभ होता है। हर एक दृष्टिपथ में थोड़े-थोड़े दोनों आखो के तार होते हैं, दो तिहाई उसी ओर की आख के और एक तिहाई दूसरी ओर की आख के।

चित्र उतरता रहता है। यह एक अल्प पारदर्शक झिल्ली है जिसे हम काला परदा या रेटिना कहते हैं। यह गोलक के पृष्ठदेश का तीन चौथाई तल है और एक विशेष स्थान पर

यह बहुत विकसित अवस्था में है जिस पर चित्र पड़ने से हमें दिखाई पड़ता है। स्थल पीला है और प्रकाश की किरणें इस पर उल्टा चित्र डालती हैं। यह किरणें गोलक के भीतर से होकर आती हैं जिसमें एक द्रव भरा हुआ है। दोनों आँखों की नाभि या प्रकाश के केन्द्र के एक हो जाने से दोनों चित्र एक में मिलकर स्पष्ट दिखाई देते हैं।

देखने का वास्तविक रहस्य अभी तक वैज्ञानिकों की समझ में अच्छीतरह नहीं आया है। यह काला परदा बड़ी असाधारण वस्तु है। इस में अत्यन्त सूक्ष्म और कोमल नाड़ी-सेलों का एक विकट तल है जिस के कुछ अंश छड़ और शंकु कहलाते हैं जो इस परदे के विशेष अंग मालूम होते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इस स्थल पर रासायनिक क्रिया होती होगी। यह पता नहीं है कि तीन मूल रंगों के लिए तीन रासायनिक पदार्थ अलग-अलग हैं अथवा एक ही तीन रंगों में बँट जाता है। ऐसा समझा जाता है कि जो लोग वर्णान्ध हैं, जिन्हें कोई एक या दो रंग नहीं दिखाई देते, उन की आँखों में एक या अधिक सूक्ष्म रासायनिक पदार्थों की कमी होगी। इस में जो रहस्य हो अभी ठीक कहा नहीं जा सकता। नाड़ियों का तल आँखों के पीछेवाली नाड़ी में एकत्र होकर मिल जाता है और यही दृष्टि-नाड़ी किसी न किसी प्रकार से चेतना-केन्द्र तक बाहरी वस्तुओं के चित्र पहुँचा देती है। यह पता नहीं कि चित्रों का ज्ञान दृष्टिनाड़ी किस तरह पहुँचा देती है।

३—कान के किवाड़

सुनने की इन्द्रिया भी कम अद्भुत नहीं हैं। वैज्ञानिकों की राय है कि कान का बाहरी हिस्सा शायद बिल्कुल बेकार है। इस भाग में लगभग एक इञ्च लम्बा परन्तु तंग रास्ता है जिस में मोम सा चिपकनेवाला पदार्थ लगा रहता है। यह पदार्थ इसी मार्ग में रहनेवाली बारीक ग्रंथियों से निकला करता है जिस में बाहर से आनेवाले कीड़े-मकोड़े फँस रहें। इसी रास्ते से शब्द की लहरें असली कान तक पहुँचती हैं। इसी रास्ते के अन्त में बाहरी सिरे पर सावेदनिक ढोल है जो झिल्ली का बना हुआ है और जिसे कर्णपटल भी कहते हैं। इस में अपने स्फुरण का कोई नियम नहीं होता। इस के ऊपर जितनी तरह की हवा की लहरें लगती हैं यह उतनी तरह की लहरें तुरत उठाता है। इसकी बनावट ऐसी है कि इस के भिन्न भागों में भिन्न लहरों का प्रबन्ध है। दूसरी ओर से एक छोटी सी हड्डी इस झिल्ली पर आकर लगती है जो इस की आवाज़ को मन्द कर देती है। बाहर से इस पर हवा का जो दबाव पड़ता है उससे ढोल का बाहरी हिस्सा बदलता रहता है परन्तु उसे बराबर ठीक रखने के लिए भी एक राह बनी हुई है जो मुह के तालू के ऊपर से कान तक आयी हुई है और जिसे कंठकर्णी नाली कहते हैं।

छोटी-छोटी तीन हड्डियां हैं जिन्हें हथौड़ी निहाई और रकाब कहते हैं। यही तीनों हड्डियां कान के बीचवाले भाग में एक ढोल की लहरों को दूसरे ढोल तक पहुँचाती हैं जो खोपड़ी के भीतर असली कान के प्रवेशक द्वार पर फैला हुआ है। शब्द की लहरें पहले कर्णपटल पर टकराती हैं जिस से कर्णपटल लहराता है और तीनों हड्डियां काम करती हैं।

हथौड़ी निहाई पर लगती है और निहाई के अन्त मे लगी हुई रकाब भीतरी पटल पर उन लहरों को पहुंचाती है जिस से वह पटल या ढोल भी लहराने लगता है। यह दूसरा ढोल या पटल अंडाकार होता है। इसके बाद कुंडली की तरह घूमा हुआ ढाँचा है जिस के भीतर सुनने की असली इन्द्रियां है। यह बालवाली सेलें हैं जो उस कुंडली के भीतर फैली हुई हैं और सुननेवाली नाड़ी के बारीक रेशों से लिपटी हुई हैं। इस सुरंग के भीतर एक द्रव भरा हुआ है जो अंडाकार परदे मे आनेवाली लहरों से विशेष रूप से हिला करता है और बाल की सेलों को हिलाता है और यह सेलें सुननेवाली नाड़ी को अपनी गति देती हैं और वह दिमाग को वही गति पहुँचा देती है। यह भी एक अद्भुत यंत्र है जो करोड़ों बरसों मे पिंडजों में विकास करते-करते अन्त में वर्त्तमान रूप में आया है।
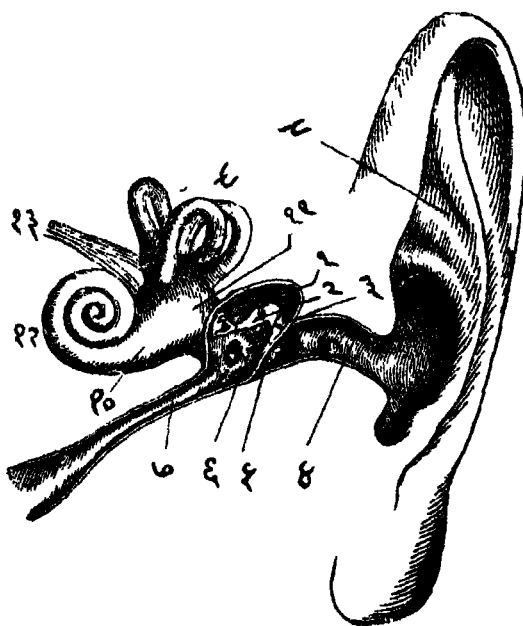
चित्र १२०—कान के भीतरी भाग

अन्धकार की कृपा] [हमारे शरीर की रचना से

१ = रकाबास्थि । २ = (निहाई) शृर्मिकास्थि । ३ = मुद्गरास्थि (हथौड़ी)। ४ = कर्णाञ्जली। ५ = (ढोल) कर्णपटल। ६ = मध्य कान। ७ = कंठकर्णी नाली। ८ = कर्ण-शष्कुली। ९ = अर्धचक्राकार नालिया। १०,११ = भीतरी कान का कोठा। १२ = कोकला। १३ = नाड़ी। कान का बाहरी चोंगा अचल और निरर्थक है। शब्द-तरंग बाहरी मार्ग से ढोल (कर्णपटह) तक पहुँचता है। शब्द-तरंगों से ढोल लहराता है। हथौड़ी निहाई और

रकाव अपनी-अपनी गति से लहरों को भीतरी भाग तक पहुँचाते हैं। कंठकर्णी नाली से हवा मध्यकान तक पहुँच सकती है। (६) झिल्लीकृत अर्धचक्राकार नालियों का काम सामंजस्य और समतोल रखना है। कोकला या कर्णकुहर ही वास्तविक श्रवणेंद्रिय है। कर्णपुट कुछ लम्बा होकर अन्तर्लसीका प्रणाली बन जाता है। काली-सी खाली जगह "परि-लसीका" में भरी है, इस के और कान की भीतरी गुहा के बीच एक झिल्ली है जिस में अन्तर्लसीका होती है।

४—ग्रन्थियां और हारमोन

हड्डियां, मांसपेशियां और नाड़ियां की थोड़ी बहुत चर्चा हो चुकी अब हम ग्रन्थियों का कुछ थोड़ा सा वर्णन करेंगे। हम कह चुके हैं कि सारे अन्न-मार्ग में अनगिनतियों नन्हीं नन्ही नलिका सी ग्रन्थियां इस मार्ग की भीतों में मौजूद हैं। ऐसी ही नलिकाकार ग्रन्थियों का एक दूसरा समूह है जो वृक्कों का एक आवश्यक भाग है। असल में इनसे छानने का काम लिया जाता है। धमनियों के द्वारा शुद्ध रक्त वृक्को की नलिकाओं तक पहुँचता है। इस से वृक्कों को उत्तेजना मिलती है। प्रत्येक नलिका किसी अज्ञात प्राण-शक्ति के सहारे रक्त में से बहनेवाले नोप्रजनीय कूड़ा-करकट को और कुछ थोड़े से जल को खींच लेती है और इन नलिकाओं से मिले हुए बारीक परनाले एक में मिल जाते हैं और इस गन्दगी को मूत्राशय तक पहुँचाते हैं। यही मूत्र है। गन्दगी दूर करने के लिए इन नलिका ग्रंथियों के साथ साथ परनाले भी लगे हुए हैं।

जिन ग्रंथियों में परनाले नहीं लगे हुए हैं वह और भी अधिक महत्व की समझी जाती हैं। रक्त से यह वस्तुओं को खींच लेती हैं पर अपने रसविशेष नलों में नहीं भेजती। इस तरह की ग्रंथियों के सब से उत्तम नमूने उपवृक्क ग्रंथियां हैं। एक छोटी नारंगी के एक फांक के आकार के दो छोटे-छोटे अंग वृक्कों के पास हैं जो रक्त में एक रासायनिक डाक को उड़ेलते रहते हैं। प्रोफेसर स्टारलिंग ने हारमोन इसी डाक का नाम रखा है। विविध अंगों में कितना रक्त कब पहुँचना चाहिये इस बात का नियम न करते रहना इन्हीं हारमोनों का काम है।

यह विचित्र बात हाल ही में मालूम हुई है कि शरीर में बहुत छोटी छोटी असंख्य ग्रंथियां हैं जिन का काम केवल हारमोन बनाना है। यह हारमोन डाक या चिट्ठी का काम शरीर के भीतर विचित्र रीति से करते हैं। उपवृक्कों के हारमोन पक्वाशय की भीतों की कोशिकाओं में उसी तरह पड़ जाते हैं जैसे पास के बम्बे में चिट्ठियां डाल दी जाती हैं। कोशिकाओं की राह से साधारण रक्त-संचार के मार्ग में यह डाक पड़ जाती है। इस डाक का वहन रक्त ही करता है। इस डाक-विभाग में न तो चिट्ठियों पर पता लिखा रहता है और न छांट छांट कर बँटाई में सहायता देनेवाले कर्मचारी ही हैं। जैसे खास तालों में लगने के लिए खास चाभियां होती हैं उसी तरह हारमोनों के अणुओं का भी रूप और आकार ऐसे

विशेष काटछांट का बना होता है कि विशेष अंगों में ही उनका प्रवेश हो सकता है। इस तरह वे रक्त की डाक पद्धति से अपने आप उन्हीं अंगों में आकृष्ट होते हैं जिनके लिए वे बनाये गये हैं।

मास की नलिका के दोनों ओर दो छोटी छोटी घुंडियाँ हैं जिन्हें चुल्लिका ग्रन्थि कहते हैं। थोड़े काल में इनकी बड़ी ख्याति हो गयी है। यह जो रस बनाती हैं सीधे रक्त की धारा में मिल जाता है। यह भी बे-परनालीवाली ग्रन्थियाँ हैं। यह जो हारमोन बनाती हैं वह मास के अवयवों की जीवन-शक्ति बढ़ाते हैं और ओषजन चूसने को उत्सुक बना देते हैं। शरीर का जीवन-व्यापार तेज़ी से चलने लगता है। चुल्लिका ग्रन्थियों के नाश या अपूर्ण विकास से मनुष्य में मानसिक और शारीरिक दुर्बलता आ जाती है। इन ग्रन्थियों का निष्कर्ष भी ओषधि की तरह मिलता है जिसके सेवन से, कहते हैं कि फिर ताकत आ जाती है। शरीर और मन के साधारण विकास के लिए चुल्लिका ग्रन्थियां बड़ी आवश्यक हैं और इस विचार के आधार पर हाल में जो परीक्षाएं की गयी हैं उन में से कई अन्त में बड़े अद्भुत परिणाम निकले हैं।

चुल्लिका ग्रन्थियों के पास ही चार और छोटी घुंडियां सी हैं जिन्हें पर-चुल्लिका ग्रन्थियाँ कहते हैं। अभी तक इनकी क्रिया स्पष्ट रूप से नहीं मालूम है। परन्तु इनको जब कभी निकाल दिया गया है तब नाड़ी सम्बन्धी भयानक उपद्रव खड़े हो गये हैं। इनके सिवाय मुकुन्दक ग्रन्थियाँ भी हैं। जान पड़ता है कि इन ग्रन्थियों से किसी न किसी ढंग से जननेन्द्रियों को जल्दी विकसित हो जाने में रुकावट रहा करती है। यह ग्रन्थियाँ छाती की हड्डी के सामने होती हैं, और डाक-विभाग द्वारा ही काम करती हैं। भीतरी जननेन्द्रियां स्वयं रक्त में बहुत से हारमोन भेजती हैं। साधारण और बधिया किये हुए पशुओं में जो अन्तर होता है वह प्रकट ही है। इन्हीं हारमोनों की बदौलत ठीक ठीक समय पर माता की दूध की ग्रन्थियाँ विकसित होने लगती हैं। ऐसा पता लगा है कि ज्यों ही गर्भाधान होता है त्यों ही डिम्बों से एक प्रकार का हारमोन रक्त में जाने लगता है और छातियों तक पहुँचकर उन्हें उत्तेजित करता है। सम्भवतः भ्रूण भी ऐसे हारमोन उपजाता है जो माँ के रक्त में प्रवेश करते रहते हैं और प्रसव-काल तक उपयोगी रहते हैं।

सिर के भीतर भी श्लैष्मिक ग्रन्थियाँ हैं जो अच्छे परिमाण में हारमोन बनाती हैं। शरीर के अवयवों को इनके द्वारा उत्तेजना मिलती है और उनकी वृद्धि इन्हीं ग्रन्थियों के अधिकार में होती है। किसी प्राणी के सिर से अगर यह ग्रन्थियाँ निकाल दी जायें तो शरीर दुर्बल और ठिगना हो जाय। इसी के विपरीत जिसकी श्लैष्मिक ग्रन्थियाँ बढ़ जाती हैं या अधिक काम करने लगती हैं उस के हाथ पैर चेहरा आदि अंग जरूरत से ज्यादा बढ़ जाते हैं और बड़े हो जाते हैं और शरीर दानवाकार हो जाता है।

इस तरह की भीतर-भीतर हारमोनों को उपजानेवाली ग्रन्थियाँ शरीर में यद्यपि अनेक हैं तथापि उन सब को इकट्ठा करके अगर लपेट लिया जाय तो इतना छोटा

पार्सल बनेगा कि एक वास्कट की जेब में आसानी से आ सकेगा। फिर भी यही छोटी चीज़ें सारे शरीर के काम और बाढ़ पर पूरा अधिकार रखती हैं।

५—खाल की ग्रंथियां

मनुष्य के शरीर को चारों ओर से जो चीज ढके हुए है और जो अद्भुत यंत्र की निरन्तर रक्षा करती रहती है वह खाल है। खाल भी एक अजीब चीज है जो बारीक
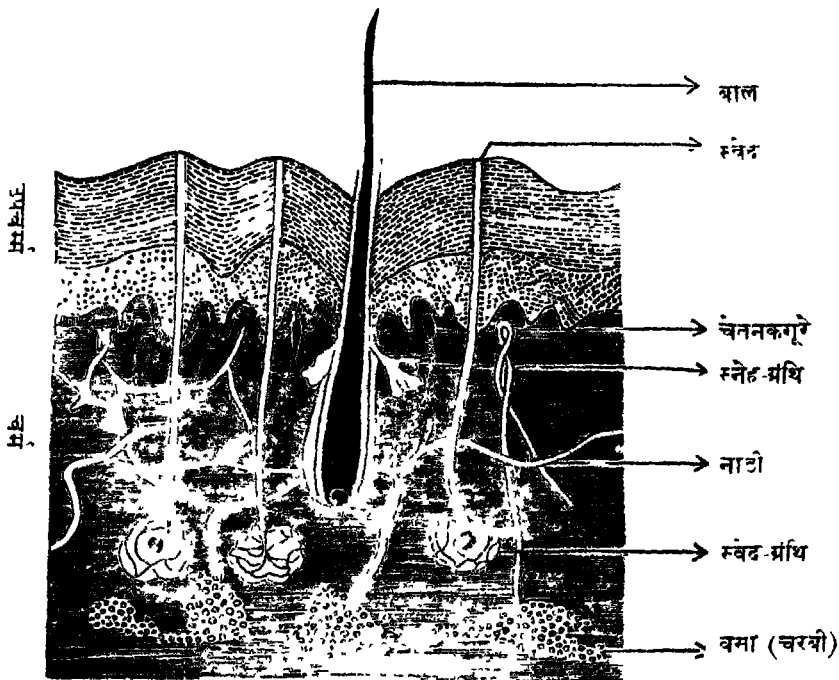
चित्र १२१—खाल की खड़ी काट। बहुत बढ़ाकर दिखायी हुई, जिसकी मोटाई बाल से नापा जा सकती है।

[परिषत् की कृपा

कागज से भी ज्यादा पतली हो सकती है और कहीं-कहीं, जैसे हथेली पर, एक सूत तक मोटी हो सकती है। यह भी सूक्ष्म सेलों की बनी हुई है जिनकी निरंतर वृद्धि और क्षय जारी रहता है। इसी खाल के भीतर पसीने की ग्रन्थियाँ हैं जो शरीर के तापक्रम को ठीक रखती हैं। इसी के भीतर चिकनाई पैदा करनेवाली वसा चरबी की ग्रन्थियाँ हैं और स्पर्श इन्द्रियों के लिए नाड़ी की घुंडियां या दाने हैं और छोटे छोटे गड्ढे हैं जिन्हें

रामकूप कहते हैं। भीतरी तल पर भी खाल की एक पर्त है। यह खाल जहाँ जरूरत है वहाँ बहुत चीमड़ी है और जहाँ चीमड़ेपन की आवश्यकता नहीं है वहाँ ऐसी सूक्ष्म और कोमल है कि साँस लेने के लिए हवा और पोषण के लिये वायव्य और द्रव आसानी के साथ प्रवेश कर सकते हैं और निकल सकते हैं। खाल से फुफ्फुसों और वृक्कों का हर तरह का काम निरंतर होता रहता है।

६—इंजन कैसे चलता है ?

कोयला-पानी लेनेवाले इंजन से मनुष्य की उपमा दी जाती है परन्तु यह रूपक पूरा नहीं है। जिस तरह मनुष्य, खाता पीता, चलता, फिरता, और काम करता हुआ इंजन सरीखा है उसी तरह उसके भीतर भाव है, स्मरण है, इच्छा है, विचार है, विवेक

चित्र १२२—खाल की खड़ी काट

है और अनुभव भी है। इस चलने फिरते इंजन की प्रेरणा करनेवाले ड्राइवर भी हैं जो इस इंजन से अलग नहीं हैं। कभी-कभी ऐसा जान पड़ता है, कि मन मौजूद नहीं है परन्तु वह शरीर में सम्भवतः बराबर बना रहता है। शरीर के भीतर अन्न पचाने की क्रिया रक्त का संचार और सांस लेने की क्रिया निरंतर होती रहती है। ऐसा जान पड़ता है कि इन सब क्रियाओं को बराबर जारी रखनेवाली कोई अज्ञात शक्ति है जो शरीर के भीतर निरंतर मृत्युकाल तक मौजूद रहती है। जिस तरह शरीर की बाहरी क्रियाएं होती रहती हैं उसी तरह भीतरी क्रियाएं भी जारी रहती हैं। भारतीय संस्कृति में भीतरी शरीर को अन्तःकरण कहा है। अन्तःकरण में भाव, विचार, स्मृति, इच्छा आदि सभी काम करने

रहते हैं। रूस के प्रसिद्ध शरीर-विज्ञानी प्रो० पफ़लाफने यह दिखाया है कि स्वास्थ्य के ऊपर मानसिक चित्त-वृत्तियों का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। यह तो सब को मालूम है कि पाचन अच्छा हो और रक्त का संचार ठीक हो रहा हो तो तबीयत बड़ी खुश रहती है परन्तु इसका उलटा भी ठीक ही है अर्थात् आदमी खुश रहता है तो उस की तन्दुरुस्ती भी ठीक रहती है। खोज से यह पता लगा है कि अच्छी चित्त-वृत्तियों से जिन से कि मनुष्य प्रसन्न रहता है पेट के पाचक रस अधिक बनते हैं, अन्न-मार्ग की गति बहुत संयत और

चित्र १२३—लार्ड लिस्टर [सं० १८८४-१९६९ वि०]

नियमित होती है जिस से भोजन नीचे की ओर नियम से जाता है, घुलने और पसरने-वाली वस्तुएं सहज में सोख ली जाती हैं। इसी के विपरीत ईर्षा आदि दुखी रखनेवाली चित्त-वृत्तियां, मानसिक हलचल और चिन्ता आदि से पाचन में रुकावट पड़ती है और पोषण की क्रिया सुख-पूर्वक नहीं होती।

भूखे आदमी के सामने जब ढंग से सजी-सजायी भोजन की थाली आती है तो मुँह में पानी भर आता है। यह सभी जानते हैं कि स्वादिष्ट अन्न के स्मरण से भी अथवा उसकी आशा से भी यही बात हो जाती है। पाचन की इस आरंभिक क्रिया के साथ साथ सभी इन्द्रियों के काम संबद्ध हैं। इसलिये प्रत्येक इन्द्रिय के सुखी रहने की क्रिया पाचन पर अच्छा प्रभाव डालती है। जो जितना ही खुश रहता है उस का पाचन उतना ही अच्छा रहता है।

उग्र वृत्तियो से शरीर की क्रियाओं को बड़ी उत्तेजना मिलती है। धार्मिक वृत्ति लिये हुए क्रोध के आवेग में उपवृक्क ग्रंथियो से जो वृक्कों के पास हैं उपवृक्किन रस अधिक मात्रा में बनने लगता है। इस हर्मोन के जरा सा बढ़ जाने से शरीर पर तरह तरह के प्रभाव पड़ते हैं। यह रक्त में बहकर छोटी रक्त-वाहिनियो में संकोच पैदा करता है। ऊपरवाले भागों में रक्त कम हो जाता है और भीतरी गहराई में अधिक रक्त का दबाव बढ़ जाता है। मासपेशियाँ उत्तेजित और ताजी हो जाती हैं और खून में शर्करा अधिक हो जाती है और खून अधिक जमने के योग्य बन जाता है। निदान सारा शरीर लड़ने को तैयार हो जाता है। भीतरी आवेग का बाहरी शरीर के ऊपर ऐसा प्रभाव पड़ा करता है। इसी तरह भय घृणा, प्रेम, विनोद, उत्साह, शोक, आश्चर्य, श्रद्धा आदि सभी भावों का जब शरीर में उद्वेग होता है तो भिन्न भिन्न ग्रंथियाँ उत्तेजित हो जाती हैं, रक्त में भाँति भाँति के रसो का और विशेषतया हार्मोनों का संचार होने लगता है और शरीर के बाहरी अंग उत्तेजित होकर स्वाभाविक भाव या अनुभव के रूप में भीतरी प्रभाव को प्रकट करने हैं। खुशी की खबर से मुरझाया हुआ मन प्रफुल्लित हो जाता है, बीमार अच्छा होने लगता है। किसी प्रिय स्वजन के आजाने से रोगी का स्वास्थ्य लौट आता है। भक्ति के आवेश में या वैराग्य मे प्रेरित होकर मनुष्य अपने जीवन को बदल देता है। यहाँ तक कि अत्यत शोक और अत्यंत हर्ष से मृत्यु तक हो जाती है।

नाड़ी संस्थान का बहुत बड़ा काम यह है कि शरीर के समस्त जीवन को साम्यावस्था में बनाये रखे। उसका भीतरी भावो से बहुत बड़ा घना सम्बन्ध मालूम होता है क्योंकि भावावेश होते ही सारे नाड़ी-संस्थान में एक विशेष प्रकार का स्फुरण होने लगता है। नाड़ी संस्थान का दूसरा नाम अपने यहा आयुर्वेद-ग्रंथों में वात-संस्थान शायद इसीलिए है कि वायु की तरह सूक्ष्म क्रियाओं से यह संस्थान-का-संस्थान प्रभावित हो जाता है और ताप और चाप का प्रभाव भी उसी ढंग से इस को प्रभावित करता है जैसे वायव्यो को। जब मनुष्य के हृदय में हँसी और खुशी की लहरें उठती रहती हैं तब यह वात-मंडल भी सुचारु रूप से आन्दोलित होता रहता है और सारे शरीर में स्वास्थ्य का सचार होता रहता है।

चौथा खंड

मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण

और

अध्यात्म-विज्ञान

सोलहवां अध्याय

शरीर की सरकार

(१)—इन्द्रियां और मस्तिष्क

मनोविज्ञान पर हाल में जो कुछ काम हुआ है उससे यही मालूम होता है कि हमारे अन्तःकरण में ऐसी भी बातें हैं जिन का हमें पता नहीं है परंतु जो हमारे स्वभाव के बनाने में उन शक्तियों से अधिक काम करती हैं जिन को हम प्रत्यक्ष रीति से जानते हैं। मानव अन्तःकरण जितना पहले समझा जाता था अब उतना ही नहीं रहा। उसका इतना अधिक विस्तार हो गया है कि जिस अंश को हम प्रत्यक्ष रीति से जानते हैं वह अत्यत सकुचित और छोटा हो गया है और वस्तुतः वह एक गहरे झील का ऊपरी तलमात्र की तरह जान पड़ता है।

अन्तःकरण का सब से अच्छा परिचय इद्रियों से मिलता है। हमारे भारतीय दर्शनों में यह बात सर्वत्र मानी गयी है कि इद्रियों का जो कुछ अनुभव होता है मन ही उस का करनेवाला है। मन जब तक दृष्टि में नहीं है तब तक आँखें खुली भी रहती हैं तो भी देख नहीं पातीं। कान में मन न हो तो शब्दों के होते हुए भी हम न कुछ सुन सकते हैं न समझ सकते हैं। इन इंद्रियों का विकास करोड़ों बरसों से बराबर होता आया है और वर्त्तमान रूप प्रकृति के बड़ी मुद्दत के बनाव चुनाव का परिणाम है। इन्हीं इद्रियों के द्वारा मन अपने उच्च और सूक्ष्म अनुभवों की रचना करता है। बाहरी संसार का यथार्थ चित्र अपने अन्तःकरण के भीतर हम इन्हीं इद्रियों के द्वारा ले जाते हैं। बाहरी परिस्थिति से हमारी इंद्रियों पर जो उत्तेजना होती है वह पहले बाहरी अवयवों को और फिर भीतरी को स्फुरित करती है। विशेष इंद्रियग्राम से नाड़ी का स्फुरण होता है और कान से शब्द के रूप में, आँख से चित्र के रूप में, नाक से गन्ध के रूप में, जिह्वा से स्वाद के रूप में, त्वचा से स्पर्श के रूप में मस्तिष्क तक नाड़ियों का स्फुरण पहुँचता है। इन में से आँख की इद्रिय ने हमारी जानकारी के क्षेत्र को बहुत विस्तृत कर दिया है। यही हाल कान की इंद्रिय का भी है यद्यपि श्रवण

वह इंद्रिय है जिस का विकास सब से पीछे हुआ है। यह बात सभी जानते हैं कि हमारी इंद्रियों की शक्ति बहुत थोड़ी है और अपूर्ण है। उनकी गवाही हमेशा सच्ची और पक्की नहीं हो सकती। यह भी नहीं कहा जा सकता कि हमारी इंद्रियों का विकास अपनी हद तक पहुँच चुका है क्योंकि इस का कोई प्रमाण नहीं है।

हमारा दिमाग़ भी करोड़ों बरस में विकास करते करते वर्तमान अवस्था को पहुँचा है। उसका आरम्भ जीव के साथ ही हुआ है और आज उसके लिये भी कोई नहीं कह सकता कि वह अपने विकास की हद को पहुँच चुका है। यह नाड़ी-चक्रों का एक तंत्र है जिस का हर एक भाग अपना कर्त्तव्य अलग रखता है, तो भी दूसरे भागों के साथ निरंतर संगति और सामंजस्य बरतता है। मस्तिष्क के बहुत से ऐसे अंग भी हैं जिन की क्रिया का पता अब तक नहीं लगा है परन्तु ऐसा विश्वास किया जाता है कि कोई अंश स्मृति के लिये होगा, कोई विवेक और विचार के लिये होगा और कोई अंश कल्पना के लिये होगा। ऐसा समझने में कोई हरज नहीं है कि मस्तिष्क के एक भाग में स्वरों की स्मृति होगी, दूसरे में शब्दों के नाद की स्मृति होगी और तीसरे में अक्षरों और शब्दों के कल्पना-चित्र स्थिर रूप से होंगे। यह नहीं कहा जा सकता कि मस्तिष्क का कोई विशेष अंश है जो बुद्धि का काम करता है। दिमाग़ का सारा छिलका, या शायद सारा नाड़ी-मंडल या समस्त शरीर बुद्धि का स्थान है। परंतु दिमाग सारे शरीर से फिर भी इस बात से भिन्न है कि वह अनुभवों को बराबर अपनी बही में चढ़ाता और खतियाता रहता है, नये कामों के जोड़-तोड़ लगाता रहता है और बराबर नये-नये ढंगों से शिक्षा ग्रहण करता रहता है। परन्तु ऐसा न समझना चाहिये कि दिमाग ही के सहारे यह सारा काम होता है। बुद्धि विवेक की सबसे बड़ी योग्यता मुख्यतः दिमाग पर ही निर्भर है।

२—अन्तःकरण का विकास

अंतःकरण से तात्पर्य है भीतरी इंद्रिय। मन, बुद्धि, चित्त, और अहंकार, हमारे दार्शनिक यह चार भीतरी इंद्रियां मानते हैं और इन्हें ही अंतःकरण कहते हैं। उन के निकट यह चारों सूक्ष्म शरीर के चार अंग हैं और जिस तरह जाग्रत अवस्था में यह चेतना इस अवस्था के सभी व्यापारों का ज्ञान और संचालन करती हुई मानी जाती है उसी तरह अंतःकरणोंवाले सूक्ष्म शरीर की चेतना अलग मानी जाती है और स्वप्नावस्था के सभी व्यापारों का ज्ञान और संचालन उस का काम होता है। यह हमारे दार्शनिक सिद्धांत हैं। परंतु विज्ञान तो दर्शन नहीं है। उस के अनुशीलन की विधि सर्वथा भिन्न है। वह विकास-क्रम में शरीर के साथ-साथ चेतना का भी विकास देखता है और उस पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करता है। वह चेतना को मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से भिन्न नहीं मानता। उस की परिभाषा में यह पांचों एक "मनस" शब्द में ही व्यक्त होते हैं। अभी तक विज्ञान ने आत्मा के संबंध में बहुत थोड़ा अन्वेषण कर पाया है। इसलिए अभी तक विज्ञान की यही प्रवृत्ति है कि वह "मनस" का भी विकास जड़-पदार्थ से मानता है क्योंकि विकास-क्रम में उसे यह

दिखाई पड़ता है कि आदि जीव के सूक्ष्म सेलों से जो शरीर का विकास होता आया है मन का विकास उस से बिल्कुल भिन्न नहीं है। यद्यपि वैज्ञानिक के निकट स्थूल और सूक्ष्म शरीरों का कोई विभाग नहीं है तथापि स्थूल शरीर और मन दोनों को जड़ मानते हुए भी उस ने इन के विकास का अलग-अलग विचार किया है। जीवविज्ञानियों के निकट चेतन मन का विकास भी जड़ पदार्थ से ही हुआ है।

चित्र १२४—फ़ान्टहाफ़ (१८५२-१९११)

भौतिक विज्ञान में सं० १९०१ में प्रथम नोबल पुरस्कार प्राप्तकर्त्ता। इनके घोल और वायव्य दशा में समता दिखायी। स्थिर-रूप-रसायन के आविष्कर्त्ता।

[विज्ञान परिषत् की कृपा

सृष्टि का आरम्भ भारतीय दार्शनिक बिल्कुल दूसरी तरह मानता है। मूल प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से बुद्धि, बुद्धि से मन, मन से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, इस तरह उत्तरोत्तर सूक्ष्म से स्थूल पदार्थ का विकास बताया है। यह तो जड़ प्रकृति का विकास हुआ। चेतन प्रकृति के शरीर का विकास परिणाम-वादवाले अत्यंत सूक्ष्म शरीरों से लेकर अत्यंत स्थूल शरीरों तक गिनाते हैं। यद्यपि विकास की यह विधि दार्शनिक है और योगियों को अनुभवगम्य होने से भारतीय

परिभाषा में सब तरह से वैज्ञानिक समझा जाता है तो भी पच्छाहीं विज्ञानियों ने अपनी रीति से इन विषयों के सम्बन्ध में इस प्रकार की खोज नहीं की है।

आधुनिक विज्ञानवालों ने मनोविकास के सम्बन्ध में जो धारणा रखी है वह इस प्रकार है। बाहरी परिस्थितियों से आदि जीवों में प्रभाव पड़ने पर आरम्भ काल में मास-पेशियों और नाड़ियों की गति से कुछ उत्तर अपने-आप दिये जाने लगे होंगे। प्राणी के शरीर में बाहरी उत्तेजनाओं के यह उत्तर धीरे-धीरे अंकित होने लगे और प्राणी की यह शक्ति उसी के साथ-साथ बढ़ने लगी। उत्तरों में विविधता आने लगी। परस्पर संगति का आरम्भ हुआ। काल पाकर इच्छा का भी प्रादुर्भाव हुआ। नाड़ीजाल बने और उन का विकास होने लगा। उन में अभिमुखता आने लगी। परावर्त्तन की क्रिया आरम्भ हो गयी। तात्पर्य यह कि बाहर की बारम्बार की उत्तेजना पर जंतुओं की मांसपेशियों और नाड़ियों की सेलों के अपने-आप हिल-डोलकर परावर्त्तित क्रिया होने से ठीक ठीक और उचित उत्तर मिलने लगे। अभिमुखता कुछ और ऊंचे दरजे पर आती है जब कि प्राणी का सारा शरीर किसी एक ओर को गति करने के लिये लाचार हो जाता है। यह अभिमुखता एक प्रकार के सभी प्राणियों में एक ही तरह की होती है। ज़रा और ऊँचे उठने पर जब हम चींटियों मधुमक्खियों और भिड़ों तक पहुँचते हैं तो सहज बुद्धि का शुद्ध प्रकाश पाते हैं। चिड़ियों और पिंडजों में साधारण बुद्धि के साथ इस का मेल दिखाई पड़ता है। नैसर्गिक बुद्धि या निसर्ग वह चीज नहीं है जो शिक्षा का मुहताज हो। उस का काम तो नाड़ीमंडल के अपने आप परावर्त्तन से होता रहता है और परम्परा से नाड़ीजाल का स्वभाव ऐसा पड़ जाता है कि बाहर की उत्तेजनाओं से परावर्त्तित क्रियाएं अपने-आप होती रहें। इन क्रियाओं में एक बात और भी है कि एक जाति के एक प्रकार के प्राणियों में इन का प्रकाश भी प्रायः एक ही तरह का होता है। आदि जीव से लेकर जंतु-कोटि के प्राणियों तक बराबर निसर्ग की प्रबलता देख पड़ती है, परन्तु ज्यों-ज्यों जन्तुओं से विकास-क्रम आगे बढ़ता है त्यों त्यों बुद्धि का विकास बढ़ता जाता है। यह बात हम विकास-खंड में दिखा आये हैं। वर्त्तमान में यह विकास सब से अधिक मनुष्य में पाया जाता है। परावर्त्तन की क्रिया, अभिमुखता और निसर्ग, यह तीनों परम्परा से सभी बड़े प्राणियों के सहज स्वभाव बन गये हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि क्या हम विज्ञान की दृष्टि से यह कह सकते हैं कि जिसे हम मन और बुद्धि और चित्त कहते हैं वह बीज रूप से आदि प्राणी में मौजूद थे या नहीं। अथवा प्रत्येक मनुष्य में सही, भ्रूण के बीचवाले सेल में क्या बीजरूप से मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार वा अन्तःकरण मौजूद रहता है? अमीबा जब शिकार को निकलता है या जैसा कि देखा गया है, शुक्राणु के मार्ग में रुकावट होने पर जब वह अपना मार्ग बदलकर आड़े-तिरछे चलता है तब क्या वह विचार का प्रयोग नहीं करता, क्या उस में अहंभाव नहीं होता, क्या वह नहीं सोचता या नहीं अनुभव करता? वैज्ञानिक की दृष्टि से यह बहुत सम्भव है कि जनन-सेल में बीज रूप से बुद्धि की भी सामग्री मौजूद हो।

३—जड़ और चेतन

चेतन क्या है, इस विषय पर विचार करना विज्ञान का कर्त्तव्य नहीं है। यह विषय दार्शनिक समझा जाता है। परन्तु चेतन और जड़ में भेद है या नहीं है, इस विषय पर वैज्ञानिकों में बड़ा मत-भेद है और अकेले इसी विषय पर यदि पूरा विचार करना अभीष्ट हो तो मोटी-मोटी पुस्तकें लिखी जा सकती हैं परन्तु तो भी झगड़े का अन्त नहीं हो सकता। साराश यह कि एक पक्ष यह निश्चय करता है कि मन या चेतना का प्रकट होना मस्तिष्क का कार्य-मात्र है और अन्तःकरण के सारे काम शरीर-यंत्र के ही सहारे होते हैं। और प्रत्येक विचार मस्तिष्क के भीतर यांत्रिक या रासायनिक विकार है, प्रत्येक कल्पना मस्तिष्क के सेल से छूटकर निकलती है, प्रत्येक भावावेग मस्तिष्क का उत्ताप है, प्रत्येक स्थायी भाव मस्तिष्क का विकार है। दूसरे पक्ष का यह कहना है कि ज्ञात और अविज्ञात दोनों प्रकार के कर्मों का प्रेरक कोई ऐसी सत्ता है जो जड़ पदार्थ से नितान्त भिन्न है, मस्तिष्क और नाड़ी-मडल और यह समूचा शरीर जिस का कार्य है और जो बीज रूप से भ्रूण में व्यापता है और जिस के,—चाहे किसी कारण से भी क्यों न हो,—चले जाने से इस शरीर का अन्त हो जाता है, इसी सत्ता से भाव और विचार का उद्भव होता है और शरीर के यंत्र द्वारा यह प्रकट होती है। मस्तिष्क यंत्र-मात्र है और किसी ने अभी तक यह नहीं सिद्ध कर पाया है कि अमुक-अमुक रासायनिक या यांत्रिक विकारों से विचारों और भावों का जन्म होता है। इस सत्ता से और शारीरिक यंत्र से प्राणशक्ति के द्वारा बड़ा घना सम्बन्ध है। प्राण-शक्ति ही इसे शरीर-यंत्र के साथ मिलाकर इसकी प्रेरणा से सारे काम करवाती है। इसे ही आत्मा कहते हैं, और इस दल को आत्मसत्तावादी कहते हैं।

एक तीसरा पक्ष है जो मन की सत्ता अलग मानता है और शरीर की अलग। तो भी ऐसी कल्पना करता है कि शरीर और मन दोनों का आरम्भ साथ ही साथ होता है और इन का पारस्परिक सम्बन्ध सारे जीवन ऐसा घनिष्ठ बना रहता है कि यह कहना बहुत कठिन होता है कि दोनों में कौन कारण है और कौन कार्य। कभी-कभी मन की प्रबलता होती है तो मन कारण समझा जाता है और कभी शरीर की क्रिया बड़ी प्रबल होती है तब मन कार्य प्रतीत होता है। इस में भी दो दल हैं। एक तो मानसिक जीवन को शारीरिक जीवन से सर्वथा भिन्न मानता है, मानो यह दोनों वह दो रेल-गाड़ियाँ हैं जो साथ-साथ समानान्तर पटरियों पर चल रही हैं, एक दूसरे से टकराने की क्रिया नहीं होती। और दूसरा दल मन और शरीर को एक ही सत्ता के दो पहलू ठहराता है। उस की धारणा है कि दोनों साथ ही साथ मिल कर काम करते हैं और विज्ञात और अविज्ञात दोनो तरह के कर्मों का एक-मात्र कारण मनःशरीर या शरीर-मनस् है।

जड़-सत्ता वाद के मूल पर तो अब कुठाराघात हो चुका है। बात यह है कि अब यह सिद्ध हो चुका है कि समस्त पदार्थों का मूल विद्युत है और यह नहीं कहा जा सकता है कि विद्युत् जड़ पदार्थ है। वर्त्तमान स्थिति यह है कि हम नहीं जानते कि विद्युत् क्या है। परन्तु इस में कोई सन्देह नहीं रह गया है कि पुराने जड़-सत्तावाद का पोषण अब

आधुनिक विज्ञान नहीं करता। जेम्स आदि विचारकों का यह मत है कि इस जगत् की वास्तविक सत्ता न तो जड़ है और न चेतन है। कोई अधिक अच्छा नाम न मिलने से इसे "उदासीन भाव" या "उदासीन सत्ता" कह सकते हैं। इस विषय का समझना भी बहुत कठिन है, तो भी यदि हम मान लें कि समस्त जड़ और चेतन की घटनाओं का आधार

चित्र १२५ – एमिलफिशर [सं० १९०९—१९७६ वि०]

जर्म्मन रासायनिक। स० १९५९ में नोबल पुरस्कार पाया। सैकड़ों नयी प्रकार की शर्कराओं का निर्माण किया। रासायनिक क्षेत्र में अद्भुत काम किया।

[परिषत् की कृपा

कोई दोनों ओर से परे चेतन या अचेतन सत्ता है जिस के अधिष्ठान या सहारे से सारी मानसिक और शारीरिक घटनाएं घटती हैं। मन और शरीर दोनों उस के दो पहलू हैं। बरट्रेन्ड रसेलने मनोविश्लेषण नामक अपने ग्रंथ में इस समस्या को इस तरह सुलझाया है। भारतीय दर्शनों के अनुसार भी अपरा और परा यह दोनों परमात्मा की प्रकृति हैं। अपरा जड़ प्रकृति है और परा जीव प्रकृति है जो जगत को धारण करती है। यह दोनों प्रकृतियां परमात्मा की हैं और उसी के सहारे इन की सत्ता है। *

* श्री मद्भगवद्गीता अध्याय ७, श्लोक ४, ५, ६।

४—मानसिक क्रियाएं

मनोविज्ञान का विषय जीवित प्राणियों के स्वभाव का और चेतना का अनुशीलन है। मस्तिष्क के ही पास नाड़ीजाल के वह सभी स्पन्दन या स्फुरण पहुंचते हैं जिन से चेतना वा ज्ञान होता है। इसीलिये हम यह कह सकते हैं कि चेतना का केन्द्र मस्तिष्क है। इस से यह समस्या नहीं सुलझती कि चेतना वस्तुतः कैसे पैदा होती है। ग्रेंजर ने अपने मनोविज्ञान में लिखा है कि "पुराने मनोवैज्ञानिक कहते थे कि प्रत्यक्षीकरण, समवधारणा, कल्पना, विवेक, और आकांक्षा यह भी मानसिक शक्तियाँ हैं जो भिन्न-भिन्न काम करती हैं। परन्तु आज ऐसा नहीं समझा जाता कि मन की आकांक्षा एक जगह है विवेक दूसरी जगह है अन्तरात्मा तीसरी जगह है और इसी तरह हमारी ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां की तरह यह शक्तियां अलग-अलग बंटी हुई हैं। हमारा अन्तःकरण सम्पूर्ण है और एक ही है। विवेचना, आकांक्षा, कल्पना, समवधारणा आदि वही एक ही करता है। विचारभाव और इच्छा उस में इस तरह अलग अलग नहीं हैं जैसे पिच्चीकारी में पत्थर के टुकड़े अलग अलग लगे रहते हैं और बिना दूसरे टुकड़ों को नष्ट किये एक-एक करके निकाले जा सकते हैं। वह शरीर की उन क्रियाओं की तरह परस्पर सबद्ध हैं जो बिना सब की सहकारिता के हो नहीं सकतीं।"

मानसिक क्रियाओं को एक और तरह से वर्णन किया जाता है। प्रत्येक विचार दो दशाओं वा रूपों में रह सकते हैं, एक तो चेतन की दशा हो सकती है और दूसरी अचेतन की। चेतन की दशा ऐसी है कि मानों एक रौशन कमरा है जिस के भीतर विचार एक-एक करके आते हैं, चमक उठते हैं और थोड़े काल तक काम करते हैं। दूसरे प्रकार के विचार अचेतन हैं अर्थात् यह एक धुंधले कमरे में रहते हैं अथवा उस प्रकाशवाले कमरे में कुछ देर रह कर और काम करके स्मृति के धुंधले मन्दिर में आकर ठहर जाते हैं और फिर ऐसे मौके की तलाश में रहा करते हैं कि फिर उसी उजाले कमरे में जायं और काम करें। इस धुंधले मन्दिर में यह विचार आपस में बहुत सकीर्ण समूह बनाकर और बंधकर रहते हैं। विचारों का यह समूह स्मृति-मन्दिर में रहता हुआ अन्तःकरण के ढांचे को बनाता है। और मानसिक क्रिया यही है कि प्रत्येक विचार चेतना के प्रकाश में जब आने लगता है तो अपने साथ-साथ अपने से संबद्ध और विचारों को भी खींच लाता है। यह मकडुगाल का मत है।

यद्यपि हम जानते हैं कि जड़ पदार्थों की तरह मनस के सम्बन्ध में हम ऐसी कल्पना नहीं कर सकते कि वह भी देश घेरता है तो भी समझने के सुभीते के लिए हम यह कल्पना कर लें तो अच्छा होगा कि हमारा चित्त तीन परतों में बैठा हुआ है। सब से ऊपर की परत सचेत जीवन की है जो मानो पूर्ण प्रकाशित मन्दिर है जिस में साफ दिखाई पड़ता है कि क्या हो रहा है। जब कभी हमें अपने व्यवहार का कारण खोजना होता है, तब हम साधारणतया इसी परत में तलाश करते हैं और जैसा कि आगे चलकर मालूम होगा बहुधा इस परत के बताये हुए कारण ठीक नहीं होते। इस परत से कुछ नीचे एक परत ऐसी है जो अर्द्धचेतन अवस्था की है। इस परत तक हम यत्न करने से पहुँच सकते हैं। इसी में वह सब बातें जमा रहती हैं जो हमारे चित्त के सामने तो मौजूद नहीं रहतीं परन्तु जिन्हें हम कोशिश करके याद

कर सकते हैं। कभी कभी बहुत ज़्यादा कोशिश करनी पड़ती है और कभी थोड़ी ही कोशिश में काम बन जाता है। तीसरी परत जो इस से भी नीचे है अचेत दशा की है। साधारणतया हमारे सचेत मन का इस परत तक पहुँचना सर्वथा असम्भव होता है। परन्तु यही परत उन मानसिक तत्त्वों का स्थान है जिन का सम्बन्ध महत्त्व के प्राथमिक निसर्गों से है। यही परत मानसिक शक्ति का बड़ा भारी आगार है इस परत के भीतर जितने काम हो रहे हैं उन का हमें बिल्कुल पता नहीं लगता। तो भी सूक्ष्म निरीक्षण से और सपनों से, जैसा कि आगे चल कर मालूम होगा इस के कामों के सम्बन्ध में हम कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं। यही अचेतन परत व्यक्ति के मानसिक जीवन की नाव है।

५—भाव-सांकर्य्य

मानसिक विकार कभी अकेले नहीं होते। किसी किसी सकीर्ण संयोग के साथ ही हुआ करते हैं। यदि हम मन को या मानसिक तत्त्वों को एक जाल की तरह समझें तो अनुचित न होगा क्योंकि प्रत्येक विचार जब कभी चित्त में उठता है तो और भी अनेक विचारों को अपने साथसाथ घसीटे लाता है। सच तो यह है कि ऐसा न हो तो जीवन का व्यापार ही न चले। यदि कोई विचार अकेला ही अकेला आवे और कई विचार असम्बद्ध और असंगत आ जाया करें तो राह चलना भी कठिन हो जाय और हम कोई काम ठीक तरह पर न कर सकें। कई सुसंगत विचार एक साथ कुछ कमोबेश ढीले-ढीले से गुथे हुए से रहते हैं। जो काम पड़ने पर एक साथ आया करते हैं। इस समूहन को सांकर्य्य वा विचार-सांकर्य्य कहते हैं। एक पेड़ को देखकर या फूल को सूँघकर बरसों पहले का भूला हुआ दृश्य एकाएकी चित्त के उजाले मन्दिर में आ जाता है। किसी एक ही वाक्य को सुनकर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के मन में भिन्न भिन्न भाव उत्पन्न हो जाते हैं। यह विचार सांकर्य्य की महिमा है। मनुष्य की शिक्षा से उस के व्यवसाय से उस के रहन सहन में बहुत से विशेष साकर्य्य उत्पन्न हो जाते हैं। परन्तु कुछ व्यापक विचार-साकर्य्य भी हैं जिन में से तीन प्रधान हैं, क्योंकि इन का सम्बन्ध तीन बड़े प्राथमिक निसर्गों या निसर्ग समूहों से है एक तो काम-साकर्य्य, दूसरे अहंकार-साकर्य्य और तीसरे जाति साकर्य्य।

आदि प्राणी में भी आत्मरक्षा परम्परारक्षा और वंशरक्षा की नैसर्गिक इच्छाएं वा प्रवृत्तियां विद्यमान थीं। न होता तो सजीव सृष्टि का क्रम चल न सकता था। आत्मरक्षा में अपने लिये पालन-पोषण का प्रबंध और शत्रुओं से अपना बचाव शामिल था। अपने आपे का इस तरह का विचार अहंभाव या अहंकार कहलाता है। इस का विकास निसर्ग की अवस्था से होते होते मनुष्य में अहंकार-साकर्य के रूप में परिणत हो गया है। आज भी अहंभाव मनुष्य में नैसर्गिक रूप में ही है। अपने पालन-पोषण, अपनी रक्षा, अपना सुख और सुभीता और इस ढग के अपने लिये सब तरह के विचार अहं मम भाव में आ जाते हैं। हमारे दार्शनिक साहित्य में जिस भाव को एक शब्द अहंकार से व्यक्त करते हैं उसी को पाश्चात्य मनोविज्ञानवाले अहंकार-साकर्य कहते हैं। "साकर्य" इसलिये कि अह-

कार सम्बन्धी सभी तरह के आनुषंगिक विचार सांकर्य में शामिल होते हैं। अहंभाव चेतना-वाले पर्त के नीचे के तत्त्वों से बना हुआ है। यह हमारे बे-जाने ही बराबर हमारे साथ लगा रहता है। किसी मनुष्य में इस की अधिक प्रबलता होती है और किसी में कम। स्वार्थ-परता, अभिमान, क्रोध, लोभ, मात्सर्य, मद इत्यादि की अधिकता या कमी से इस सांकर्य का पता लगता है।

चित्र १२६—जेम्स क्लार्क मैक्सवेल [सं० १८८८-१९३८ वि०]

इन्होंने सिद्ध किया कि प्रकाश और विद्युत् की लहरें विद्युच्चुम्बकीय लहरें हैं। यह स्काटलैंड का विद्वान बेतार के तार का मूल आविष्कारक समझा जाता है।

[परिषत् की कृपा

परम्परा की रक्षा भी अत्यन्त प्राचीन निसर्ग है। इसी भाव के रहने से जीव में अपनी वंश-रक्षा की प्रवृत्ति होती है। यही प्रवृत्ति विकास पाते पाते दम्पती से जन्म लेनेवाले प्राणियों में कामवासना के रूप में परिणत हुई। इस के साथ अनेक प्रकार के भावों का भी मेल हो गया। भारतीय काव्य साहित्य में जो शृंगार-रस सम्बन्धी आलम्बन और उद्दीपन विभाव तथा संचारी भाव बतलाये गये हैं वह सब के-सब एक काम-सांकर्य या कामवासना के अन्तर्गत हैं। किसी विशेष मनुष्य से काम सांकर्यवाले विचारों में कौन-कौन से अंग मौजूद हैं

यह बात उस की पारस्परिक विशेषताओं और उस के अपने पूर्वचरित पर निर्भर है। इस में सन्देह नहीं कि इस विचार-साकर्य में भावावेगों की बड़ी शक्ति है। इस का भी मूल निसर्ग में ही और इस के विचार सभी परतों में मिलते हैं।

जिस मनुष्य में अहभाव की प्रबलता होती है वह रचना करने में अधिक प्रवृत्त होता है और यश कमाने का उसे बड़ा लालच होता है। इसीलिए वह बड़ी इमारतें बनाना चाहता है, कविता की रचना करता है, मौलिक आविष्कारों और खोजों में लगा रहता है। उसी तरह जिस मनुष्य में कामभाव प्रबल है वह सुंदर सन्तान की उत्पत्ति की ओर प्रवृत्त होता है, सुंदर और ललित कलाओं में उस का मन अधिक लगता है, वह इंद्रियों के सुख के पदार्थों का अधिक संचय करता है, और प्रधानतः सौन्दर्य और सौख्य का लोभी होता है।

अहभाव सब से प्राचीन और गंभीर निसर्ग है। कामभाव उस के पीछे का है। तीसरा भाव या साकर्य जाति या गोत्र-साकर्य है। इस भाव का आधार यह है कि मनुष्य किसी जाति या समाज के भीतर ही रहना चाहता है। इस भाव का आरम्भ सृष्टि में तब हुआ होगा जब आत्मरक्षा के सुभीते के लिये प्राणियों ने मिल-जुलकर रहना ठीक समझा अथवा स्वभाव से ही अपने वंश या जातिवालों के साथ रहने लगा। मनुष्य में यह भाव भी बहुत प्रबल है। जाति या समाज के भीतर रहने से जितने लाभ हैं उन्हें तो सब जानते हैं। मनुष्य के मानसिक जीवन के ऊपर समाजगत जीवन के निसर्ग का जो प्रभाव पड़ता है वह सब से अधिक महत्व का है। सब से बड़ी बात यह है कि जातिगत भाव से बड़े अच्छे परिमाण में "बोध-प्रवणता" आ जाती है। जाति या समाज की अनेक बातों को व्यक्ति बड़ी जल्दी समझ लेता है और उस के अनुकूल आचरण करने के लिये तैयार हो जाता है। उसे समाज की अनेक ऐसी बातें भी सुबोध लगती हैं जिन्हें उस ने कभी विवेक की कसौटी पर नहीं कसा है। बेजेट ने लिखा है कि मनुष्य के सौ में निन्नानबे काम श्रद्धा-भाव पर अवलम्बित होते हैं। बुद्धि पर सैकड़ा पीछे शायद एक काम निर्भर होगा। समाज में जिन बातों को हम पुरानी परम्परा से मानते चले आये हैं उन्हें हम आंख मूंदकर मान लेते हैं क्योंकि वह बातें साफ-साफ ठीक और अच्छी जँच जाती हैं। उन के पीछे नैसर्गिक बल लगा हुआ है जो उन्हें श्रद्धा और विश्वास का पात्र बनाये हुए है। इसी जाति-साकर्य के कारण मनुष्य अपने विश्वासों को तर्क की कसौटी पर नहीं कसता।

६—दो प्रकार के मनुष्य

साकर्यों पर यहां अधिक विस्तार नहीं किया जा सकता परंतु श्री टाटर के अनुसार हम सब मनुष्यों को दो विभागों में बांट सकते हैं, एक स्थायी स्वभाववाले और दूसरे अस्थायी स्वभाववाले।

स्थायी स्वभाववालों को देश या राष्ट्र का स्तम्भ समझना चाहिये। ऐसा मनुष्य बड़ा अध्यवसायी दृढ़-संकल्प और दृढ़-विश्वासोंवाला आदमी होता है। वह जिस जाति

का होता है उस की परम्परा और नीति से उसे पूरा परिचय होता है, उस के उद्देश्यों को समाज समझ सकता है और पसंद करता है, और उन के पालन में वह अविचल रूप से लगा रहता है। वह आचारनीति और राजनीति के प्रश्नों पर स्थिर सम्मति रखता है। ऐसे तथा इसी तरह के और विषयों में भी उसे यह सन्देह नहीं हुआ करता कि क्या ठीक है और क्या नहीं ठीक है। परन्तु इस प्रकार के मनुष्यों में एक बड़ा दोष यह होता है कि वह अनुभव की ओर ध्यान नहीं देते और बिल्कुल नये ढंग से किसी समस्या पर विचार नहीं कर सकते। उलटे यदि मानी हुई बातों पर जैसे राजनीति या आचारनीति के सिद्धांतों पर कोई शंका उठावे और तर्क की कसौटी पर कसना चाहे तो इस प्रकार के मनुष्य उसे मूर्खता या पाजीपन या दोनों बातें समझेंगे। जो चाल और विचार मुद्दतों से प्रचलित हैं उन्हें बदलने की चाहे कितनी ही जरूरत हो परन्तु इस प्रकार के मनुष्य बदलने को राजी न होंगे क्योंकि ऐसे मनुष्यों की संख्या बहुत बड़ी होती है और वह पुराणप्रिय होते हैं। सारांश यह कि उन में जातिभाव या जाति-सांकर्य की प्रबलता होती है। दूसरा प्रकार उन मनुष्यों का है जो स्थायी प्रकार से बिल्कुल विरुद्ध स्वभाव रखते हैं। अस्थायी स्वभाववाले मनुष्यों में उत्साह तो बहुत होता है परन्तु दृढ़ विश्वास किसी बात पर नहीं होता। वह किसी नये काम को उठा लेने के लिये बड़ी जल्दी राजी किये जा सकते हैं परंतु उतनी ही जल्दी उसे छोड़ने को भी तैयार हो जाते हैं। वह काम तो बहुत से उठा लेते हैं परंतु उन्हें अंत तक पहुँचाने और सफल बनाने में लगे रहना उन के लिये मुश्किल बात है। वह आरंभ-शूर होते हैं परन्तु भर्तृहरि के बताये उन उत्तम जनों में नहीं हैं जो बिना पूरा किये नहीं छोड़ते। उन का सकल्प दृढ़ नहीं होता और वे समाज की सभी बातों पर उस के निश्चय को नहीं मान सकते। परन्तु उन में यह बड़ा भारी गुण होता है कि वह अनुभवों से लाभ उठाते रहते हैं और यही एक तरह का दोष भी है क्योंकि वह अपनी राय बराबर बदलते रहते हैं। किसी बात पर स्थिर नहीं रहते। अस्थायी स्वभाव का मनुष्य अधिक विवेकी होता है और स्थायी स्वभाववाला प्रायः उसे नहीं चाहता और उस से ईर्षा और घृणा रखता है। वास्तविक बात यह है कि आदर्श पुरुष या पुरुषोत्तम न तो स्थायी प्रकार का मनुष्य है और न अस्थायी। आदर्श पुरुषोत्तम दोनों के गुणों का ग्रहण करता है और दोषों का त्याग।

भावों वा सांकर्यों में* परस्पर विरोध भी होता है, और सब से अधिक वा पूर्ण स्वस्थचित्त वही है जिस ने अपने विरोधी भावों में सामंजस्य स्थापित कर रखा है। परन्तु ऐसा चित्त बहुत कम देखा जाता है। साधारणतया एक ही मनुष्य के अनेक विरोधी भाव होते हैं और जब एक ही समय में दो या अधिक परस्पर विरोधी भाव उठते हैं तो उसे गाढ़े असमंजस में डाल देते हैं। आदमी में जो स्वार्थ भाव उठता है वह उस के अहंभाव या कामभाव से प्रेरित होता है। परंतु उस के जातिभाव से प्रेरित समाज के स्थापित नियमों को

*'काम्प्लेक्स' के लिये किसी-किसी ने "भाव" शब्द भी प्रयुक्त किया है, परन्तु इस शब्द का अनुवाद मुझे "सांकर्य" ही ठीक जँचता है। लेखक।

मान्यता उस में परार्थभाव भी उत्पन्न करती है। इस तरह स्वार्थ और परार्थ दोनों भावों में तनातनी हो जाती है। कहानियों और उपन्यासों के लिखनेवाले बड़े चाव से विरोधी भावों का प्रदर्शन करते हैं। सन्यास लेनेवाले के मन में एक ओर से वैराग्य और दूसरी ओर से संसार का मोह आपस में तुमुल युद्ध ठान देते हैं। सत्याग्रह सग्राम में एक ओर से देश-भक्ति का भाव और दूसरी ओर कुटुम्ब के कष्टों का ख्याल, दोनों का परस्पर संघर्ष होता है।

इन झगड़ों के चुकाने के लिए मुख्यतः दो उपाय किये जाते हैं। एक तो यह है कि विवेक से काम लिया जाय और दूसरे यह कि किसी-न-किसी भाव को दबाया जाय। विवेक से काम लेने में बहुधा कार्यों के लिये ऐसे हेतु पैदा कर दिये जाते हैं जिन का कार्य के मानसिक कारणों से कोई सम्बन्ध नहीं होता, परन्तु जिन से मनुष्य को पीछे से लजाना नहीं पड़ता। जैसे न्याय की ओट में बदला लेने की पाशविक इच्छा पूरी की जा सकती है और समाज के लाभ के बहाने अत्यंत स्वार्थपरायण लोभ और लालच भी दिखाने में हरज नहीं समझा जाता। दबाने की विधि दूसरी है। मनुष्य एक भावावेश को बिल्कुल बिसरा देने का निश्चय कर लेता है, दिल से निकाल डालता है। परन्तु इस से वह भाव नष्ट नहीं हो जाता। वह केवल अविज्ञात या अचेतन परत के नीचे दब जाता है। तब भी वह कर्मशील रहता है और अपने को भाँति-भाँति के रूपों में प्रकट करता है, और साधारण भूल-चूक से लेकर अपस्मार और पागलपन तक में उस का प्रकाश होता है। आदमी ऐसे निश्चित काम को भूल जाता है जिस के अप्रिय परिणाम का उसे भय होता है। जिन पुर्ज़ों को चुकाना है उन का अस्तित्व भूल जाना मामूली बात है। परन्तु यह तो जान-बूझ कर भूल जाना हुआ। परंतु एक और तरह की भूल होती है जो इस कारण हुआ करती है कि घटना की छाप मानस पर नहीं पड़ी। यह भूल जबरदस्ती हो जाती है। दबे हुए भाव लिखने और बोलने में भूल-चूक के रूप में उभड़ आते हैं। आदमी कहने को होता है कुछ और कह जाता है बिल्कुल विपरीत। इसी तरह और का और लिख जाता है। भावों के दबाने में यही एक दोष है। परंतु यह उतना बड़ा दोष नहीं है जितना कि किसी न्याय या तर्क के झूठ बहाने से किसी एक भाव को प्रबल होने देना।

सत्रहवां अध्याय

मनोविश्लेषण और अध्यात्म-विज्ञान

१—प्रोफ़ेसर .फ्रुइड की धारणाएँ

वीना के प्रोफेसर फ्रुइड ने अपनी नयी खोजों से मनोविज्ञान की एक नयी शाखा उत्पन्न की है। इस शाखा का विषय मुख्यतः अचेतन अन्तःकरण है। फ्रुइड की कुछ धारणाएं तो वैज्ञानिक जगत ने मान ली हैं और बहुतेरी ऐसी भी हैं जो अभी तक स्वीकृत नहीं हुई हैं। इस नयी शाखा की सब से बड़ी उपयोगिता शिक्षक और चिकित्सक के काम में है।

मुख्य धारणा यह है कि हमारे अन्तःकरण का एक बहुत बड़ा अंश ऐसा है जिस का हम को बिल्कुल पता नहीं है, परन्तु उसी के प्रभाव से हम सपना देखते हैं। सपने इसी बड़े अंश की कर्मण्यता से पैदा होते हैं। वात रोगों से पीड़ित होकर जिन रोगियों के अंगों की क्रिया बिगड़ गयी थी .फ्रुइड ने उन की जाँच की तो पता लगा कि लक़वा, अंधापन, बहरापन और गूंगापन आदि अनेक रोग बहुधा शरीर के बाहर की किसी घटना के प्रभाव से हो गये हैं। जैसे बरसों पहले किसी रोगी ने अत्यन्त कष्ट और पीड़ाजनक कोई बात देखी और उस के बाद ही वह अन्धा हो गया। अपने होश-हवास में रोगी यह कभी न समझता था कि मेरे अन्धेपन से उस घटना का कोई भी सम्बन्ध है, परन्तु जब कभी रोगी सम्मोहन क्रिया से सुषुप्त अवस्था में पहुँचाया जाता था तो बहुधा पता लगता था कि उस के अन्धेपन का कारण वही घटना है। कभी कभी रोगी स्वयं इसी मतलब का सपना देखता था और वर्णन करता था, परन्तु उस की साधारण चेतना उस के रोग और घटना का कार्य-कारण सम्बन्ध होना नहीं मानती थी।

.फ्रुइड ने यह भी देखा कि बड़े कष्टदायक अनुभव जो जागते हुए होश-हवास में याद नहीं आते थे साधारण स्वस्थ मनुष्यों को थोड़े में बहुत बदले हुए रूप में सपने में बहुत दिखाई देते थे। और साधारण असाधारण दोनों तरह के मनुष्यों के सपने की जब

व्याख्या की जाती थी तब बराबर यही पता लगता था कि उस व्यक्ति की कोई ऐसी इच्छा या अभिलाषा अवश्य थी जिसे शारीरिक या नैतिक या सामाजिक हेतुओं से वह जाग्रत अवस्था में पूरी न कर सकता था। सपने में उस की मूर्त्ति-कल्पना का चित्रण होता था। जान-बूझ

चित्र १२७—ऐल्फ्रे ऐडलर [संवत् १९१७-१९८४ वि०]

[परिषद् की कृपा

कर या नैसर्गिक रीति से भूल जाने की क्रिया को फ्रॉइड ने भावों को दबा देना कहा है। इस तरह से दबी हुई स्मृतियों के समूह का नाम उस ने अचेतन रक्खा क्योंकि एक इच्छा के दबाने में वह सारे अनुभव भी दब जाते हैं जिनके कारण वह इच्छा पैदा हुई। यही बात है कि प्राय: हमें अपने अत्यन्त बचपन की याद बिल्कुल नहीं आती।

२—सुषुप्त चेतना या तैजस

भारतीय प्राचीन मनोविज्ञानियों ने जाग्रत अवस्था की चेतना को प्राज्ञ और

स्वप्नावस्था की चेतना को तैजस कहा है। यह एक तरह की सोयी हुई चेतना है जो सपने में मानों जग पड़ती है। पाश्चात्य विज्ञानी इसे सुषुप्त या अन्तःचेतना कहते हैं। कोई शब्द ठीक जबान पर है पर याद नहीं आता। सोचने पर उस का पूरा ख्याल आ जाता है और ठीक-ठीक कहा भी जा सकता है। यह क्रिया जाग्रत चेतना की नहीं है। मुझे कोई खास काम करना है परन्तु घंटों तक उस का ख्याल नहीं आता, पर उस के कर डालने घडी ज्योंही पास आती है उस काम का ख्याल भी दिमाग में सीधे चला आता है। कोई कठिनाई नहीं होती। मैं ठीक चार बजे जाग जाना चाहता हूँ। ठीक चार का घंटा बजते हुए या उस से कुछ मिनिट पहले ही मैं जाग पडता हूँ। यह उस अवस्था के कुछ उदाहरण हैं जिस में कि विचार देखने में तो चेतना के भीतर नहीं हैं परन्तु सर्वथा बाहर भी नहीं है। इसी के लिए अन्तःचेतना शब्द आया है।

फ्रूइड की धारणा है कि भूतकाल की सोयी हुई याद इसी अन्तःचेतनावाली परत में इकट्ठी जमा है। यहां हमारे दबे हुए भाव भी इकट्ठे हैं। भावों या विचारों को दबाने की कभी हम जानबूझकर कोशिश करते हैं और कभी अपने आप कोशिश हो जाती है। भाव और विचार बड़ी गहराई में दब जाते हैं। तो भी वह बराबर जाग्रत अवस्था में निकलने की कोशिश में रहते हैं और जाग्रत दशा में यही दबे भाव और विचार एक हद तक हमारे मानसिक जीवन पर प्रभाव डालते रहते हैं यद्यपि हमें इस का पता नहीं चलता। साथ ही दबे हुए भावों को कुछ संताप भी होता रहता है।

३—मानसिक रोग

यूरोप के पिछले महासमर में फौजी अस्पतालों में वात-रोगियों की चिकित्सा में बड़े बड़े डाक्टरों को यह अनुभव हुआ कि बहुत से मानसिक रोग ऐसे भावोद्वेगों के रुक जाने से हो गये हैं जिन को कि रोगी बिल्कुल भूल गया है और जिन को बहुत काल बीत चुका है। मानसिक-चिकित्सा-विशारदों ने ऐसी भूली हुई बातों और भावों को फिर से जगाकर मन को साफ कर दिया है और रोगी बिल्कुल अच्छे हो गये हैं। जान पड़ता है कि भावोद्वेगों के अत्यधिक दबे रहने से वात-संस्थान क्षुब्ध हो गया है। डाक्टरों ने जब उन दबे भावों को बाहर करके दबाव को कम कर दिया तो रोगी को आराम हो गया।

डाक्टर रिवर्स ने लैंसेट में बड़े विस्तार से एक रोगी का हाल दिया है जो एक भूले हुए अनुभव के कारण बीमार पड़ा था। हम यहां उसे संक्षेप से देते हैं। एक नौजवान डाक्टर था जिसे युद्ध के पहले से ही सुरंग और तंग कोठरियां जैसी बन्द जगहों से बड़ा भय लगता था। वह कभी नल-रेल से यात्रा नहीं करता था और जब कभी रेलगाड़ी सुरंग में से जाती थी तो उसे बड़ा डर लगता था। लड़ाई में एक बार उसे एक गड्ढे में जाती बेर एक फावड़ा दिया गया और कहा गया कि अगर मिट्टी के भीतर दब जाना तो इसी से खोद कर निकल आना। इस से उस की नींद बहुत बेचैनी की होने लगी और उस का स्वास्थ्य इतना बिगड़ गया कि उसे बीमारी के कारण अपने घर चला जाना पड़ा। कोशिश

की गयी कि वह युद्ध को बिल्कुल भूल जाय और मनोरंजक विषयों में ही मन लगावे, परन्तु यह उपाय व्यर्थ हुआ। उसे युद्ध के बड़े भयानक सपने आते थे जिन से वह जग पड़ता था। उस समय वह पसीने से तर होता था और समझता था कि मैं मर रहा हूँ। ऐसी दशा में डाक्टर रिवर्स ने उस का इलाज शुरू किया। उन्होंने उसे सलाह दी कि कोशिश करके जो सपने देखो उन्हें याद करो और जब सपनों पर ख्याल कर रहे हो उस समय जो-जो भूली बातें याद आवें उन्हें लिखते जाओ। कुछ ही बाद उस ने सपना देखा और जब वह पड़े-पड़े सपने को सोच रहा था उसे याद आया कि जब मैं तीन बरस का था तब बच्चों के साथ एक बूढ़े कंगाल पड़ोसी के यहां अपने घर की पुरानी बेकार चीजें ले जाया करता था और वह पैसे देता था। एक दिन अकेला पड़ गया। लौटती बेर उस की कोठरी के अँधेरे लंबे रास्ते में पड़ गया। दरवाजा बन्द हो गया था। मैं खोल न सकता था। पीछे से एक कुत्ता उसी ओर आया और मुझ पर भूँकने लगा। कुछ देर में मुझे इस महा भयानक स्थिति से छुटकारा मिला। यह ऐसी घटना थी जिसे भूलना असंभव था, परन्तु इतने काल तक यह ख्याल दबा रहा। फिर एक सपने से जो वह रोगी उठा तो "मक्खन, मक्खन" चिल्लाता उठा। एकाएकी उसे ख्याल आया कि उसे बूढ़े का नाम "मक्खन" था। रोगी के माता पिता ने भी इस बात का समर्थन किया कि पड़ोस में मक्खन नाम का एक दरिद्र बूढ़ा रहता था। इस याद के लौट आने का रोगी पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा। कुछ ही दिनों में बन्द जगह का भय उस के मन से एक दम दूर हो गया और वह सुरंगों और नलवाली रेलों में मजे से यात्रा करने लगा। यहाँ बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि जाग्रत जीवन पर एक बिल्कुल भूले हुए अनुभव का कितना बड़ा प्रभाव पड़ता है। और भी विचारणीय बातें यह हैं कि (१) असली घटना बड़े भावोद्वेग की और बड़ी बेचैन करनेवाली थी, (२) सपने पर सोचने से ही वह भूला अनुभव फिर याद आया (३) बेकार डर को दूर करने की जितनी कोशिशें जाग्रत चेतना करती थी व्यर्थ जाती थीं और (४) बारम्बार के भयोद्वेग से वह भयानक अनुभव जाग्रत चेतन में उभड़ पड़ता था, यद्यपि इतना दब गया था कि जाग्रत चेतन को उस की याद बाकी न थी। इस भयोद्वेग का उद्दीपन बन्द जगहों के देखने से हो जाता था।

मानसिक चिकित्सा के इस तरह के उदाहरण इस सुषुप्त चेतना का अस्तित्व सिद्ध करते हैं। उन पर विस्तार की यहां जरूरत नहीं है। एक कुतूहल की बात यह है कि इस नयी विश्लेषण विधि का स्वप्नों की व्याख्या करने में अब बहुत उपयोग किया जा रहा है। इस तरह की व्याख्या में यह बात मान ली जाती है कि दबे हुए भावों का प्रकाश सपनों में हुआ करता है। परन्तु हर सपना केवल दबे हुए भावों का प्रतिबिम्ब है, ऐसा भी मान लेने के लिए कोई हेतु नहीं है। इस विषय पर स्वप्न के विशेषज्ञों का मतभेद है। साथ ही यह भी कहना ठीक नहीं कि सभी सपने निरर्थक होते हैं और व्यक्ति के भूतकाल की स्मृतियों के बिल्कुल और असंगत प्रतिबिम्ब हैं। सपनों के विश्लेषण से हमारा ज्ञानभाण्डार बहुत बढ़ गया है और अब सभी नहीं तो अधिकांश सपनों की व्याख्या

करने के लिये मनोवैज्ञानिकों ने एक सूत्र बना लिया है कि सपना दबी हुई इच्छा का प्रतिबिम्ब हुआ करता है। यह इच्छा इसलिये दब जाती है कि किसी-न-किसी कारण से किसी-न-किसी रूप में वह जाग्रत अवस्था में दुःख का कारण होती। परन्तु दबे हुए भाव नष्ट नहीं होते और कभी न कभी प्रकट होने का अवसर ढूंढ़ते रहते हैं। सोते में चेतन और अचेतन के बीच की गाँठ कुछ ढीली पड़ जाती है, भावों के ऊपर का निर्दय दबाव घट जाता है। तो भी यह भाव अपने शुद्ध रूप में प्रकट नहीं होते। उन का रूप विकृत हो जाता है और बदले हुए भोंडे रूपों में व्यक्त होते हैं। फ्रूइड ने "स्वप्नों की व्याख्या" नामक पुस्तक में इन बातों के अनेक उदाहरण दिये हैं और व्याख्या की विधियां भी बतायी हैं।

सभी सपने दबे हुए भावों के चित्र नहीं होते। अनेक तो दिन भर के ख्यालों के अपूर्ण और असगत चित्र होते हैं और टुकड़ों के रूप में देख पड़ते हैं। कोई कोई होनेवाली घटना के भी सपने होते हैं और कभी-कभी ऐसी बातें भी देखने में आती हैं जिन के अनुभव में आने की इस जीवन में सम्भावना नहीं होती। कई सपने ऐसे भी होते हैं जो आदि से अन्त तक बिल्कुल पूरे सिलसिलेवार सुसंगत घटनाक्रम दिखाते हैं। यह अचेतन में दबे हुए भावों की पूर्ति के पूरे रूपक होते हैं। पर इस तरह भी दबे हुए भाव पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं होते। दबाना अब भी जारी है, यद्यपि ढीला है। किसी-न-किसी कारण से जब भावों की ठीक तुष्टि नहीं हो पाती तो मानसिक शक्ति विषम विधियों से स्वप्न द्वारा उस के लिये निकासी पैदा करती है। बहुत से कला के काम भी सपने की तरह दबे भावों को बाहर निकालने के साधन हो जाते हैं। कभी-कभी जब सपने से दबे हुए सकर भावों की तुष्टि नहीं होती तो मानसिक रोगों की दशा उत्पन्न हो जाती है। योषापस्मार (हिस्टीरिया) उन्माद, और कभी एक ही व्यक्ति में दो व्यक्तियों का प्रकट होना इन्हीं दबे हुए भाव सांकर्यों का फल होता है। पिछले महासमर में भाग लेनेवालों के मनःपटल पर अत्यंत दूषित प्रभाव पड़ जाने से इस तरह के अनेक रोग देखने में आये हैं।

सपनों के ऊपर एक बिल्कुल भिन्न विचार भी मनोवैज्ञानिकों में है। डाक्टर विलियम ब्राउन कहते हैं कि सपने का काम निद्रावस्था की रक्षा है। भय, भागना, सुस्ताना आदि नैसर्गिक भावों की तरह सोना भी एक नैसर्गिक भाव है जिस की वृद्धि विकास-क्रम से हुई है। रात को यह निसर्ग काम करने लगता है। परतु उस समय बाहरी आवेगों और भीतरी निसर्गों और प्रवृत्तियों से उस का विरोध होता है। उस समय इच्छाएं, अभिलाषाएं, चिन्ताएं पहले की स्मृतियां जो मन में भरी हुई हैं, उबल पड़ती हैं और जगाने की कोशिश करती हैं, यद्यपि मुख्य व्यक्ति पीछे हटा हुआ होता है। यदि यह सब चेतना तक पहुंच जाय तो नींद खतम हो जाय। इसीलिये जाग्रत और सुषुप्त अवस्था के बीच में सपने की अवस्था इन सब उद्वेगों की शक्ति को घटा देती है और इन्हें आगे बढ़ने से रोक रखती है। इस तरह नींद टूटने नहीं पाती। इस व्याख्या में सभी तरह के सपने सन्निविष्ट हैं।

४—शरीर के बाहरी पदार्थों से चित्त का सम्बन्ध

शरीर के जागते सोते और सपने की अवस्थाओं में मानसिक व्यापारों पर मनोविज्ञान की जितनी धारणाएं हैं उन सब का संबंध केवल शरीर की वस्तुसत्ता से है। मनस के सभी साधारण व्यापारों पर विज्ञान विचार करता है, और विचारों के पाने और भेजने में इंद्रियों का व्यवहार भी उस का विषय है, परंतु इस बात का प्रयत्न करके भी उसे सफलता नहीं हुई कि यह समझा सके कि शरीर के यांत्रिक स्पन्दन भावों में और अनुभावों में कैसे बदल जाते हैं, अथवा चित्त के उद्वेग और समवेदन से जड़ शरीर में यांत्रिक स्पन्दन कैसे पैदा हो जाते हैं। उधर भौतिक विज्ञान केवल जड़ पदार्थ पर विचार और प्रयोग करता है और जहाँ चित्त का संबंध आता है वह यही मान लेता है कि भौतिक पदार्थ पर चित्त की क्रिया केवल जड़ पदार्थ से विकसित एक विशेष वस्तुसत्ता की क्रिया है। इस तरह ऐसा जान पड़ता है कि जड़ पदार्थ पर प्रयोग हो सकते हैं और जड़ पदार्थ से अलग चेतना की कोई स्थिति नहीं है।

परंतु वैज्ञानिकों ने हाल में इस तरह की खोजें भी की हैं जिन से यह पता चलता है कि चित्त का अस्तित्व जाने हुए जड़ पदार्थों से बिल्कुल अलग और स्वतन्त्र भी हो सकता है। बहुत काल से ऐसी अनेक अनुभूत बातें कही जाती रही हैं जिन पर वैज्ञानिक ध्यान नहीं देते थे। पिछले पचास-साठ बरसों से उन बातों पर विचार किया जाने लगा और खोजों से अब यह धारणा हो गयी है कि जड़ पदार्थ से अलग भी चित्त का अस्तित्व हो सकता है और यद्यपि उस का प्रकाश केवल जड़ पदार्थ द्वारा ही होता है तथापि उस के काम जड़ पदार्थ से बाहर भी बहुत कुछ होते हैं, और यह कि जड़ और चेतन वस्तुतः अलग-अलग हो सकते हैं। और यह भी सभव है कि हमारी इन्द्रियों से अतीत कोई सूक्ष्म पदार्थ हो जिस में कि चित्त उसी तरह स्वच्छंदता से अपना व्यापार कर सके जैसे कि जड़ पदार्थों में करता है। जड़ और चेतन के इस संबंध की खोज में क्या क्या बातें मालूम हो सकती हैं और हम कहाँ तक अपने ज्ञान की वृद्धि इस दिशा में कर सकते हैं, इन प्रश्नों का उत्तर वैज्ञानिकों ने एक नये ढंग से अन्वेषण में पाया है जिसे हम अध्यात्म-विज्ञान कह सकते हैं। इस विज्ञान का अन्वेषण अन्तःकरण से घनिष्ठ संबंध रखता है। इसलिये इसे मनोविज्ञान का ही एक अंग समझना चाहिए।

इस विद्या के विषयों का अनुशीलन बहुत काल से इक्के दुक्के वैज्ञानिक करते आये। लगभग पचहत्तर बरसों से इस पर विशेष रूप से काम होने लगा। भौतिक विज्ञानियों में प्रमुख प्रोफ़ेसर विलियम क्रुक्स ने इस विषय पर पचास बरस के लगभग हुए, विशेष खोज की। उसी समय के लगभग अनेक प्रमुख वैज्ञानिकों ने मिलकर परान्वेषण परिषद की रचना की जिस ने बड़ी सावधानी से इस तरह की खोजों का बीड़ा उठाया। इस परिषद में बड़े-बड़े वैज्ञानिक और विचारक संमिलित हुए। यह परिषद बनी तो इंगलिस्तान में परंतु धीरे-धीरे यह अन्ताराष्ट्रिय हो गयी और आधे संसार के भारी-से-भारी वैज्ञानिक जो इस विषय में रस रखते हैं इस के सदस्य हैं। इस परिषद में आवश्यकता से अधिक सावधानी

इस बात में की गयी कि रहस्य और अन्धविश्वास इस खोज के मार्ग को किसी तरह धुंधला न कर सकें।

५—पर-चित्त-ज्ञान

पहली खोज पर-चित्त-ज्ञान के संबंध में हुई। बहुत सावधानी से परीक्षाएँ करके यह बात पायी गयी कि कोई विचार या मानसिक चित्र एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के मन में

चित्र १२८— फ्रेडरिक मैयर्स [सं० १६००-१६५८ वि०]

साधारण इंद्रियगत साधनों के बिना भी पहुँचा सकता है। केवल शर्त यही है कि उस दूसरे मनुष्य के मन में उस विचार या चित्र को ग्रहण करने का सामर्थ्य हो। इस तरह की परीक्षाएँ पहले एक ही कमरे में अत्यंत साधारण छोटी-छोटी चीजों चित्रों और अंको को लेकर की गयी और आँखे बंद करने के बदले पूर्ण अ-पारदर्शी पर्दे का प्रयोग किया गया, और साधारण ज्ञानेन्द्रियों के प्रयोग में पूरी बाधा डाली गयी। इन परीक्षाओं में सफलता होने पर दूरी बढ़ायी गयी। बढ़ाते-बढ़ाते यह दूरी इतनी कर दी गयी कि किसी प्रकार से भी भौतिक साधनों से विचार की अदला-बदली असम्भव हो गयी। इन परीक्षाओं से यह सिद्ध हो गया कि शारीरिक या भौतिक साधनो के न होते हुए भी एक चित्त अपने विचार को दूसरे चित्त तक पहुँचा सकता है। अथवा, यो कहना चाहिये कि साधारणतया जिन विधियों से जिन इंद्रियों के द्वारा एक मन दूसरे मन पर अपने भाव प्रकट करता है उन के बिना भी विचारो और भावों का विनिमय हो सकता है। हजारों मील की दूरी पर विचारों और भावों का विनिमय

होने से यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि एक मस्तिष्क दूसरे मस्तिष्क तक बेतार-वाली बिजली की लहरों की तरह कोई सूक्ष्म लहर भेजता होगा अथवा किसी अत्यंत सूक्ष्म पदार्थ के कण जाते होंगे जो विचारों और भावों के वैसे ही चित्र बना देते होंगे जैसे कि भेजनेवाले ने मन में बनाये थे। यह भी सम्भव है कि दूरी चाहे कितनी हो परंतु दोनों मस्तिष्कों के बीचवाले देश में कोई ऐसा सूक्ष्म पदार्थ ओत-प्रोत भाव से भरा हुआ है जिस के भीतर से होकर विचार-लहरों की माला प्रकाश और बिजली से भी अधिक या बराबर के वेग से स्थूल रुकावटों की परवाह न कर के अथवा उन के द्वारा बिल्कुल अवरुद्ध न होकर सहज में ही आती जाती है। एक और कल्पना की जा सकती है। वह यह कि कोई सूक्ष्म अवस्था में रहनेवाली चेतना-युक्त व्यक्ति है जो बड़े वेग से चलकर एक मस्तिष्क से दूसरे मस्तिष्क तक विचारों और भावों के चित्र उसी तरह पहुंचाती है जिस तरह कोई दूत सन्देश पहुंचा देता है। यह तीसरी कल्पना सुनने में तो व्यर्थ सी लगती है परन्तु इसके पहलेवाली कल्पनाएं अनेक ऐसी गुत्थियों को नहीं सुलझा सकतीं जो इस पिछली कल्पना से सुलझ जाती हैं। मानसिक लहरों या कणों की कल्पना में एक तो यह दोष है कि उनका अस्तित्व अब तक असिद्ध है, दूसरे हारमोनो की डाक की तरह ऐसा मानना पड़ेगा कि हज़ारों मील की दूरी पर ग्राहक के मस्तिष्क में ही वह विचारकण या तरंग इसलिये पहुंचते हैं कि उसी के सांचे के बने होते हैं अथवा बेतार की तरह स्वरों की सी अनुकूलता रहती है। कुछ विद्वानों का यह भी विचार है कि पाशविक अवस्था में विना वचन और कर्म का सहारा लिये किसी मानसिक रीति से ही आपस में विचार विनिमय का कोई साधन होगा, और मनुष्य के मनोदेह में परम्परा से वह साधन मौजूद है जो काम में न आने से और सभ्यता के बढ़ जाने से दब गया है और कभी-कभी पर-चित्त-ज्ञान के रूप में प्रकट होता है।

६—छाया-रूप या माया

जिस तरह एक्स किरणें परीक्षाओं और प्रयोगों के लिये प्रकट की जाती हैं, परन्तु वस्तुतः उस तरह की अन्य किरणों तथा अनेक सूक्ष्म कणों का कई पदार्थों से अपने आप विकिरण भी होता रहता है, उसी तरह पर चित्त-ज्ञान की क्रिया जो प्रयोग के लिये देखी गयी, अपने आप होती रहती है या नहीं, इस बात की भी खोज की गयी। कथा कहानियों में एवं इतिहास में भी ऐसी घटनाएं तो असंख्य कही जाती हैं, परन्तु परिषत् ने पर-चित्त-ज्ञान के तथ्यों को स्थापित करके इस विषय की भी पूरी जांच की और पक्के प्रमाण पाये। इन सब परीक्षाओं में प्रायः सर्वथा यह बात देखी गयी कि जो मनुष्य अत्यन्त भय या शोक या करुणा या संकट की अवस्था में या मरणासन्न दशा में होता है, अथवा इस दशा में मर जाता है, उस की छाया उस के मित्र या हित या किसी तरह के राग या द्वेष के सम्बन्धी के पास पहुंचती है, उसे प्रत्यक्ष दीखती है और उस पर किसी-न-किसी ढंग से अपने भाव प्रकट करती है। जांच के लिये जान-बूझ कर प्रयोग में और इस अपने आप होनेवाली घटना में अन्तर यह है कि प्रयोग में तो प्रेरक अपने प्रयोग की सफलता के उद्देश्य से

अपने दृढ़ संकल्प को ग्राहक की ओर मजबूती से विचार को भेजने में लगाता है,—यद्यपि यह सिद्ध नहीं हुआ है कि इस संकल्प का प्रयोग वस्तुतः फलदायक है,—परन्तु अपने आप होनेवाली घटना में तो मन या मस्तिष्क का वह अंश काम करता है जो अचेतन है, या जाग्रत चेतना से नितांत भिन्न है, क्योंकि प्रेरक अपनी जान भर में इस तरह के विचार, चित्र, या छाया या भाव की प्रेरणा से बिल्कुल बेखबर होता है। आग लगी हुई है, या जहाज डूब रहा है और एक मनुष्य को जान की जोखिम है। वह इतना घबरा जाता है, उस के अन्तरात्मा पर ऐसा दबाव पड़ता है, कि रक्षा के लिये बाहर समाचार भेजने की उस की प्रच्छन्न शक्ति जाग्रत हो जाती है और काम करने लगती है। वह आप अपने होश-हवास में इस बात की ख़बर नहीं रखता परन्तु किसी बहुत दूर पर रहनेवाले भाई बन्धु के मन में ऐसा स्पष्ट चित्र पहुँच जाता है कि उसे उस व्यक्ति को जोखिम का कल्पना-चित्र आँखों के सामने प्रत्यक्ष दिखाई देने लगता है। जान पड़ता है कि भीगे कपड़ो में से पानी टपक रहा है। संकटापन्न बन्धु सहायता के लिये पुकार रहा है उस के शब्द सुन पड़ते हैं। यद्यपि स्थूल आँखें या स्थूल कान यह देख सुन नहीं रहे हैं, केवल मानसिक घटना है तो भी ऐसा ही जान पड़ता है कि एक छाया या रूप सामने दीख रहा है और पास से ही शब्द सुनाई दे रहे हैं। बिमान या वायुयान से एक दुर्घटना में बहुत दूर से आते हुए एक नवयुवक बड़े वेग से गिरता है और मर जाता है। उसी समय उस का जो साथी सैकड़ो मील दूरी पर है, उसे मालूम होता है कि खेमें के पास ही कोई बिमान गिरकर चूर-चूर हो गया है। उस की आवाज साफ ही सुन पड़ी। तुरन्त ही वह नवयुवक अपने साधारण भेष में खेमें में आता देख पड़ता है। साथी उस के इतनी दूर से इतनी जल्दी आ जाने पर आश्चर्य प्रकट करता है। उस नवयुवक का रूप उत्तर देता है और फिर खेमें के बाहर निकल जाता है। उसी शाम को उस साथी को यह पता लगता है कि उसका नौजवान दोस्त रास्ते में ही वायुयान की दुर्घटना से ठीक उसी घड़ी मर गया था जिस घड़ी वह उसे खेमें में दिखाई पड़ा था। इस घटना का विस्तार से बर्णन जून १६१६ ई० के परान्वेषण परिषद के मुखपत्रों छपा है। इस तरह के उदाहरण असंख्य हैं और जीवन-चरितों में बहुत पाये जाते हैं। मुश्किल से कोई परिवार ऐसा होगा जिस में इस तरह के अनुभवों की कोई कथा न हो। यह बात भी बड़ी विलक्षण है कि ऐसी छाया केवल तत्-सम्बन्धी मनुष्य को ही देख पड़ती है और इस तरह के शब्द उसी को सुन पड़ते हैं। उस के पास जो लोग मौजूद होते हैं उन्हें किसी तरह की ख़बर नहीं होती। वह कहता भी है कि देखो अमुक रूप सामने है या अमुक शब्द सुन पड़ता है, परन्तु दूसरे लोग इतने पर भी न देख सकते हैं और न सुन सकते हैं। ऐसी घटनाओं की बड़ी सरल व्याख्या यही हो सकती है कि संकटापन्न या भयग्रस्त या क्रोधातुर या किसी भावोद्वेग से पीड़ित प्राणी के सुषुप्त चेतन की ओर से जिन शब्दों और चित्रों की विवश प्रेरणा होती है उन्हें ग्राहक की प्रच्छन्न किन्तु प्रबल ग्राहिका-शक्ति मानसिक शब्दों और रूपों में परिणत कर लेती है और जैसा कि हम अन्यत्र दिखा आये हैं वास्तविक सुनने और देखने की इंद्रियां तो दिमाग के भीतर ही हैं जो शब्द या चित्र का अनुभव कर लेती हैं। फिर उन्हीं शब्दों या चित्रों का अनुभव कोई

बाहरवाला कैसे कर सकता है ? ऐसे उदाहरण इतने असंख्य हैं कि यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसा अकस्मात् ही या सयोग से ही हो जाता है।

कभी कभी ऐसी घटनाओं से झूठे निष्कर्ष भी निकाले जा सकते हैं। एक मांझी की मा सपना देखती है या प्रत्यक्ष देखती है कि उस का लड़का उस की खाट के पास खड़ा है और उस के भीगे कपड़े से पानी चू रहा है। वह समझती है कि लड़का डूब मरा और रो-पीटकर सतोष कर बैठती है। छः महीने बाद वह भला चंगा लौट आता है और पूछने पर मालूम होता है कि सचमुच छः महीने पहले एक मस्तूल से वह समुद्र में गिर गया था और बड़ी मुश्किलों से डूबने से बचा लिया गया। जिस तारीख को यह घटना हुई थी ठीक उसी दिन मा को छाया दिखी थी।

मरने के बहुत काल पीछे भी लोगों को मरे हुए मनुष्यों की जो छाया देख पड़ती है उस का भी कारण मरनेवाले की ओर से विचार-प्रेरणा ही समझी जाती है और मरण-काल का ही रूप दिखा भी देने से ऐसा समझा जाता है कि शायद विचार की प्रेरणा मरणकाल में ही हुई हो और उस के ग्रहण करने में देर लगी हो।

जो हो, विचारप्रेरणा के द्वारा हर तरह की छाया के दिखाई देने की व्याख्या नहीं हो सकती। जैसे कहा जाता है कि अमुक अमुक घर या स्थान प्रेतावास है और वहा एक कोई प्रेत दिखाई दिया करता है। ऐसी जगहों पर किसी अनभिज्ञ मनुष्य को भी जिसे वहाँ का इतिहास बिल्कुल नहीं मालूम है और उसके प्रेतावास होने की [illegible] पता नहीं है विशेष विशेष समयों पर छाया या रूप देख पड़ता है। परचित्तज्ञान या विचारप्रेरणा से ऐसी घटनाओं की व्याख्या नहीं हो सकती। पहली बात तो यह है कि इसकी अच्छी तरह खोज होनी चाहिये कि असलियत क्या है और क्या वस्तुतः ऐसी छाया नियत समयों पर पड़ती है। यदि ऐसा ठीक है तो किसी पक्ष में अपने विचार को झटपट पुष्ट कर लेना उचित नहीं है। अपने मन को निर्मल और निष्पक्ष रखना ही बुद्धिमानी है। इस प्रकार की छाया के प्रमाण तो बहुत मिले हैं परन्तु वह इतने अच्छे निर्णायक नहीं समझे जाते जितने कि पहली श्रेणी की छाया के लिये समझे गये हैं। ऐसे मामलों में कोई प्रेरक समझ में नहीं आता और जो क्रियाएं प्रेत के द्वारा कभी-कभी की हुई बतायी जाती हैं वह केवल मानसिक चित्र नहीं मालूम होते। हो सकता है कि ग्राहक प्रत्यक्ष स्वप्न देखता हो। अनुभव में आयी हुई छाया वस्तुतः देखनेवाले के दिमाग के बाहर की चीज़ है यह सिद्ध करने का भार देखनेवाले पर ही रहता है। उदाहरण व्यर्थ हैं। भूतों की कहानियां सभी जानते हैं। विस्तार की बातें याद रखना कठिन है, यद्यपि बना लेना अत्यन्त सरल है।

यदि ऐसी छायाओं का दिखाई पड़ना तथ्य है तो इनकी बुद्धि-पुरस्सर व्याख्या क्या हो सकती है ? इस गुत्थी को सुलझाने के लिये क्या यह कहा जा सकता है कि जड़ और चेतन का सम्बन्ध ऐसा है कि कभी कभी शरीर से चेतन अलग हो सकता है ? या स्वतंत्र हो सकता है ? एकाध बातों में तो ऐसा कुछ हेतु मालूम होता है कि अपने शरीर के भीतर के सिवाय बाहरी पदार्थों का भी इन्द्रियों के साधन के बिना ही चित्त को

अनुभव हो जाता है। अनेक बार इस तरह की परीक्षा की गयी है कि कुछ विशेष शक्ति वाले लोग बन्द किताब के भीतर के पृष्ठ पढ़ लेते हैं। लिफाफे में बन्द चिट्ठियों के अक्षर-अक्षर बता देते हैं। इसकी जो यह व्याख्या की जाती है कि उनमें दिव्य दृष्टि है या त्वचा में या आंखों में ही यह शक्ति आ गयी है अथवा जो लोग सैकड़ों मील दूरी की बात सुन लेते हैं उनके सम्बन्ध में जो यह व्याख्या की जाती है कि कानों में विशेष शक्ति आ गयी है सन्तोषजनक व्याख्या नहीं है। प्रसिद्ध दार्शनिक काण्टने लिखा है कि एक बार दार्शनिक महात्मा स्वेडेनबोर्ग मित्रों से बातें करते-करते भयानक चिन्ता में पड़ गये। कुछ देर के बाद उनकी चिन्ता मिट गयी और सन्तोष हो गया। पूछने पर उन्होंने मित्रों से बताया कि बस्ती में जोर की आग लग गयी थी और मेरे घर तक पहुँचा चाहती थी। उससे नुकसान तो बहुत हुआ परन्तु मेरा घर बच गया। लोगों ने उससे पहले ही बुझा दिया। मेरी चिन्ता मिट गयी। उनका घर वहां से दो सौ मील की दूरी पर था। दो दिन बाद मालूम हुआ कि यह घटना बिल्कुल सच थी और ठीक उसी समय हुई थी। ऐसी घटनाओं को कोई विचार-प्रेरणाओं का फल नहीं कह सकता। इसके साधन या कारण की जांच भी यथावत् नहीं हो सकी है। इस तरह की अद्भुत शक्ति रखनेवाले मनुष्य मध्यम या पात्र कहलाते हैं और प्रायः वस्तुओं को टटोलकर या छूकर उस के भीतर की बातें बता देते हैं। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इन्द्रियों का मानसिक अंग शरीर से बाहर जाकर दूर दूर की वस्तुओं का और घटनाओं का अनुभव कर सकता होगा, परन्तु किसी परीक्षा द्वारा इसका निश्चय होना बहुत ही कठिन है। ऐसी शक्ति रखनेवाले मनुष्यों की परीक्षा में बहुत बार असफलता भी हो जाती है। परन्तु असफलता किसी बात को सिद्ध या असिद्ध नहीं करती, क्योंकि स्मरण शक्ति की असफलता का कारण दुर्बलता या साधारण भूल भी हो सकती है। मरने के बारह बरस पहले प्रोफेसर मायर्स ने सर आलिवर लाज नामक प्रसिद्ध वैज्ञानिक को लिफाफे में बन्द एक वाक्य दिया था। मरने के बाद प्रो० मायर्स का जीव बुलाया गया परन्तु वह लिफाफे के भीतर का वाक्य बता नहीं सका। यह हो सकता है कि बारह बरस पहले की बात जीव को बिल्कुल भूल गयी हो। यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाता कि प्रो० मायर्स थे ही नहीं, क्योंकि उनका होना और सैकड़ों तरह से प्रमाणित हो चुका था।

जहां किसी निश्चित स्थान में कोई छाया बारम्बार दीखती है वहां के सम्बन्ध में एक और व्याख्या दी जा सकती है, कि उस स्थान या मकान में किसी पूर्व काल में जो घटनाएं हो चुकी हैं फोनोग्राफ के रेकार्ड की तरह दरो दीवार पर सूक्ष्म पदार्थों में उनका अंकन हो गया है। ग्राहक चित्तरूप में उनको देख लेता है, इसी से उसे छाया देख पड़ती है। अथवा ऐसा भी हो सकता है कि जिन जीवात्माओं के सम्बन्ध में वह घटनाएं घटी हों और वह जीवात्मा स्वयं उन घटनाओं के सपने बारम्बार देखते हों और ग्राहक शक्ति रखनेवाले मनुष्य जब घटनास्थल पर पहुँचते हों तब उनके मस्तिष्क में उन स्वप्न-कल्पनाओं की प्रेरणा हो जाती हो।

७—घनीभवन या रूपधारण

अभी तक जो विचार हम करते आये हैं उसमें बाहरी पदार्थों का प्रभाव चित्त के ऊपर पड़ना ही समझा गया है। परंतु इस प्रश्न का एक दूसरा पहलू भी है। वह यह है कि चित्त का प्रभाव बाहरी स्थूल पदार्थों पर भी पड़ता है और वह भी इस तरह पर कि शरीर की मांसपेशियों और इंद्रियों के बीच में पड़ने की कोई जरूरत नहीं होती बल्कि किसी भौतिक माध्यम के शरीर से अपने शरीर के अनुकूल पदार्थों को चित्त एकत्र कर लेता है और वास्तविक रूप-रेखाएँ खड़ी कर लेता है। इस घटना को
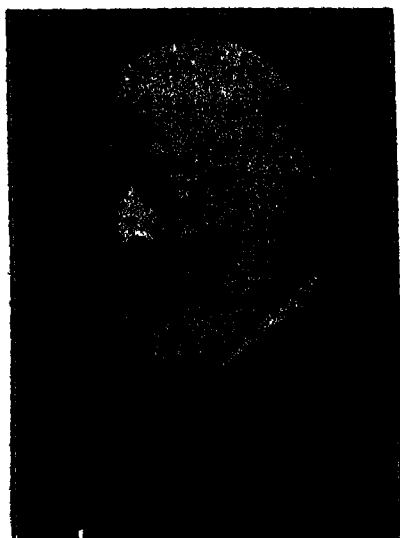
चित्र १२६—सर आलिवर लाज, जन्म सं० १६०८ वि०
परलोक-विद्या के प्रसिद्ध खोजी और जानकार

घनीभवन या रूपधारण कहते हैं। इस अद्भुत प्रकार की भौतिक घटना के लिये बहुत ही दृढ़ बहुत सुसंगत प्रमाण चाहिये। परन्तु यह एक ऐसी घटना है जो अनुकूल अवस्थाओं में बहुत हुआ करती है और योरोप के शरीर-विज्ञानियों को लाचार होकर अपनी इच्छा के विरुद्ध ऐसी घटनाओं को तथ्य मानना पड़ा है। कहा जाता है कि इसमें बड़ी शक्ति लगती है और अनेक मनुष्यों के मौजूद रहने से ही इस काम में पूरी सहायता मिलती है। बहुत से आदमियों के रहने से तो यह स्पष्ट ही है कि ठीक-ठीक जांच नहीं हो सकती है। इस तरह के पात्र भी कठिनाई से मिलते हैं जिनके द्वारा सुभीते से जांच हो सके। इस तरह की जांच बहुत पहले हो चुकी है और आज भी कुछ लोग ऐसे हैं जिन्होंने फोटोग्राफ ले लिये हैं। ऐसा जान पड़ता है कि कोई

सूक्ष्म बहनेवाला पदार्थ है जो वस्तुओं को बड़े ज़ोर के साथ हिला-डुला सकता है यद्यपि देखने में किसी तरह का स्पर्श भी नहीं मालूम होता। विलियम क्रुक्स ने अपने "प्रेतवाद की खोज" नामक पुस्तक में कई प्रयोग लिखे हैं जो उन्होंने प्रसिद्ध साधन मि० होम द्वारा किये थे। एक प्रयोग में कई मन का टेकन उठाया गया था और दूसरे में अपने आप बजता हुआ एक भारी पियानो बाजा एक स्थान से उठकर दूसरे स्थान को गया और बड़ी सावधानी से रख दिया गया। तीसरे में एक मंडली के सामने फूल लिये हुए एक हाथ प्रकट हुआ जो प्रत्येक दर्शक के सामने गया और किसी ने जो पकड़ने की कोशिश की तो व्यर्थ हुई क्योंकि मुट्ठी कसनी गयी और उसने देखा कि हाथ दूसरे के पास पहुँच गया है।

चित्र १३० – सर विलियम क्रुक्स [सं० १८८६-१९७६ वि०]
इस प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने पचास बरस हुए प्रेतवाद पर अनेक अद्भुत प्रयोग कर के प्रेत की सत्ता सिद्ध की थी।

यह बात विज्ञान की समझ में अब तक नहीं आयी है कि ऐसी क्रिया किस तरह पर हो जाती है। परन्तु जो हो, यदि इस प्रकार से घनीभवन सम्भव है अथवा ऐसी शक्ति चित्त में मौजूद है, चाहे उसकी व्याख्या किसी तरह पर क्यों न हो, तो अवश्य ही छाया का दिखाई पड़ना कोई अनहोनी बात नहीं है क्योंकि दिखाई पड़ने और छुए जाने योग्य पदार्थ तो वह है ही।

युरोप के अनेक खोजियों की यह भी धारणा है कि मध्यम के शरीर से ही निकला हुआ पदार्थ है जो उसकी अचेत अवस्था में छाया-रूप में परिणत हो जाता है, और बाहरी पदार्थों के ऊपर भी प्रभाव डालता है।

८—परचित्त की अभिव्यक्ति

यह कहा जाता है कि वियोगी पुरुषों का चित्र लेते समय बहुधा मरी हुई सन्तान या पत्नी की छाया भी आ जाती है परन्तु इस क्रिया में छलों का प्रयोग भी हो सकता है इस लिये फोटो की विधि बहुत विश्वास-योग्य नहीं है।

किसी मध्यम का बेहोश हो जाना और उस दशा में प्रलाप करने लगना बड़ी साधारण बात है। ऐसा जान पड़ता है कि मध्यम के वाग्यंत्र को कोई दूसरी व्यक्ति काम में ला रही है। अपस्मार, उन्माद आदि रोगों में भी यही बात बहुधा देखी जाती है। सम्भव है कि प्रलाप करनेवाला स्वयं मध्यम के स्वप्नावस्था वा सुषुप्त अवस्था का चित्त ही हो। परंतु ऐसी दशा में परीक्षा कर लेना कठिन नहीं है। वैज्ञानिकों ने असंख्य परीक्षाएं की हैं जिन से यह पता चला है कि मध्यम के शरीर में किसी परलोकगत जीवात्मा का प्रवेश हुआ है जो अपनी पूरी पहचान दे सकता है और सब तरह की परीक्षाओं में खरा उतरता है। किसी और चित्त का आकर दूसरे के मस्तिष्क में प्रवेश कर जाना और उस की इंद्रियों से काम लेना तो अगणित प्रयोगों से सिद्ध हो गया है। परन्तु एक बात और भी अनुभव में आयी है वह यह है कि शब्द कमरे के अंदर किसी के कंठ से न निकलकर हवा में से ही आते हैं। ऐसी विलक्षण घटना यह प्रमाणित करती है कि चित्त का प्रभाव केवल मध्यम के शरीर पर ही नहीं पड़ता बल्कि वायु पर इस तरह पड़ सकता है कि उस के अणुओं में स्पंदन हो और शब्द प्रकट हो जाय।

परचित्त की अभिव्यक्ति हाथ के द्वारा लिखाने में तो अत्यंत साधारण सी बात हो गयी है। मध्यम हाथ में लिखने का यंत्र थामता है और हाथ अपने-आप चलने लगता है। पेंसिल लिखने लगती है। जो कुछ लिखा जाता है या जो प्रश्न के उत्तर मिलते हैं उन से यह पूरी जांच की जा सकती है कि लिखनेवाला कौन है। यह अगणित प्रयोगों से स्पष्ट है कि परचित्त का प्रभाव किसी के हाथ के चलाने में पूर्णतया पड़ता है। परन्तु एक और विचित्र बात और देखी गयी है कि किसी-किसी दशा में मध्यम को पेन्सिल थामने की जरूरत नहीं पड़ती। वह अपने-आप चलने लगती है और सन्देश लिखती है। इस से यह स्पष्ट होता है कि परचित्त का प्रभाव केवल मध्यम की इंद्रियों पर ही नहीं पड़ता बल्कि पेंसिल जैसी जड़ वस्तु पर भी पड़ता है।

इस तरह के असंख्य प्रयोगों से यह बात तो निर्विवाद सिद्ध हो गयी है कि

(१) मनुष्य के चित्त का प्रभाव केवल उसी के शरीर पर नहीं पड़ता बल्कि पराये शरीर पर और बाहरी वस्तुओं पर भी पड़ता है।

(२) स्थूल शरीर के छूट जाने पर व्यक्तित्व नष्ट नहीं हो जाता और किसी-न-किसी सूक्ष्म वाहन वा शरीर के आधार पर व्यक्ति का चित्त बना रहा करता है और मरने के बाद की अवस्था में उसी तरह सत्ता रखता है जैसे जीवित अवस्था में रखता था।

(३) चित्त में ऐसी भी कुछ शक्ति है कि वह स्थूल पदार्थों के ऊपर अपना प्रभाव डालता है, उन्हें हिला-डुला सकता है, बल्कि अणुओं को अपने सामर्थ्य से एकत्र करके

कुछ काल के लिए विशेष प्रकार का रूप भी दे सकता है जो दूसरे जीवित प्राणियों के लिये गोचर है।

९—गति की लकड़ी

कभी-कभी किसी के हाथ एक टहनी या लकड़ी किसी विशेष स्थान पर पहुँचने पर झुकने या मुड़ने लगती है और टूट तक जाती है। ऐसे स्थान पर खोदने से जल का सोता निकलता है। अथवा इष्ट खनिज पदार्थ या गड़ा हुआ धन निकल आता है। कितने ही मनुष्यों ने इस तरह का अनुभव किया है। किसी-किसी को अपनी इस शक्ति का पता न था परंतु एका-एकी लकड़ी के टूट जानेवाली घटना से मालूम हुआ कि उस में यह शक्ति है। इस तरह कई आदमियो ने भूगर्भ से निकलेवाले चश्मों या अन्य पदार्थों का पता लगाने का पेशा भी कर लिया है। इस प्रकार की घटना में किसी तरह की धोखेबाजी या ठगी की बात नहीं हो सकती है। इस की व्याख्या कठिन है। ऐसा समझा जाता है कि विकास-क्रम में पशुत्व की दशा मे जीव के लिए अत्यत आवश्यक पदार्थ जल की बड़ी आवश्यकता होने से ऐसी नैसर्गिक या सहज बुद्धि अवश्य ही होगी जिस से जल या भोजन के पदार्थ धरती के भीतर मे निकालने के लिए भी क्षमता हो या बहुत सम्भव है कि उसी निसर्ग का कोई अवशेष किसी मनुष्य के सुषुप्त चेतन में अब भी मौजूद हो जिस के प्रभाव से धरती के भीतर मौजूद इष्ट वस्तु के होने पर लकड़ी टूट जाती हो या मुड़ जाती हो। कम-से-कम इतना स्पष्ट है कि इस लकड़ी से काम लेनेवाले मनुष्य के सुषुप्त चित्त का प्रभाव बिना उस की इच्छा या सकल्प के उस लकड़ी पर पड़ता है। ऐसी घटनाओं को हम परचित्त प्रेरणा नहीं कह सकते और इस में किसी प्रकार की दूसरे की विचार-प्रेरणा काम कर सकती है। इसी प्रकार दूसरी जगहों से चीजों का हटवा लेना या मँगवा लेना भी ऐसी घटनाएँ हैं जिन में केवल विचार-प्रेरणावाले वाद से काम नहीं चल सकता। किसी वस्तु के लाने के लिये या एक स्थान से दूसरे स्थान तक हटाने के लिए किसी चित्त में विचार-प्रेरणा में जितनी शक्ति चाहिए उस से कही असाधारण शक्ति की आवश्यकता होती है। इसलिए ऐसा मानने से इन घटनाओं की संतोषजनक व्याख्या हो जाती है कि चाहे चित्त इस भौतिक शरीर से अलग होकर काम करे अथवा इस के भीतर ही काम करे उस की प्रेरणा शक्ति बहुत अधिक हो सकती है और शरीर से स्वतंत्र होकर भी काम कर सकती है।

१०—मरणान्तर जीवन

परलोकगत प्राणियो के संबंध में परान्वेषण-परिषद ने बड़ी मुद्दत से असंख्य परीक्षाएँ की हैं। उन का विवरण यहा देना असम्भव है। परन्तु इतना निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि निश्चय ही मनुष्य का चित्त मरने के बाद नष्ट नहीं हो जाता है। वरन् किसी-न-किसी सूक्ष्म अवस्था में कुछ काल तक तो अवश्य मौजूद रहता है। इस तरह मौजूद रहने का प्रमाण प्रो० मायर्स सरीखे परान्वेषण-परिषद के प्रमुख

सदस्यों ने अखंडनीय रीति से दिया है। लिखाने की विधि से उन्होंने किसी अत्यंत गहन दार्शनिक विषय पर अपने मौलिक विचार प्रकट किये जो साधनों वा माध्यमों के द्वारा कभी लिखे नहीं जा सकते थे। प्रकट करने की रीति भी अद्भुत थी। एक ही वाक्य के टुकड़े एक ही समय में भिन्न-भिन्न दूर-दूर स्थानों पर लिखनेवाले मध्यमों के द्वारा लिखाये गये। और समझने योग्य वाक्य तभी बना जब सब टुकड़े मिलाये गये। ऐसी क्रिया में माध्यमों द्वारा छल तो असम्भव ही था परंतु साथ ही यह भी स्पष्ट हुआ कि भिन्न भिन्न स्थानों में लिखानेवाली व्यक्ति एक ही थी। केवल मायर्स ही नहीं बल्कि और परलोकगत आत्माओं से इस विधि द्वारा यह पूर्ण निश्चय हो गया कि मरने के बाद मनुष्य की चेतना नष्ट नहीं हो जाती, प्रत्युत उस का व्यक्तित्व इस स्थूल शरीर से अलग किसी स्वतंत्र अवस्था में रहता है।

जीवित अवस्था में ही रोग की आत्यन्तिक दशा में कभी-कभी किसी रोगी को यह अनुभव होता है कि मैं अपने शरीर से बाहर निकल कर विचर रहा हूँ और मेरा सकटमय शरीर अलग पड़ा हुआ है। दक्षिण अफ्रीका में ,शल्य चिकित्सा के बड़े नामी विद्वान् और डाक्टर प्रोफेसर सर अलेकज़ेंडर आगस्टन ने अपनी लिखी पुस्तक में अपना एक विचित्र अनुभव वर्णन किया है।* उन्हें आंत्रज्वर या मोतीझिरा हो गया था। उस समय बहुधा वह यह प्रतीत करते थे कि मैं अपने शरीर से अलग हो गया हूँ। उस समय उन्हें अपने शरीर से कुछ घृणा सी होती थी। यद्यपि वह लाचार होकर उस समय पर उस मे प्रवेश करते थे। धीरे-धीरे उन का इस तरह से शरीर से बाहर जाना आना बहुत घट गया। यह उस समय हुआ कि जब उन की देख-भाल करनेवालों को उन के बच जाने की आशा हो गयी। वह लिखते हैं "इस प्रकार से शरीर से बाहर निकलकर घूमने में मुझे एक अद्भुत अनुभव यह हुआ कि मैं उस घर की भीतों के आरपार भी देख सकता था यद्यपि मैं जानता था कि बीच में दीवारें हैं। मेरी इंद्रियों के लिये कोई रुकावट न थी। जैसे, मैंने यह साफ़-साफ़ देखा कि एक फ़ौजी जर्राह डाक्टर जिस बेचारे के संबंध में मुझे कुछ नहीं मालूम था उस अस्पताल के बिल्कुल दूसरे भाग में था। वह बहुत बीमार हुआ, चिल्लाता रहा, और मर गया। मैंने देखा कि लोगों ने उस की लाश को कफनाया और बहुत आहिस्ता से नंगे पाँव बाहर ले गये। चुपके-चुपके और चोरी से कि जिस में हम लोग यह न जानें कि वह मर गया। और मुझे ऐसा ख्याल में आया कि वह उसे दूसरी रात को कब्रिस्तान में ले गये। पीछे जब मैंने यही घटनाएँ देख-भाल करनेवाली बहिनों को सुनायीं तो उन्होंने कहा कि जैसी आपने कल्पना की है ठीक उसी तरह से घटना भी घटी है। परन्तु मुझे उस बेचारे का नाम कभी मालूम नहीं हुआ।"

इस तरह के अनुभव विचित्र रूपों में ऐसे लोगों ने वर्णन किये हैं जो मरते-मरते से बच गये हैं या बहुत गहरी बेहोशी से जाग पड़े हैं। ऐसे लोगों ने यह बयान किया है कि एक तरह के डोरे से हम स्थूल शरीर से बंधे हुए थे और हमें ऐसा प्रतीत होता था कि

---

* "रिमिनिसेंसेज़ आफ़ थ्री केम्पेन्स" लेखक, सर अलेक्ज़ेंडर आगस्टन।

अगर यह डोरी टूट जायगी तो स्थूल शरीर में लौट आना असम्भव हो जायगा। परंतु बहुधा लौटने की इच्छा नहीं होती। इस पाशविक देह में कितनी असम्भव वासनाएँ, पीड़ाएँ और कष्ट हैं, यह शरीर पाशविक है, बँधा हुआ है, संकुचित है और कारागार सा है। इस की अपेक्षा शरीर से निकले पीछे की स्वतंत्रता बड़ी मनोमोहक होती है। इसलिये निकल कर बहुधा जीव लौटना नहीं चाहता। ऐसी घटनाओं से यह निश्चय हो जाता है कि चित्त इस स्थूल शरीर का मुहताज नहीं है उस के लिये कोई अधिक स्वतंत्र वाहन है जिस से वह अधिक स्वतंत्रता से काम ले सकता है। इस विषय के अन्वेषण बराबर जारी हैं, इस का साहित्य बहुत बढ़ चुका है, इस विद्या को मनोविज्ञान का एक बहुत बृहत् विस्तार समझना चाहिए।

पांचवाँ खंड

शक्ति-विज्ञान

और

सूक्ष्म प्रकृति के रहस्य

अठारहवां अध्याय

परमाणु-संसार

१—करण और उपकरण

हमने यह देखा कि इस "महतोमहीयान्" विश्व में हमारी धरती की क्या स्थिति है, किस प्रकार विकास करते हुए वह वर्त्तमान स्थिति में पहुँची है, किस प्रकार इस जड़ पिंड पर आदि प्राणियों का उद्भव हुआ, फिर कैसे विकास करते-करते बारम्बार की सृष्टि और प्रलय के पीछे इस पर असंख्य प्रकार के जीवाणुओं से लेकर बड़े-से-बड़े विशालकाय प्राणी हुए, फिर कैसे पिंडजों में विकास करते-करते मनुष्य का आरंभ और विकास हुआ, फिर किस प्रकार मनुष्य जातियों का इस विकासक्रम में आरम्भ और अन्त हो चुका है। हमने प्राणियों के जीवन का उन के शरीर के सहारे थोड़ा-सा अनुशीलन किया और फिर मनुष्य के शरीर की रचना और उस के अंग-अंग के व्यापारों का अध्ययन किया। फिर हमने देखा कि किस प्रकार मनुष्य का चित्त जैसा कुछ दिखाई पड़ता है उस से कहीं अधिक गम्भीर, विस्तीर्ण और अमेय है और हमने यह भी समझा कि वह अपने स्थूल शरीर से स्वतंत्र अस्तित्व भी रखता है और उस के मर जाने पर भी उस का व्यक्तित्व नष्ट नहीं होता बल्कि उस की स्वतंत्रता बहुत बढ़ जाती है। हमने यहाँ तक विकासक्रम से "महतोमहीयान्" से लेकर "अणोरणीयान्" सूक्ष्म-से-सूक्ष्म मनुष्य के मन तक का विचार किया। यह सब कुछ हमने उसी बल पर किया जिस की चर्चा हम आगे करना चाहते हैं।

हम यह देख चुके हैं कि बाहरी जगत् की बातें जानने के लिये मनुष्य के पास पांच करण या इंद्रियाँ हैं। जिन के अनुभव का द्वार कान, त्वचा, आँख, जिह्वा और नाक हैं। परंतु इन सब की शक्ति परिमित है। यद्यपि हम कान से बराबर शब्द सुनते रहते हैं तथापि सभी शब्द नहीं सुन सकते। यदि सभी सुन सकें तो हमारा जीना दूभर हो जाय। हमारी परिस्थिति में जितना सुनने की आवश्यकता है हम उतना ही सुन सकते हैं। हम छूकर कड़ा, नरम, ठंढा, गरम का अनुभव भी अपनी जरूरत भर कर सकते हैं। हमारी दृष्टि भी अत्यन्त संकुचित है। स्वाद और गन्ध भी हम उतना ही जान सकते हैं जितने की हमें आवश्यकता

है। इन स्वाभाविक यंत्रों के द्वारा हमें जितना थोड़ा ज्ञान होता है वह भी हमारी भीतरी इंद्रियों के संयोग से होता है। मन यदि इंद्रिय में मौजूद न हो और अनुभव की ओर ध्यान दे तो शब्द आते हों तो भी सुन नहीं पड़ते। आंखें खुली हों तब भी देख नहीं सकतीं। भोजन करते हुए भी स्वाद नहीं मिल सकता और गन्ध का पता नहीं लग सकता। चित्त के उजाले में मन बाहरी जगत् को देखता है, बुद्धि समझती और पहचानती है और अहंकार यह भान करता है कि यह सब कुछ करनेवाला और जाननेवाला मैं हूँ। परिस्थिति के अनुसार इंद्रियों की शक्ति बहुत कम होने से चित्त जो थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त करता है उससे संतुष्ट नहीं रह सकता। तो भी शरीर के बंधन में जब तक पड़ा हुआ है तब तक तो उसे अपने ज्ञान की प्यास इन्हीं इंद्रियों से बुझानी पड़ेगी। बहुत सम्भव है कि करोड़ों बरस आगे विकास करते-करते परिस्थितियां बदल जायँ और इंद्रियां अधिक-से अधिक शक्तिसम्पन्न हो जायँ। परंतु मनुष्य का चित्त ज्ञान के लिये अधीर है और प्रकृति के रहस्यों की खोज में निरन्तर यत्न करता रहता है। वह चाहता है कि हमारी सत्ता बराबर बनी रहे, हमें सब कुछ ज्ञान प्राप्त हो जाय, हम उत्तरोत्तर अधिक से-अधिक सुखी हों। इस यत्न में उस ने अपनी इंद्रियों की शक्तियां बढ़ानी शुरू की। अत्यंत बारीक वस्तुओं को देखने के लिये उस ने अनुवीक्षण और परमाणु-वीक्षण यंत्र बनाये। दूर से-दूर के पिंडों को देखने और उनका रहस्य जानने के लिये दूरवीक्षण और रश्मिमापक यंत्र बनाये। अत्यंत ठंढ और अत्यंत तेज़ आंच और ताप नापने के लिये, बिजली और प्रकाश का वेग जानने के लिये और इन सब की मात्रा नापने के लिये, पृथ्वी का कम्पन और चराचर प्राणी के सूक्ष्म-से सूक्ष्म स्फुरण और स्पंदन नापने के लिये उस ने यंत्र बनाये और उपाय किये।

बंदूक की गोली बड़े वेग से चलती है परंतु उसका हिसाब निकालना सहज है। एक परदा नली के पास लगाया और दूसरा उस से नपी हुई दूरी पर लगा दिया। दोनों परदों को बिजली के तारों के द्वारा ऐसी घड़ियों में लगा दिया जो बहुत सूक्ष्म समय नापती हो और गोली का परदे से ज्योंही स्पर्श हो त्यों ही रुक जायें। बिजली के विधान से दोनों घड़ियां ठीक-ठीक एक ही समय देती हैं। अब गोली स्वयं छूटती है तो पर्दों को छूकर अपना समय बता देती है। यह तो बहुत मोटा और मामूली उपाय हुआ। वैज्ञानिक तो नाप-तौल में सूक्ष्मता की हद कर देते हैं। बहुत सूक्ष्म तौल जानने के लिये ऐसे-ऐसे कांटे बने हुए हैं कि सादे कागज़ पर पेंसिल से किये हुए निशान से जो तौल में अंतर पड़ता है वह भी ठीक-ठीक तौल लिया जा सकता है। रश्मिमापक यंत्र इससे चालीस लाख गुनी कम मात्रा के पदार्थ का पता लगा सकता है। विद्युन्मापक-यंत्र रश्मि-यंत्र से भी दस लाख गुना अधिक तेज है। सूक्ष्मताप मापक यंत्र जिसे बोलोमीटर कहते हैं, तापक्रम के एक अंश के दस लाखवें भाग का पता लगाता है। इस प्रकार मनुष्य ने हर तरह के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म उपकरण बनाये हैं और नाप-तोल के सुभीते के लिये अद्भुत उपाय किये हैं। भौतिक विषयों की तो बात ही क्या है वैज्ञानिकों ने मनुष्य के विचार का वेग नापने के लिये भी यांत्रिक साधन उत्पन्न किये हैं।

वह निरंतर नये-नये यंत्रों या उपकरणों और नये-नये साधनों के आविष्कार में बराबर लगा हुआ है इन उपायों से वह अपने ज्ञान का बड़ा विस्तार कर चुका है और बराबर करता जा रहा है। विज्ञान का सागर अथाह और अपार है परंतु मनुष्य का साहस और अध्यवसाय उसी के जोड़ का देख पड़ता है। सब तरह की इंद्रियों को करण कहते हैं। वह उपेन्द्रियां या उपकरण बनाता जाता है और इन उपकरणों में अपने अंतःकरण की शक्ति लगाकर वह आज भी अपने ज्ञान की प्यास को बुझाने में लगा हुआ है। हम जो कुछ पीछे वर्णन कर आये हैं वह इन्हीं साधनों का फल है। परन्तु अभी तक हमने जड़ और चेतन और मनुष्य के विकास की थोड़ा सा अनुशीलन किया है। आगे चलकर हम यह देखना चाहते हैं कि मनुष्य ने उपकरणों के द्वारा अब तक विशेष ज्ञान प्राप्त किया है और अपनी परिस्थिति को सुधारने में क्या-क्या उपाय सफलता पूर्वक कर पाया है।

२-विश्वभवन की ईंटें

खपरैल की छत में या फूस के छप्पर में कहीं कहीं बहुत बरीक सूराख की राह से जब कभी सूरज की किरणें धरती पर आती हैं तो एक सीधी रोशनी की रस्सी सी दिखाई पड़ती है जिस में असंख्य कण वेग से उड़ते दिखाई पड़ते हैं। कोई कण किसी की अपेक्षा तेज होता है और कोई धीमा। इन्हें कोई उस रोशनी की डोरी से अलग करके देखना चाहे तो नहीं देख सकता। इन कणों को हमारे ऋषियों ने त्रसरेणु कहा है। उन्होंने इसी पर यह कल्पना की थी कि हम किसी पदार्थ को अत्यन्त छोटे खंडों में विभक्त होने की कल्पना करें तो अन्ततः ऐसे छोटे कणों तक पहुँचेंगे जिन के खंड-खंड करने से उस विशेष पदार्थ के गुण नष्ट हो जायेंगे। इन अन्तिम खंडों का नाम अणु अर्थात् अत्यन्त छोटा रखा। जब खंड इस प्रकार के हो जायें कि जिस विशेष पदार्थ के खंड किये गये हैं उस के गुण ही नष्ट हो जायें तो वह सब से छोटे कण अथवा परमाणु कहलायेंगे। हमारे ऋषियों ने अणुओं और परमाणुओं की कल्पना को बहुत बड़ा विस्तार दिया। इन के सम्बन्ध में भारतीय वैशेषिक और जैन शास्त्रों में विस्तार पूर्वक विचार है। पाश्चात्य देशों में यूनानियों ने इसी तरह की कल्पना की और अंतिम अणु वा परमाणु का नाम आटम अर्थात् अखंडनीय रखा। पाश्चात्य देशों में इस विचार का विकास पिछले डेढ़ सौ बरसों के पहले तक कल्पना और तर्क-मात्र पर होता रहा। कोई सवा सौ बरस से ऊपर हुए, कि मैनचेस्टर के एक अध्यापक जान डाल्टन ने परमाणुवाद की धारणाओं को बहुत स्पष्ट कर दिया। उस के समय के और पीछे के रासायनिक और भौतिक खोजियों ने असंख्य प्रयोगों और परीक्षाओं के द्वारा उस की धारणाओं की पुष्टि की और परमाणुवाद के सिद्धान्तों को ईसा की उन्नीसवीं सदी भर में पूर्णतया स्थापित कर दिया। डाल्टन का परमाणुवाद यह है कि जितना कुछ विश्व हमारे करणों और उपकरणों का विषय हो सकता है वह सब गिने हुए परिमित संख्या के मौलिक पदार्थों की कमी और बेशी के साथ मिश्रित और संयुक्त रूप में उन के कम या अधिक घनत्व के साथ

मिलकर बना हुआ है। इन मूल पदार्थों के अंतिम टुकड़े जिन में कि उन के गुण मौजूद हैं, परमाणु कहलाते हैं। प्रत्येक पदार्थ के परमाणु के विशिष्ट गुण हैं जो दूसरे पदार्थों के परमाणुओं के गुणों से नितांत भिन्न हैं। जब दो या अधिक मूल पदार्थों के परमाणु एक में मिल जाते हैं और मिल-जुल कर अपने मंडल के बाहरी पदार्थों पर प्रभाव डालते हैं तो उन मिले हुए परमाणुओं के समूह का नाम संयुक्त अणु होता है। जहां एक ही पदार्थ के कई परमाणु मिले हुए होते हैं वहां ऐसे संयुक्त समूह को मौलिक अणु कहते हैं। संसार में चराचर पदार्थ इन्हीं संयुक्त और मौलिक अणुओं के समूहन से बना हुआ है। यदि हम बाल के सिरे को या उस की चौड़ाई को दस लाख टुकड़ों में बाँट दें तो उन में से एक टुकड़ा भी एक परमाणु से शायद बड़ा ही निकलेगा। इस लिये सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पदार्थों को जिन उत्तम-से-उत्तम अनुवीक्षण यंत्रों के द्वारा हम देख सकते हैं उन के द्वारा भी हम परमाणुओं को नहीं देख सकते। तो भी जैसे किसी पदार्थ को एक सेर तौल कर उस के बहुत छोटे-छोटे समान अंशों का हम हिसाब से तौल निकाल सकते हैं उसी तरह अणुओं के छोटे-छोटे समूहों की उपकरणों द्वारा जाँच करके पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने उन के तौल और आकार का भी अनुमान किया है। निदान उन्नीसवीं सदी के अन्त तक अणुओं परमाणुओं के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों को बहुत विस्तृत ज्ञान हो गया।

योग-साधन से हमारे ऋषियों ने अपनी इंद्रियों की शक्ति ऐसी बढ़ायी थी कि जो बातें आज उपकरणों के सहारे मालूम की जा सकती हैं उन का अनुभव वह इंद्रियों से कर लेते थे। हम थोड़ी देर के लिये मान लें कि हमारी आँखों में ऐसी विचित्र शक्ति पैदा हो गयी है कि हम तेज अणुवीक्षण यंत्र की तरह प्रत्येक पदार्थ की ठीक बनावट देख सकें तो हम देखेंगे कि हर ठोस चीज़ उसी तरह नहीं बनी हुई है जैसे ईंटों से ठोस दीवार बनी हुई है। देखने में जो ठोस मालूम होती हैं वह चीज़ें वस्तुतः परमाणु की ईंटों के कसे हुए या ठस बैठने से ठोस नहीं हुई हैं। यह ईंटें सब एक ही आकार-प्रकार की बड़ाई-छोटाई की नहीं हैं। इन ईंटों के भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार के समूह बने हुए हैं। यही परमाणुओं के समूह अणु हैं जो अत्यन्त पास-पास होने से ठोस, कुछ दूर-दूर होने से द्रव और अधिक दूर-दूर होने से वायु बनाते हैं। ठोस में किसी शक्ति के खिंचाव से यह समूह पास-पास रहते हैं। द्रव में किसी शक्ति के कारण यह एक दूसरे को खींचते तो रहते हैं। परंतु सारा पदार्थ भारी समूह के रूप में उन्हें साथ लिये हिलता-डोलता रहता है। इस आपस में एक दूसरे को खींचते रहने की शक्ति को "संसक्ति" कहते हैं। ठोस में संसक्ति अधिक होती है, द्रव में कम। वायव्य पदार्थों में अणुओं को पूरी स्वतंत्रता है। यह बड़े वेग से एक दूसरे से टकराते रहते हैं और समूह में नहीं रहते। यदि हम चाहें कि इन की गति और वेग को कम कर दें तो अत्यंत ठंढक और दबाव के द्वारा ऐसा हो सकेगा। आजकल वैज्ञानिक हवा को इसी अत्यंत ठंढ के सहारे पानी की तरह द्रव के रूप में बदल देते हैं। यह ऐसी अत्यंत शीत की दशा होती है, कि उस के सामने बरफ़ का एक टुकड़ा अंगारे की तरह जलती हुई आँच देनेवाला है। द्रव रूप में वायु को एक

चाय की केतली में लेकर बरफ़ की चट्टान पर रख दें तो बरफ की आँच की तेज़ी से यह द्रव उसी तरह खौलकर उड़ने लगेगा जैसे लाल तपते तवे पर पानी खौलने लगता है।

कोई ताकत ऐसा नहीं है जो साधारण दशा में हवा को पानी सा बना दे। किसी सुदूर भविष्य काल में शायद अरब दो अरब बरस बाद जब सूर्य बहुत ठंडा हो जायगा और पृथ्वी बरफ से भी दो सौ दर्जा नीचे ठंडी हो जायगी अर्थात् वह चन्द्रमा की शीतल दशा को

चित्र १२१ बरफ पर द्रव का खौलना

पहुँच जायगी तो इस धरती के, वायु-मंडल की दशा विचित्र हो जायगी। उस समय पानी जमकर फौलाद की तरह कड़ा हो जायगा और वायुमंडल जमकर धरती पर पानी की तरह हो जायगा और सिमटकर अठारह हाथ गहरा सारी धरती पर महासागर की तरह फैल जायगा। उस समय धरती पर आजकल के से न तो पेड़ रह जायंगे और न कोई प्राणी।

ठोस पदार्थों के अणु बड़ी मजबूती के साथ परस्पर लगे रहते हैं। एक इंच मोटे लोहे के छड़ को फाड़ने के लिए छः सौ इक्यासी मन के बराबर की ताकत चाहिये। परंतु तो भी ठोस का यह अर्थ नहीं है कि अणु-अणु आपस में ऐसे ठस सटे हुए हैं कि बीच में कोई जगह खाली नहीं है। सोने का टुकड़ा देखने में कैसा ठस ठोस लगता है, परन्तु उसी को पारा भरे एक प्याले में डाल दें तो वह पारे को ऐसा चूसता है जैसे स्पंज पानी को चूसे। अगर

अणुओं के बीच-बीच में खाली जगह न होती तो ऐसा न होता। ठस-से-ठस ठोस चीज की बनावट में अणुओं के बीच-बीच में इतनी जगहें छूटी हुई हैं कि हमारी दृष्टि अगर अनुवीक्षणयंत्र से भी ज्यादः सूक्ष्मदर्शी हो जाय तो हम देखें कि यह ठस नहीं है बल्कि झञ्झरी की तरह है। झञ्झरी में स्थिरता होती है परंतु यहां सभी अणु बड़े वेग से आगे पीछे गति कर रहे हैं। उन्हें इस गति के लिए काफी जगह भी मिलती है और वह बड़े नियम से चलते हैं और अपनी स्थिति को कायम रखते हैं।
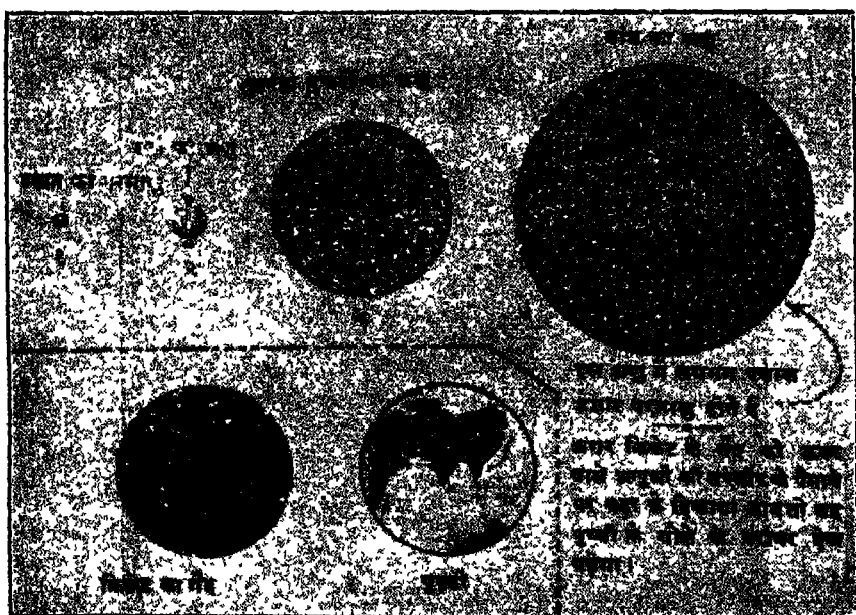
चित्र १३२— अणुओं की बड़ाई और छोटाई की तुलना।

ज्यार्ज न्यून्स की अनुमति से] [टामसन से अनुवर्तित

अणुओं की इस तरह की गति का प्रमाण भी मिला है। अत्यंत सूक्ष्मदर्शी अनुवीक्षण यंत्र के द्वारा ब्रौन नाम के एक वैज्ञानिक ने देखा कि एक घोल के ऊपर जब बहुत से सूक्ष्म कण बिना घुले हुए होते हैं तो वह निरंतर बड़े वेग से चलते रहते हैं, उन की गति स्वतंत्र होती है, एक दूसरे से टकराते हैं और सभी दिशाओं में उछलते और घूमते हैं। एक सेकंड में हजारों बार टकराते हैं। साधारण दशाओं में भी यही तेज़ गति, यही बारम्बार का टकराते रहना, निरंतर जारी रहता है। एक भी अणु स्थिर नहीं है। कणों की इस गति का हिसाब लगाया गया है। अब यह बात मालूम है कि यह कण निरंतर इसीलिए घूमते और टकराते रहते हैं कि उस घोल के अणु बराबर इन कणों के ऊपर गिरते और टकराते रहते हैं। अणुओं के धक्कों की इन कणों पर वर्षा होती रहती है, जैसे गोलों या ओलों की वर्षा

होती हो। अणु तो इतने छोटे होते हैं कि यंत्र से भी नहीं दीख सकते परन्तु कण इतने बड़े हैं कि उन के ऊपर अणुओं का जो अत्यंत वेगमय गति पैदा करनेवाला प्रभाव होता है उसे हम यंत्रद्वारा देख सकते हैं। अणुओं की गति की वास्तविकता जानने के लिये यह प्रयोग, जिसे वैज्ञानिक ब्राउनवाली गति कहते हैं, बड़े महत्व का है।

३—परमाणु-जगत्

गणित विद्या के विशेषज्ञों ने जैसे विश्व के महापिंडों का हिसाब लगाया है वैसे ही परमाणु संसार के लिए भी उन का चमत्कार दर्शनीय है। सोना पीट कर बारीक पत्तर कर दिया जाता है, यह तो सभी लोग जानते हैं। गणित जाननेवाला अगर पीट कर बढ़ाये हुए सोने की तौल और लम्बाई-चौड़ाई जानता हो तो मोटाई निकालना कोई बड़ी बात नहीं है। एक ग्रेन सोने की ७५ वर्ग इंचों के पत्र का रूप दे सकते हैं। इस की मोटाई हिसाब से एक इञ्च का तीन लाख ६७ हजारवा भाग होगी अर्थात् ऐसे ऐसे एक हजार पत्र सटा दिये जायें तो शायद इस किताब के एक वरक की मोटाई को पहुँच सकें। तो भी इतने बारीक पत्र में अनेक अणुओं की मोटाई होगी। अब साबुन का एक बुलबुला लीजिये जिसे फूंककर बहुत बड़ा कर दिया गया है। बड़े ध्यान से देखिये तो इस की बारीक भीत पर कहीं कहीं धुमले धब्बे हैं। यह उस बुलबुले के बहुत पतले भाग हैं। दो बिल्कुल स्वतंत्र रीतियों से,—एक बिजली की और दूसरी प्रकाश की,—यह पता लगा है कि इन धब्बों की जगह पर भीत की मोटाई एक इञ्च के तीस लाखवें भाग से भी कम है। इतनी बारीकी में भी आपस में ऐसी मजबूती से अणुओं का सगठन है कि ऐसी जगह पर भी बीस से लेकर तीस अणुओं की मोटाई अवश्य होगी। अर्थात् हर एक अणु की मोटाई इञ्च के दो करोड़वें से लेकर तीन करोड़वें अंश तक होगी। परन्तु इस से भी बारीक तह पानी के ऊपर तेल की होती है। फरासीसी विशेषज्ञ प्रो॰ पेरिन ने तेल की तह मोटाई इञ्च के पांच करोड़वें भाग तक निकाली। उन्होंने पानी पर तेल की नपी हुई बूँद डाली। जब तेल फैल गया तब उस का विस्तार जानने के लिये एक ऐसी बारीक बुकनी उस पर डाली जिस से उस की बाहरी रेखाएँ स्पष्ट हो गयीं और तह नापी जा सकी। फिर तो मोटाई जानना आसान था। यह अनुमान किया गया कि यह तह कम-से-कम दो अणु गहराई की होगी। इसलिये इस जाँच से यह अनुमान किया गया कि एक अणु का व्यास इञ्च के दस करोड़वे भाग से भी कम लम्बाई का होगा। और भी अनगिनतियों जाँचे की गयीं परन्तु सब का फल यही निकला। नील का एक ग्रेन सवा सत्ताईस मन पानी को रंगीन कर देता है। इस से मालूम होता है कि एक ग्रेन नील में गिनती के नीलों अणु होंगे। एक ग्रेन कस्तूरी से सारा कमरा सुगंधित हो जाता है और अनेक वर्ष तक बना रहता है। परन्तु कस्तूरी की मात्रा में साल पीछे दस लाखवें अंश की भी कमी नहीं आती। अच्छी-से-अच्छी विधियों से जाँच करके मालूम किया गया है कि एक औसत अणु इञ्च के साढ़े बारहवें करोड़ से भी कम लम्बाई का होता है। वायु के एक घन-शताश-मिति में जो खेलनेवाली एक छोटी गोली के बराबर होगा, तीन महाशंख से कम अणुओं की संख्या न होगी।

अभी तक हम अणुओं पर विचार करते रहे हैं। अब परमाणुओं पर विचार करेंगे। हम तो कह आये हैं कि अनेक परमाणुओं के मिलने से एक अणु बनता है। और अणुओं में भी आपस में आकार का बहुत बड़ा भेद है। रासायनिकों ने हिसाब लगाया है कि मड के एक अणु में पचीस हजार के लगभग परमाणु होते हैं और पानी की भाफ के अणु में केवल तीन परमाणु होते हैं। इस से यह तो स्पष्ट है कि बड़ाई-छोटाई के हिसाब में अणुओं में आपस का बहुत बड़ा भेद होगा। जब बड़े-से-बड़े आकार के अणु में पचीस हजार परमाणु
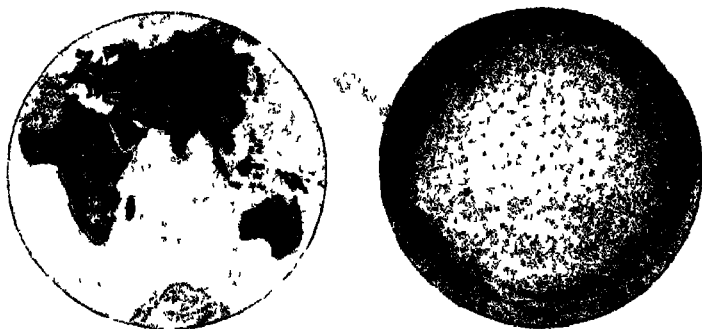
चित्र १२३—यदि उदजन वायु के सरसों बराबर आयतन को बढ़ाकर पृथ्वी के बराबर होने की कल्पना करें तो उस सरसों भर में स्थित एक-एक परमाणु बढ़कर केवल टेनिस के गेंद के बराबर होंगे।

ग्रंथकार की कृपा] [सौर-परिवार से

हो सकते हैं तो यह सहज ही समझा जा सकता है कि अणुओं की अपेक्षा परमाणु कितने अधिक छोटे होंगे। परंतु यह बात भी रासायनिकों ने कई जाँचों से मालूम कर रखी है कि भिन्न-भिन्न प्रकार के परमाणुओं में आपस में भार, आकार, बड़ाई, छोटाई और गुणों का बड़ा भेद है। उज्जन एक वायु है जिस के परमाणुओं से हलके किसी के परमाणु नहीं हैं। उसी को प्रमाण मानकर सवा दो सौ गुने से भी अधिक भारी परमाणु मौजूद हैं। जब अणु नहीं देखे जा सकते तो एक परमाणु के देखे जाने की क्या कथा है। तो भी हिसाब लगाया गया है कि अनुस्वार के सबसे छोटे बिन्दु की व्यासवाली रेखा पर सीधी या ऋजु रेखा में रखे जाँय तो सम्पूर्ण रेखा में पचास लाख हीलियम के परमाणु आ सकेंगे। कुछ परमाणुओं के लिए यह अन्दाजा किया गया है कि एक इंच की रेखा में चालीस करोड़ आ सकेंगे। यह परमाणु बड़े भयानक वेग से चक्कर लगा रहे हैं। हाथ में हम एक कंकड़ी उठा लेते हैं तो देखने में तो वह बड़ी क्षुद्र सी लगती है परन्तु उस के प्रत्येक कण जो सटे दीखते हैं ऐसे अणुओं से बने हुए हैं जो बड़े वेग से आपस में धक्कम-धक्का कर रहे हैं। पर यह धक्कम-धक्का करनेवाले अणु भी ऐसे परमाणुओं से बने हुए हैं जो उन अणुओं के विस्तार के भीतर ही बड़े भयानक वेग से चक्कर मार रहे हैं। इस हिसाब से यह क्षुद्र कंकड़ी बड़ी भयानक

शक्ति का खजाना है। यदि यह शक्ति वैज्ञानिक के हाथ आ जाय तो वह संसार में अद्भुत चमत्कारों का खजाना हो जाय।

पानी में जब हम किसी रंग का एक बहुत छोटा सा कण छोड़ देते हैं तो वह रंग कुछ देर में सारे पानी में फैल जाता है। कमरे की हवा ठहरी हुई है परन्तु गंध के फैलते देर नहीं लगती। इन बातों से अणुओं का बराबर चलते रहना तो सिद्ध ही है। वायव्य पदार्थ फैलकर सभी खाली जगहों में भर जाते हैं। इससे भी स्पष्ट है कि उन के छोटे-छोटे कण बड़े वेग से निरंतर चारों ओर चलते रहते हैं। विज्ञानी अपनी सूक्ष्म बुद्धि और यंत्रों से काम लेता है और इन अत्यन्त छोटे अणुओं की शक्ति और वेग को नाप लेता है। उस ने बताया है कि गलती हुई बरफ के तापक्रम पर ऑक्सिजन वायु के अणु सेकंड पीछे पांच सौ गज के वेग से चलते हैं। उज्जन वायु के अणु उनसे चौगुने वेग से चलते हैं। जिस समय हवा बिलकुल रुकी हुई रहती है उस समय भी बन्द कमरे में वायु के अणु बंदूक की गोली के उस वेग से भी अधिक तेज चलते होते हैं जो छूटते समय होता है परंतु चलने में प्रायः इंच के हर हजारवें भाग पर एक अणु दूसरे से टकराता रहता है। इस टक्कर से हर सेकंड में पांच अरब बार उसे अपने मार्ग से मुड़ना पड़ता है। उज्जन वायु के अणुओं को रोककर उन की शक्ति को अगर हम काम में ला सकें,—जैसे गिरते हुए जल या रोकी हुई भाफ को हम काम में लाते हैं,—तो उस के एक माशे से कुछ कम ही मात्रा में (एक ग्राम में) नौ मन से कुछ अधिक भार को चालीस इंच की ऊँचाई तक उठा सकने की ताकत मिल सकेगी। एक एक ढेले में कितना महान बल छिपा हुआ है। यदि मनुष्य किसी तरह इस बल से काम ले सके और अणुओं में से इस बल को निकालकर कारखानों की मशीनों को चलाना चाहे तो ईंधन और बिजली का सारा खर्च बच जाय और संसार की सभ्यता का रंग रूप बिलकुल बदल जाय। परन्तु मनुष्य लाचार है कि इन शक्तियों को जानता है पर इच्छानुसार काम नहीं कर सकता।

४—एक्स-किरणें और रेडियम

अणुओं और परमाणुओं की सत्ता ईसा की उन्नीसवीं सदी में पूरे तौर पर स्थापित हो गयी थी। परन्तु एक भ्रम अभी तक बराबर चला जाता था। हम कह आये हैं कि यूनानी विद्वान् परमाणुओं को अखंडनीय मानते थे, इसीलिए आटम कहते थे। वह भ्रम सदी का अंत होते-होते विज्ञान की खोजों ने मिटा दिया। पहले से ही वैज्ञानिकों के मन में यह बात खटका करती थी कि वस्तुसत्ता के लगभग अस्सी तरह के परमाणुओं का होना प्रकृति की विविधता बतलाता है, यद्यपि मन को संतोष इसी में होता कि जड़ प्रकृति एक ही होती और उस के सब से छोटे खंड एक ही प्रकार के होते, क्योंकि विज्ञान का सदा यही उद्देश्य रहा है कि एकता और सरलता का पता लगावे। रासायनिकों ने बहुत चाहा कि इस एकता को स्थापित करें, परन्तु वह परमाणुओं को खंड-खंड न कर सके। तो भी उन में से कई विद्वानों ने अपनी यह धारणा प्रकट की कि अवश्य ही कोई ऐसा मूल

पदार्थ होगा जिस से मौलिकों के विविध रूप बने हुए जान पड़ते हैं। प्राउट ने तो यह बात डाल्टन के समय में ही कही थी। कोई पचास बरस से ऊपर हुए प्रो० क्रुक्स ने ऐसे मूलतत्व का नाम "प्रथिल" रखा। उन्होंने सं० १९२६ में यह देखा था कि जब वायुशून्य नलिका में बिजली की धारा चलती है तो उस की भीतों में एक तरह की हरी ज्योति निकलने लगती है। एक दम वायु-शून्य कर देना साधारणतया असम्भव है। क्रुक्स ने ऐसे उपाय किये थे कि नलिका के भीतर वायु दो करोड़ गुनी अधिक पतली हो

चित्र १३४—मेडम क्यूरी [सं० १९२४— १९९१ वि०]

गयी थी। धारा की ऋणात्मक छोर से एक तरह की किरणें निकलतीं थीं जिन से कि नली के भीतर के पतले वायव्य के अणु बहुत मद-मद चमकने लगते थे और नलिका की भीतों पर एक सुंदर ज्योति डालते थे। क्रुक्स ने सोचा कि यह वस्तु की नयी या चौथी अवस्था होगी जो घन द्रव और वायव्य से भी सूक्ष्म है। बीस बरस बाद यह पता लगाया गया कि इन किरणों में ऋण बिजली से लदे कण हैं जो एक सेकंड में दस हजार से लेकर एक लाख मील तक के वेग से दौड़ते हैं। इस के सिवा यह भी पता लगा कि ये कण अत्यंत सूक्ष्म हैं। उज्जन वायु के एक परमाणु से अठारह सौ गुने छोटे हैं। यह परमाणु

या विद्युत्कण अब तक के माने हुए परमाणु से ही निकल रहे थे। क्रुक्स की नलिका में वस्तुः परमाणु के खंड-खंड हो रहे थे। परंतु उस समय ऐसी बात नहीं सोची जा सकती थी। इसलिए क्रुक्स ने कहा कि वायव्य के कण बिजली से लगकर नलिका की भीत से टकराते हैं। और यह साधारण वस्तु की नयी अवस्था है जिसको विकीरक अवस्था कह सकते हैं। एक दूसरे वैज्ञानिक लेनार्ड ने यह भी देखा कि नलिका की कांच की भीत में अल्युमिनियम का छोटा सा पत्तर लगा देते हैं तो किरणें उसके भीतर से उसी तरह से निकलती हैं जैसे एक खिड़की से। उसने समझा कि यह किरणें आकाश-तत्त्व की लहरें होंगी।

सन् १८९५ में राइंटगेन या रंजन ने एक्स किरणों को ढूंढ़ निकाला। वह लेनार्ड-वाला प्रयोग कर रहा था। क्रुक्स की नलिका में उस ने एक काली सी चीज देखी। नलिका के पास ही रखा हुआ रासायनिक विधि से बन्द एक पर्दा चमकने लगा। बात यह हुई कि उस काली चीज के भीतर से होकर किरणें निकल गयीं और अधिक जांच करने से पता लगा कि यही किरणें पत्थर मांस आदि सभी तरह की अ-पारदर्शी वस्तुओं में पैठकर निकल जा सकती हैं। इससे मनुष्य की हड्डी की ठठरी का चित्र लिया जाना सहज हो गया। बच्चे ने आलपीन निगल ली है, वह कहाँ पहुँच गयी है इसका पता लग सकता है, पत्थर के नीचे नीचे पड़े हुए रुपये की छाया की फोटो ली जा सकती है। यह एक्स किरणें ऐसे नये प्रकार की ज्योति हैं जिसमें घुसने की अद्भुत शक्ति है। यह किरणें साधारण प्रकाश की किरणों से अत्यधिक सूक्ष्म होती हैं, और तब से आज तक बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई हैं।

दुनिया इन किरणों को देख कर चकरा ही रही थी कि बेकरेल ने कुछ और अद्भुत बातें निकालीं। कुछ ऐसी वस्तुएं हैं जो कुछ काल तक सूर्य की किरणों में रहकर ज्योति देने लगती हैं। बेकरेल यह खोज कर रहा था कि देखें ऐसी वस्तुओं में से एक्स किरणें तो नहीं निकलतीं। उसने युरेनियम धातु या पिनाकम् का एक लवण लिया। एक कागज पर स्वस्तिक चिह्न बनाया और फोटोवाली प्लेट के साथ लपेटकर और बीच में एक अपारदर्शी पर्दा रखकर लपेट दिया। वह प्रतीक्षा में था कि धूप निकले तो इसे धूप में रक्खूं। परंतु इसकी जरूरत न हुई। स्वस्तिक का चित्र प्लेट पर उतर आया। उसने प्रकाश या अन्धकार की परवाह न की। यह देख कर बारम्बार सभी दशाओं में जांच की गयी। पता लगा कि यह अद्भुत किरणें पिनाकम् के लवण से निरंतर निकला करती हैं और एक्स किरणों की तरह उन्हीं अ पारदर्शी पदार्थों में पैठकर आर-पार निकल जाती हैं।

कुरी दम्पती ने भी इस सम्बन्ध में खोज की। यह पता लगाने के लिए कि किरणें पिनाकम् के लवण से ही आती हैं या उसके साथ और कोई चीज मिली हुई है जो यह किरणें उपजाती है। उन्होंने उस तरह के खनिजों की बड़ी मात्राएं लेकर विश्लेषण किया। उन्हें पता लगा कि एक तरह का पिचब्लेंडी बहुत ही तेज़ है। उस मेल का सैकड़ों मन पिचब्लेंडी लेकर उन्होंने विश्लेषण कर डाला। अलगाते अलगाते दो-सौ-बीस मन पिचब्लेंडी से उन्होंने चाय के आधे चम्मच भर एक ऐसी चीज़ निकाली जो युरेनियम की अपेक्षा दस लाख गुना अधिक किरणों के निकालने की शक्ति रखती थी। उन्होंने इस पदार्थ का नाम रेडियम या रश्मिम रखा।

इस नये पदार्थ ने विज्ञान-संसार में हलचल पैदा कर दी। संसार की सभी प्रयोग-शालाओं से इस अनमोल धातु के लवणों की माँग आने लगी और सैकड़ों भारी-भारी

चित्र १२५—मगनीशियम परमाणु का कल्पित चित्र जिसके बीच में धनाणु है जिसकी बिजली की मात्रा १२ है। चारों ओर बारह ऋणाणु चक्कर लगाते हैं।

विद्वान् इस सम्बन्ध की खोज करने लगे। ऐसी किरणें निकालनेवाले विकीरक पदार्थ हर साल नये नये निकाले जाने लगे। अब आज तो यह दशा है कि प्रायः सभी तरह के पदार्थ उत्तेजित करके विकीरक बनाये जा सकते हैं।
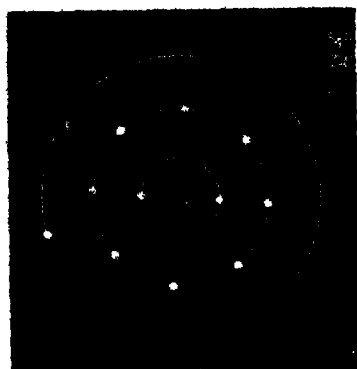
चित्र १२६—इसी के यावनीकरण पर इसका एक ऋणाणु निकल जाता है। इस चित्र में अब ग्यारह ही ऋणाणु रह गये हैं।

इस क्रिया को यावनीकरण कहते हैं। इस विकिरण का अर्थ क्या है? विकीरक पदार्थ के ऊपर प्रयोग-पर-प्रयोग करके यह पता लगाया गया है कि परमाणुओं के खंड-खंड

हो जाते हैं और उसके टुकड़े जो निकलते हैं वह चमकीले विद्युत्कण हैं जो सबके सब एक ही प्रकार के हैं चाहे कितने ही भिन्न पदार्थों के परमाणुओं से टूटकर निकलते हों। इन में अद्भुत शक्ति और तेजस है। इन को विद्युत्कण या ऋणाणु कहते हैं।
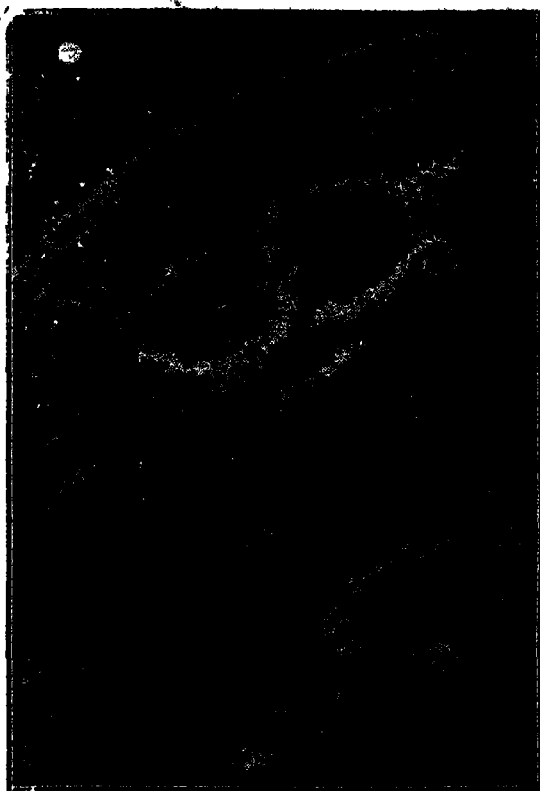
चित्र १२७—पृथ्वी पर सूर्य से विद्युत्कणों की वर्षा

बहुत संभव है कि सूर्य के धब्बे जो कभी-कभी देख पड़ते हैं विद्युत्कणों की अत्यन्त प्रचंड आंधी ही हो जो अंतरावर्त्त के रूप में प्रकट होती है।

ज्यार्ज न्यूनस की अनुमति से] [टामसन का अनुवर्तन

आज अब यह परमाणु अखंडनीय नहीं रहे। खंड्य हो गये। वास्तव में वह बराबर खंड-खंड होते जाते हैं और अपने-आप टुकड़े हो-होकर विश्व में विद्युत्कणों की वर्षा करते रहते हैं। अब तक इस विषय में विज्ञान-संसार में क्रान्तिकारी खोजें हो चुकी हैं। यह पता लगा है कि हर एक आँच से चमकती हुई धातु इन विद्युत्कणों की धारा बहा रही

है। बादल की हर गरज और बिजली की हर चमक के साथ इन की वर्षा होती रहती है। हर तारा आकाश में विद्युत्कण बरसाता रहता है। हम लोग जिन परमाणुओं को अखंड समझते थे वह हमारी आंखों के सामने अपने-आप बराबर टूटते रहते हैं। सूरज से विद्युत्-कणों की केवल अपार धारा ही नहीं आती रहती, बल्कि पराकासनी किरणें भी आती रहती हैं जिन्हें हम देख तो नहीं सकते पर जिन में ऐसी रासायानक शक्ति है कि धरती के ऊपरी तल के परमाणुओं के खंड-खंड करती हैं और विद्युत्कण निकालती रहती हैं। हमारे लिये यह कुशल है कि हमारा वायु-मंडल इन अदृश्य किरणों के अधिकाश को सोख लेता है। नहीं तो शायद सूरज से उस की पूरी धारा आ पाती तो हमारी सब धातुएँ बिखर जातीं और हमारी फौलादी सभ्यता मिट्टी में मिल जाती। कुरी दम्पती ने वस्तुतः रेडियम का पता लगाकर असली अखंड परमाणुओं के ज्ञान का फाटक खोल दिया जिस का फल यह हुआ कि प्रकृति के इस मन्दिर में प्रवेश करके पिछले तीस वर्षों में हमारा ज्ञान-विज्ञान का भंडार जितना बढ़ गया पिछले तीन सौ बरसो की भी जानकारी उस के सामने थोड़ी सी लगती है।

उन्नीसवां अध्याय

अखंड परमाणुओं द्वारा विचार-क्रान्ति

१—बिजली के परमाणु

रेडियम ने ज्ञान का नया द्वार खोल दिया और इस द्वार से सर जे० जे० टामसन, प्रोफेसर रदरफोर्ड, सर विलियम रैमज़े, प्रो० साडी सरीखे अनेक प्रतिभाशाली वैज्ञानिकों ने प्रवेश किया और पाँच बरस के परिश्रम में उन्होंने प्रकृति के रहस्यों का एक भंडार संसार के सामने रख दिया। उन्हें तुरत यह मालूम हुआ कि क्रुक्स की नली में जैसी किरणें निकलती हैं ठीक वैसी ही रेडियम से भी निकलती हैं। यह तो शीघ्र ही निश्चय हो गया कि रेडियम से तथा और धातुओं से परमाणुओं के खड-खड होते जाते हैं। ऐसा किस प्रकार होता है इस का पता नहीं लगा। पहले-पहल उन्होंने यह परखा कि (रेडियम) रश्मिम और पिनाकम् (युरेनियम) आदि से तीन तरह की किरणें निकला करती हैं। उन तीनों के नाम क्रमशः अ, ब, ग रखे गये।

" अ " किरणें तुरंत पहचान ली गयीं। वह हिलियम नामक वायव्य के परमाणु थे जो सेकण्ड पीछे बारह हजार मील के वेग से निकल रहे थे और " ग " किरणें एक्स किरणों की तरह अव्यक्त प्रकाश की किरणें हैं जो अपारदर्शी पदार्थों में भी घुस जाती हैं यहां तक कि एक फुट मोटाई के लोहे में भी उन की गति अव्याहत है।

" ब " किरणों से अधिक महत्व का आविष्कार विज्ञान में आज तक नहीं हुआ था। क्रुक्स ने अपनी नलिका में इन्हें ही देखकर कहा था कि यह वस्तु की चौथी अवस्था मालूम होती है। परन्तु यह समस्त पदार्थों के प्रत्येक अणु में पाया जानेवाला गुण निकला। इन किरणों का नाम आगे चलकर एलेक्ट्रन अणुमात्र या विद्युत्कण पड़ा। यह स्वतंत्र बिजली के कण हैं जो परमाणुओं से छूटकर निकलते रहते हैं। यह पहले-पहल तब समझे गये जब परमाणुओं के टूटने से इनकी अलग सत्ता की जाँच की गयी। पता लगा कि ये परमाणुओं के बनानेवाले घटक हैं और यह अनेक विधियों से परमाणु से टूटकर निकल सकते हैं। यह सब तरह के परमाणु में मौजूद भी हैं।

इन की स्वतंत्र स्थिति तभी रह सकती है जब यह सेकण्ड पीछे कम-से-कम लगभग छः सौ मील के वेग से चल रहे हों। यदि वेग कम हुआ तो जो ही पहला परमाणु मिलेगा उसी में यह लग जायँगे। इन का वेग अद्भुत है। एक सेकण्ड में दस हज़ार से लेकर एक लाख से अधिक मीलों का वेग साधारणतया होता है। पहले जभी यह मालूम हुआ कि ये बिजली के से गुणवाले पदार्थ हैं, क्योंकि इनकी किरणें चुम्बक के पास लाने से अपने सीधे मार्ग से झुक जाया करती थीं, तभी वेगवाली महत्व की बात इस तरह मालूम की गयी। शून्य नलिका में एक प्रकार का छोटा सा रासायनिक पर्दा दिया गया और इस तरह पर प्रबन्ध किया गया कि एक बहुत पतली किरणमाला पर्दे पर पड़ सके। फिर चुम्बक के द्वारा वह किरणमाला अपने मार्ग से हटायी गयी और ज्योतिर्बिन्दु जहाँ से जहाँ तक खसका था उसे बिल्कुल ठीक ठीक नाप लिया गया। चुम्बक और उस के क्षेत्र की ठीक नाप और उस से उपजाये झुकाव और चलनेवाले कणों की मात्रा मालूम होने से यह पता लगाया जा सका कि झुकनेवाले कण कितने वेग से दौड़ रहे हैं। इन का वेग अच्छी स्थितियों में लगभग प्रकाश के बराबर पाया गया जो कि प्रति सेकण्ड एक लाख छियासी हजार मील है। अनेक परीक्षाओं में इस वेग का समर्थन हुआ है।

वैज्ञानिकों ने इन कणों के आकार का भी पता लगाया है। यह बहुतों को मालूम है कि वायु-मंडल में धुएं और धूल के कण पर भाफ के कणों के पड़ जाने से कुहरा या कुहासा हो जाता है। छोटी काच की नलिकाओं में पहले कमोबेश धूल फैला दी गयी और उस में अतिसम्पृक्त भाफ का प्रवेश कराकर उन कणों पर इकट्ठा होने दिया गया। अन्त में वर्षा की छोटी-छोटी बूंदें अपने अन्तःस्तल में एक-एक रजःकण लिये हुए चांदी के दर्पण पर गिरीं और गिनी जा सकीं। धूल के यह कण दिखाई नहीं पड़ते थे। इसलिए अलग अलग गिने नहीं जा सकते थे। यह बूंदों के सहारे गिन लिये गये। ऐसी ही विधि से विद्युत् कणों की भी गिनती कर ली गयी। एक रासायनिक परदा बनाया गया जिस पर विद्युत् कणों की धारा छूटकर टकराती थी और परदे के परमाणुओं को चमका देती थी। एक सूक्ष्मदर्शी ताल के द्वारा चिनगारियों के रूप में इस चमक को देखा गया और चिनगारियाँ गिन ली गयीं। इस तरह का यंत्र पहले पहल क्रुक्सने ही बनाया और स्फुलिंगमापक नाम रखा। ऐसे अनेक बड़े ही सुंदर प्रयोग संसार की बड़ी-बड़ी प्रयोगशालाओं में हुए जिन में एक दूसरे की पूरी जांच की गयी और विद्युत्कणों के गुणों का निश्चय-पूर्वक अनुशीलन हो गया। बिजली के सिवाय और कोई बात इन कणों में नहीं मिली। इसलिए ये बिजली के कण ही समझे गये। उज्जन के एक परमाणु का आयतन यदि हम एक माने तो एक विद्युत्कण का आयतन उसका १८४५ वा अंश होता है। यह कण विद्युत् का एक परमाणु है। इस का आयतन अत्यन्त छोटा है और शरीर पूर्णतया विद्युन्मय है। विद्युत्कणों ने प्रकृति के बड़े भारी रहस्य का उद्घाटन कर दिया। जिसे हम अब तक बिजली की धारा कहते थे वह वस्तुतः बड़े वेग से चलनेवाले विद्युत्कणों की धारा है। जिन वस्तुओं को हम सर्वथा अपारदर्शी समझते हैं उन में से भी होकर विद्युत्कण निकल जाते हैं, और उन वस्तुओं के

गुणों से इन्हें कोई सरोकार नहीं होता। केवल घनत्व का थोड़ा प्रभाव उन की गति पर पड़ता है। जिन वस्तुओं पर उन का धक्का लगता है वह अँधेरे में चमकने लगती हैं। वह फोटो के काचखंड पर प्रभाव डालते हैं और वायु को बिजली का चालक बना देते हैं। नम हवा में वह बादल पैदा कर देते हैं। उन के कारण रासायनिक क्रिया होती है। अभी तक खोज का काम जारी है और यह नहीं कहा जा सकता कि विद्युत्कणों के ज्ञान से मानव जाति को कहाँ तक लाभ पहुँच सकता है।

२—विद्युत्कण-वाद

विद्युत्कणों के सम्बन्ध में अबतक जो बातें हम कह आये हैं वह विज्ञान-संसार में आज एक मत से मानी जाती हैं। हमें यह मालूम हो चुका है कि चाहे अपने-

चित्र ११८—लार्ड अर्नेस्ट रदरफ़ोर्ड, जन्म सं० १९२८
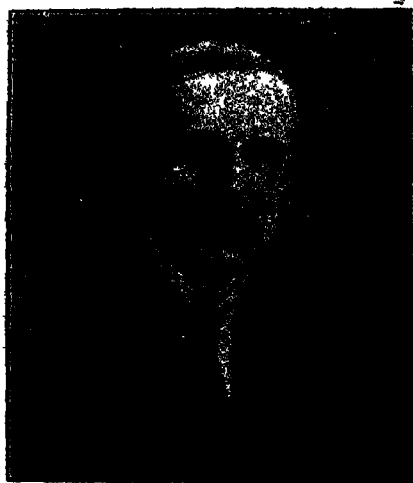
आप और चाहे कोई उत्तेजना पाकर निरंतर पदार्थों के परमाणु टूट-टूटकर विद्युत्कण फेंकते जाते हैं। इस से मालूम होता है कि उन में विद्युत्कण हैं और साथ ही यह भी पूरे तौर पर सिद्ध हो गया कि परमाणु और विद्युत्कण दोनों स्वतंत्र रूप से अवश्य अपनी-अपनी सत्ता रखते हैं। परंतु जब वैज्ञानिक यह बताने की कोशिश करता है कि किस प्रकार विद्युत्कण परमाणुओं का संगठन करते हैं तो वह कल्पना से ही काम ले सकता है। अभी तक उसे प्रयोग द्वारा अपनी कल्पनाओं को पुष्ट करने का आधार नहीं मिला है। ऐसे सूक्ष्म पदार्थों के सम्बन्ध में जो किसी यंत्र द्वारा देखे नहीं जा सकते आकार का ठीक-ठीक जानना सम्भव नहीं है। यह जानने के लिये कि किसी एक परमाणु में विद्युत्कण किस तरह मौजूद हैं कल्पना से ही काम लिया जा सकता है।

जो कल्पना जाने हुए तथ्यों के अनुकूल पड़ती है वही ठीक समझी जाती है। जो प्रतिकूल पड़ती है उसे त्याग देते हैं। इस तरह की कई कल्पनाएं परमाणु-रचना के सम्बन्ध में की गयी हैं। जो कल्पनाएं सब से अधिक मान्य हुई हैं वह इस प्रकार हैं। जैसे सूर्य के चारों ओर अनेक ग्रह चक्कर लगाया करते हैं और सब को लिये-दिये सूर्य का एक ब्रह्माण्ड समझा जाता है उसी तरह एक घनाणु या प्रकण के चारों ओर विद्युत्कण या ऋणाणु चक्कर लगाया करते हैं। इसी को एक परमाणु कहते हैं। प्रकण या घनाणु विद्युत्कण से कुछ बड़ा धन-बिजली का एक कण या बीज है जिस के चारों ओर ऋण बिजली के कण परिक्रमा करते हैं।

चित्र १३४—एक परमाणु का काल्पनिक रूप
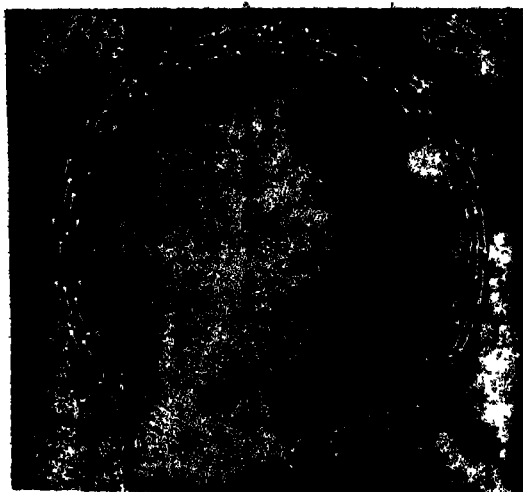
अन्धकार की कृपा] [सौर-परिवार से

बड़े से बड़ा परमाणु पराणुवीक्षण यंत्र से देखा नहीं जा सकता। परन्तु वह स्वयं अनेक विद्युत् कणों की अतीव चक्र-गति से बनी हुई एक सामूहिक सत्ता है। वैज्ञानिकों ने उसके रूप की अनेक कल्पनाएं की हैं। इन में से एक का रूप ऊपर दिखाया गया है।

डाक्टर लांगम्योर की यह धारणा है कि विद्युत्कण चक्कर नहीं लगा रहे हैं बल्कि प्रकण से निश्चित दूरियों पर बड़े भयानक वेग से हलचल की अवस्था में हैं। जो हो, चाहे चक्कर हो चाहे हलचल हो, बड़े वेग से किसी तरह की गति अवश्य है, इसलिये एक-एक परमाणु में शक्ति बहुत भारी परिमाण में भरी हुई है।

मोज़ले नामके के एक वैज्ञानिक ने जो पीछे युरोपीय महासमर में मारा गया कुछ

ही बरस पहले यह प्रमाणित कर के प्रकाशित किया कि विविध मौलिकों को यदि पारमाणविक भार के क्रम से लगावें, तो उन की रचना का क्रम भी लग जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि जितना ही भारी परमाणु होता है उतने ही अधिक उस में विद्युत्कण होते हैं। वस्तुतः हल्के-से-हल्के परमाणु से लेकर भारी-से भारी परमाणु तक विद्युत्कणों की संख्या के बढ़ते-बढ़ते बन जाते हैं। मोज़ले के अनुसार यदि उज्जन में एक अखंड परमाणु या विद्युत्कण माना जाय तो हिमजन में दो, लिथियम में तीन, बेरीलम में चार, टकम् में पाँच, कर्बन में छः, नोषजन में सात, ओषजन में आठ, प्लविन में नौ, नूतनम में दस, स्फटिकम में बीस, दस्ताम में तीस, पारद में अस्सी, थोरम में नब्बे, इत्यादि अंकों से लेकर युरेनियम् में जो सब से भारी अणु है बानबे तक अंक आता है। इस से यह बड़ी सम्भावना मालूम होती है कि प्रकृति में शायद बानबे मूल पदार्थ हैं। सत्तासी का पता रासायनिकों ने पहले लगा पाया था। और जो अंक श्री मोज़ले ने रखे हैं वह प्रत्येक संबंध परमाणु में अखंड परमाणुओं की या विद्युत्कणों की संख्या है। [अब इस वर्ष तक में तो समस्थानीयों को मिलाकर लगभग २५० तक संख्या पहुँच चुकी है !]
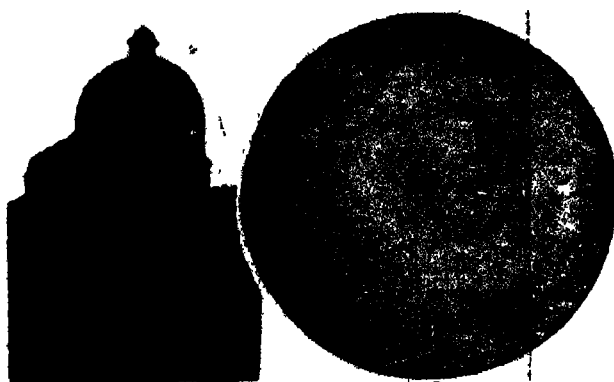
चित्र १४०—यदि एक परमाणु को हम प्रयाग-विश्वविद्यालय के विजयनगरम हाल के बराबर कल्पना करें तो उस में के अणु केवल छोटे कुरें की तरह लगेंगे। [सौर-परिवार से ग्रंथकार की कृपा]

अब हम संसार के मूल तत्वों के विषय में एक नया विचार रखते हैं। जितना कुछ कि इस विश्व में हम देखते हैं सभी पदार्थ बड़े-से बड़े पिंड से लेकर छोटे-से-छोटे पिंड तक और प्राणियों में भी अनुवीक्षण यंत्र से भी कठिनाई से देखे जानेवाले चराचर प्राणी तक अणुओं से बने हुए हैं। यह अणु परमाणुओं से बने हुए हैं। परमाणु प्रकण और विद्युत्कण से बने हुए हैं। प्रकण, विद्युत का धनाणु है, और विद्युत्कण ऋणाणु है। यह दोनों अणु बिजली के धन और ऋण या पुरुष और प्रकृति के रूप हैं। प्रकण के चारों ओर विद्युत्कण वेग से गति करते रहते हैं। पता नहीं कि प्रकण भी गति करता

रहता है या नहीं। सम्भवतः वह भी सूर्य की तरह अपने चारों ओर अपनी धुरी पर घूमता होगा। यह तो निश्चय ही है कि जब पूरा परमाणु बराबर वेग से गति करता रहता है तो अवश्य ही प्रकण भी यह गति करता ही है। बल्कि यों समझना चाहिये कि विद्युत्कण उसी से खिचकर परमाणु-ब्रह्मांड के साथ-साथ उसी के कारण गतिशील है। इस तरह यह भी स्पष्ट हो गया कि सारा विश्व एक ही सत्ता का बना हुआ है जिसे हम बिजली कहते हैं। इसी बिजली के धन और ऋण
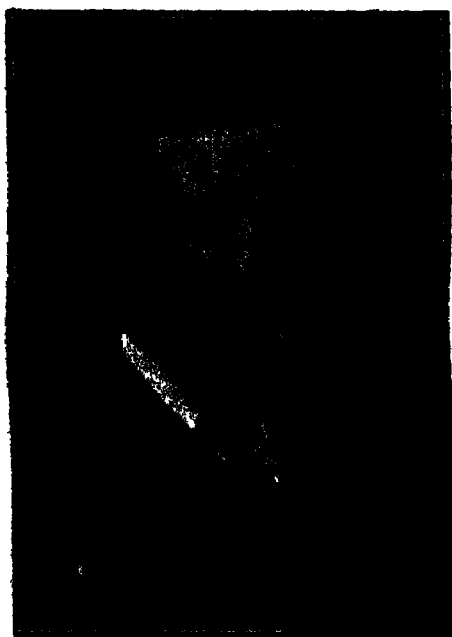
चित्र १४१—सर विलियम रामजे [सं० १६०९-१९७३ वि०]

रूपो के अनंत और असंख्य विधियो से मेल के कारण बड़े-बड़े विश्वो में अनत और असख्य प्रकार की चराचर सृष्टि बनती रहती है और बिगड़ती रहती है। समस्त सृष्टि की मूलसत्ता और समस्त जड़ पदार्थ का मूल रूप यही विद्युत है।

फिर भी यह पता नहीं कि विद्युत क्या है और उस के ऋण और धन रूप क्या हैं, इन की सत्ता और उत्पत्ति किस प्रकार है। क्या इन से भी सूक्ष्म कोई सत्ता है जिस से इन का विकास होता है ? इन प्रश्नों का उत्तर शायद भविष्य में कभी मिल सके।

३—सृष्टि-काल और विकास-क्रम

लार्ड केलविन ने यह अनुमान किया था कि पृथ्वी जब से अलग पिंडरूप में बनी

तब से अब तक बराबर ठंडी होती जा रही है। जो वस्तुएँ ठंडी होती जाती हैं वह सुकड़ती भी जाती हैं और सुकड़ने से आंच भी देती जाती हैं। इस सुकड़ने और आंच देने का हिसाब लगाकर उन्होंने पृथ्वी की अवस्था लगभग दो करोड़ वर्षों की आँकी थी। केल्विन को तब यूरेनियम आदि विकीरक धातुओं का और विकिरण का पता न था। इस विद्युत्कणवाद ने उन के हिसाब को भी बदल दिया। अब तो यह अनुमान किया जाता है कि पृथ्वी का पिंड दिन-पर-दिन ठंडा होने के बदले गरम होता जाता हो तो कोई अचंभे की बात नहीं है। बहुत संभव है कि सुकड़ने से ताप में जो कमी आती रहती है वह पृथ्वी के पदार्थों की विकिरण-क्रिया से पूरी होती जाती है। इस तरह का अंदाजा लगाने से इस पिंड की अवस्था बहुत बढ जाती है। वैज्ञानिकों ने कई मौलिक पदार्थों की जो निरतर टूटते रहते हैं अवस्था निकाली तो पिनाकम् की अवस्था सात-आठ अरब वर्षों की ठहरी। परतु टूटते रहनेवाले मौलिक पदार्थ तो अल्पायु समझे जाते हैं। जिन का टूटता रहना अव्यक्त सा लगता है वह तो और भी दीर्घायु होंगे। इस से तो यह स्पष्ट है कि जिस मसाले का यह पृथ्वी-पिंड बना है वह अनत काल से विश्व में मौजूद है। उसी से अदल बदलकर विश्वों का सर्ग और प्रतिसर्ग, जन्म और विनाश होता रहता है। अब तो यह अनुमान किया जाता है कि पृथ्वीपिंड पर चराचर प्राणियों की आदिम सृष्टि हुए कम-से-कम एक-अरब बरस अवश्य हो गया होगा। यह जड़ पिंड इससे कई अरब बरस पहले बन चुका होगा। और यह भी अनुमान किया जा सकता है कि आगे कई अरब बरसों तक इस का जीवन रहेगा।

विकास संबंधी विचार में भी परिवर्तन हो गया है। अब ऐसा समझा जाता है कि भारी-से-भारी मौलिक पदार्थ धीरे-धीरे हलके मौलिक पदार्थों से बने होंगे। उज्जन से हिमजन बना होगा, हिमजन से श्रोणम्, श्रोणम् से बेरीलम्, उस से टकम और टकम से कर्बन, और कर्बन से नोषजन और नोषजन से ओषजन बना होगा। इसी तरह उत्तरोत्तर बढते-बढते भारी-से भारी मौलिक पदार्थ पिनाकम् तक बना। यह विकास-क्रम आज विज्ञान-संसार में निश्चित है।* इसी तरह ह्रास भी समझा जाता है। जो मौलिक पदार्थ बहुत भारी हैं वह टूटते रहते हैं और अपने से हल्के मौलिकों में परिणत होते रहते हैं शायद मौलिक परमाणु की अपनी घनता भारी मौलिकों में अपनी हद को पहुँच चुकी होगी। इसी से यूरेनियम से भारी कोई धातु पायी नहीं जाती।

इसी तरह की एक बात का और भी निश्चय है। हम देख चुके हैं कि इस सृष्टि में अनंत विश्व हैं जिन में से प्रत्येक में अनत ब्रह्मांड हैं। कोई ब्रह्माण्ड स्थिर नहीं है। प्रत्येक ब्रह्मांड में असंख्य पिंड हैं। कोई पिंड स्थिर नहीं है। प्रत्येक पिंड में चराचर प्राणी हैं और जड़ पदार्थ हैं, सब के सब अणुओं से बने हुए हैं, परंतु एक भी अणु स्थिर नहीं है। प्रत्येक

---

* सूक्ष्म से ही स्थूल का उत्तरोत्तर विकास “आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथ्वी” यह श्रुति भी स्थापित करती है। परस्पर-सम्भूतिवाद भारतीय सृष्टिक्रम की विशेषता है जिस को विज्ञान आज पुष्ट कर रहा है। इसका उलटा महाप्रलय का क्रम है।

परमाणु विद्युत्कणों और एक प्रकण का बना हुआ है परंतु विद्युत्कण और प्रकण स्थिर नहीं हैं। निदान विश्वभर में कहीं स्थिरता नहीं है। सब कुछ निरंतर चलता रहता है। जो पिंड जितना ही सूक्ष्म है उतना ही अधिक वेग से चलता रहता है। जो पिंड जितना ही स्थूल है वह उतना ही कम वेग से चलता है। परंतु चलते सभी हैं। सृष्टि में स्थिर कुछ भी नहीं है। इसीलिए हमारे ऋषियों ने दुनिया को "जगत्" या "संसार" कहा है जिस का अर्थ है निरंतर चलनेवाला। वेदांतवादियों ने जीवन-मात्र को अत्यन्त चंचल बताया है। बौद्धों ने संसार को क्षणिक कहा है और सतत परिवर्तनशील बताया है। सौ सयाने एक मत, विज्ञान आज इसी तरह के निष्कर्ष पर पहुँचा हुआ है।

४—पारमाणविक शक्ति

इस विश्व की रचना में केवल विद्युत्कण ही हो ऐसी बात तो नहीं है। विद्युत्कण के सिवाय शक्ति भी है। वह आत्यन्तिक गति जिस से कि विद्युत्कण, परमाणु, अणु और इस विश्व के सभी बड़े-बड़े पिंड बड़े वेग से चल रहे हैं, अपार है और विश्व में भरी हुई है। अब तक हम जिन शक्तियों से काम लेते रहे हैं उन की तो इस अगाध भंडार के सामने कोई गिनती ही नहीं है। यदि हम बंदूक की एक गोली को एक विद्युत्कण की तेजी तक पहुँचाना चाहें तो एक करोड़ चौंतीस लाख बंदूक की नालियों भर बारूद की जरूरत पड़ेगी। एक तांबे की एक पाई में आठ करोड़ घोड़े की ताकत कसी पड़ी हुई है। सेर भर कोयले के परमाणुओं में जितनी शक्ति भितरायी हुई है उतनी शक्ति करोड़ों मन कोयला जलाकर हम पा नहीं सकते। क्या यह अपार शक्ति कभी मनुष्य के हाथ में आ सकती है? अब तो मनुष्य ने एक मौलिक पदार्थ से दूसरा मौलिक पदार्थ और एक धातु से दूसरी धातु बनाने की कीमियागरी सीख ली है। फिर भी परमाणु की असीम अन्तःशक्ति का लेशमात्र उसके हाथ नहीं लगा है। प्रो० साडी की नीचे लिखी आशा अभी पूरी होती नहीं दीखती। उन्होंने कभी* लिखा था—

"प्रायः नित्य इस बात की आशा बँधती जाती है कि कृत्रिम रीति से एक धातु से दूसरी धातु के बनाये जाने की क्रिया सफलता से पूरी हो जायगी। प्राचीनों को साधारण इशारा ही नहीं मिला था बल्कि उन्हें कुछ इस बात का अधिक ज्ञान था कि जो शक्तियां अभी तक देवताओं के ही हाथ में हैं वह धातु परिवर्तन की क्रिया के पूर्ण हो जाने से मनुष्यों के हाथ आ जायेंगी। परन्तु अब हम निश्चय रीति से यह जानते हैं कि धातु-परिवर्तन की क्रिया के सफलतापूर्वक पूर्ण होने से भीतरी पारमाणविक शक्ति के अक्षय भंडारों पर जो हमारा अधिकार अनिवार्य रीति से हो जायगा उन के मुकाबिले तो धातुपरिवर्तन से पाये हुए पार्थिव लाभ की कोई गिनती ही नहीं है। अब जो समस्या हमारे सामने है वह कीमियागरों के निकृष्ट युगवाली नहीं है बल्कि वह ऐसी भारी समस्या है जिस के सुलझाने से यह आशा की जाती है कि सारे संसार का एक प्रकार का पूर्ण भौतिक कायाकल्प हो जायगा।"

---

* नेचर के ६ नवम्बर, सन् १९१४ के साडी के एक लेख से।

यदि उनकी आशा अब भी पूरी हुई तो निःसन्देह सारे संसार का आर्थिक रूप ही बदल जायगा।

५—बिजली का रूप

कोई तीस बरस हुए विज्ञान को यह बिल्कुल पता न था कि बिजली क्या है। तार और बेतार चल रहे थे। घंटियां बज रही थीं। दूर-दूर से लोग बातें कर रहे थे। समाचार
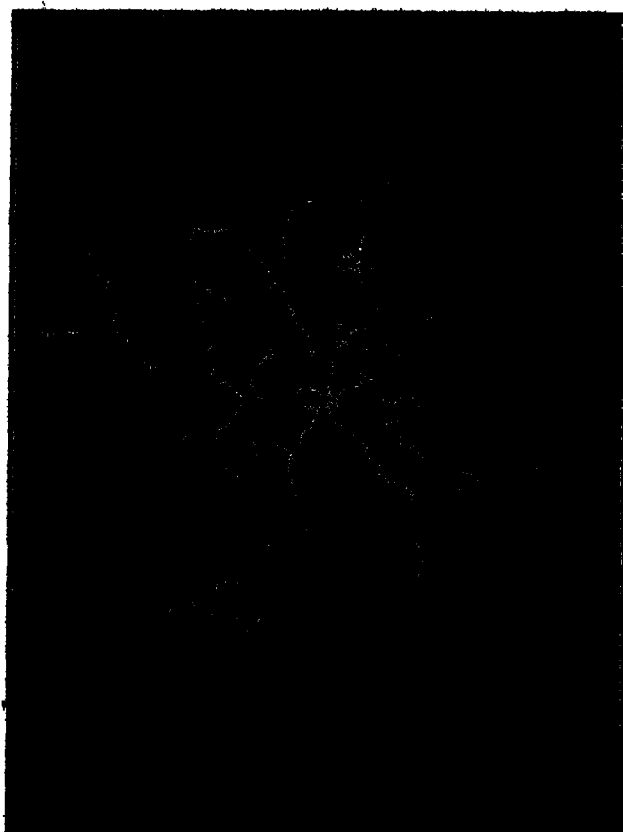
चित्र १७२—बिजली कौंधने का एक दृश्य

का विनिमय हो रहा था। रोशनी से काम लिया जाता था। बिजली के पंखों से हवा खा रहे थे। बिजली की गाड़ियों पर सवारी कर रहे थे। सब तरह के यंत्र बिजली के बल से हम चला

रहे थे। परंतु हमें यह मालूम न था कि बिजली क्या है। हम समझते थे कि एक तरह की कोई बहनेवाली ताकत की धारा है जो तारों की राह बहती है। परंतु आज हम यह जानते हैं कि तार में या और जहाँ कहीं बिजली की धारा है वहां बड़े वेग से एक परमाणु से दूसरे परमाणु को विद्युत्कणों की गति हो रही है। इसी बात को हम यहाँ कुछ समझने की कोशिश करेंगे।
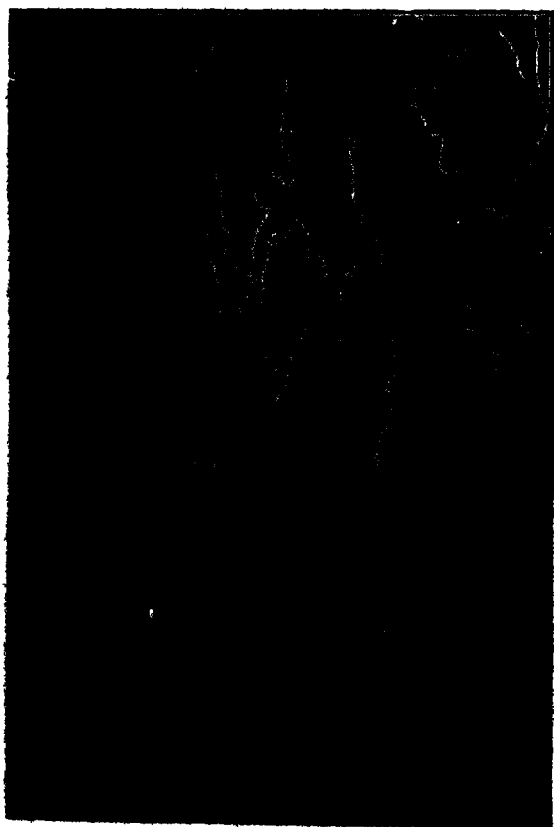
चित्र १७३—बिजली कौंधने का दूसरा दृश्य

हम देख चुके हैं कि प्रत्येक परमाणु के मध्य भाग में एक बिजली का धनाणु है जो ऋणाणुओं या विद्युत्कणों से घिरा हुआ है। यह बिजली के ऋण-कण हैं। अब हमें यह बात मालूम है कि बिजली भी कणों की बनी हुई है, जिसकी इकाई यही धन या ऋणकण है। बिजली की प्रत्येक मात्रा इन्हीं इकाइयों की बनी हुई है। एक नयी

हुई मात्रा में इन कणों की विशेष संख्या रहा करती है। पहले हम यह समझा करते थे कि जिस में अधिक बिजली का संचार है वह धन है, और जिस में कम है वह ऋण है। परन्तु अब आजकल कोई पदार्थ धन इसलिये कहा जाता है कि उस के परमाणुओं से कुछ विद्युत्कण निकल गये हैं, और ऋण उसे कहा जाता है जिस के परमाणुओं में प्रमित सख्या से अधिक विद्युत्कण मिल गये हैं।

यह क्रिया केवल बाहर की ओर रहनेवाले विद्युत्कणों में ही होती है। इस तरह विद्युत्कण एक परमाणु से दूसरे में और दूसरे से तीसरे में जा सकते हैं। यदि यही क्रिया बहुत बड़े पैमाने पर हो तो एक धारा सी चलने लगे। इस तरह बिजली की धारा असल में विद्युत्कणों की धारा है जो एक परमाणु से दूसरे परमाणु पर बराबर चलते हुए अटूट धारा बना लेती है। किसी एक रासायनिक पदार्थ में एक ओर जस्ते का टुकड़ा और दूसरी ओर तांबे का टुकड़ा एक बर्त्तन में डुबो रखने से बिजली का एक घट बन जाता है। और बिजली की एक पतली धारा चलने लगती है। इसका मतलब यह हुआ कि जस्ता एक धातु है जिस के परमाणु अपने बाहरी कुछ विद्युत्कणों को छोड़ने के लिये तैयार हैं। क्यों तैयार हैं यह हम नहीं जानते। परन्तु तथ्य यह है कि जस्ते के परमाणुओं से निकलकर तांबे के परमाणुओं तक विद्युत्कण जाया करते हैं, यही धारा है। प्रत्येक परमाणु अपने पासवाले को अपने विद्युत्कण दे देता है। इस तरह से सिलसिला चलते रहने का ही नाम "धारा" है। अगर इन दोनों धातुओं के टुकड़ों को तांबे के तार से जोड़ दें तो धारा तेज होने लगती है। अर्थात् अधिक तेजी के साथ विद्युत्कण निकलने लगते हैं। बात यह है कि जिस रासायनिक पदार्थ के भीतर जस्ता प्रवेश किये हुए है वह जस्ते के परमाणुओं को ले रहा है। यह परमाणु जस्ते में उन विद्युत्कणों को छोड़ते जाते हैं। वह जस्ते में विद्युत्कणों की संख्या बढ़ा देते हैं। इस तरह जस्ते के पास तांबे को भेजने के लिये अधिक विद्युत्कण हो जाते हैं। जस्ता इसीलिए तांबे को विद्युत्कण भेजता रहता है।

यह तो एक घट की बात हुई। इस तरह के कई घटों को तार से जोड़कर घटमाला या बाटरी बना लेते हैं। आजकल एक घट को भी बाटरी कहते हैं। इसी सिद्धान्त के ऊपर भिन्न-भिन्न रासायनिक पदार्थों के साथ कोयला, जस्ता, तांबा आदि अनेक वस्तुओं के चुने हुए प्लेट लगाकर विविध प्रकार की बाटरियां तैयार की जाती हैं। सिद्धान्त एक ही है। प्रयोग विविध हैं। बिजली का प्रवाह विद्युत्कणों का ही प्रवाह है। परन्तु ऐसा कोई न समझे कि जल की धारा की तरह उस के अणु मिले-जुले बहते हैं। विद्युत्कण अत्यन्त वेग से टूट कर उड़ते हैं, और एक परमाणु से दूसरे परमाणु में जाते हैं। जैसे बच्चे एक पंक्ति में जरा-जरा सी दूरी पर ईंटें खड़ी कर देते हैं और पहली ईंट को दूसरी पर गिरा देते हैं तो दूसरी तीसरी पर और तीसरी चौथी पर गिरकर गिरनेवाले धक्के को अन्तवाली ईंट तक पहुँचा देती है। इस तरह धक्के की या गति की एक धारा बन जाती है जो अन्तिम ईंट तक पहुँचती है। इसी तरह गति की धारा ही इन परमाणुओं के टूट-टूटकर एक अणु से दूसरे अणु पर जाने में बन जाती है। हां, इतनी बात जरूर है कि परमाणु से

परमाणु तक इतने वेग से गति चलती है कि गति की धारा बेटूटे हुए जाती सी लगती है और वेग भी अप्रतिम होता है।

जैसे जस्ता अपने विद्युत्कणो को देने के लिए तैयार बैठा रहता है वैसे ही, ताबा भी उन्हें आगे बढ़ाने के लिये उत्सुक रहता है। ताबा सब से उत्तम चालकों में है अर्थात्
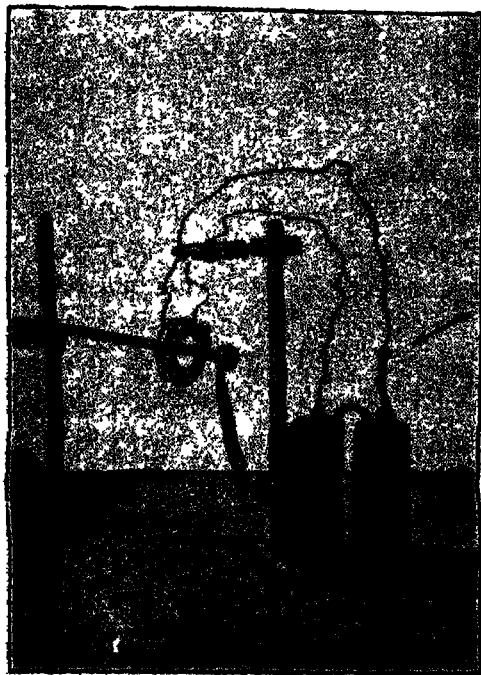
चित्र १२५—धारा बँधी रहने से लोहे का कुण्ड चुंबक बन जाता है और चाकू को खींच लेता है।

[साइंटिफिक ऐप्लिकेशन्स आफ़ कुकेस अनुमति से]

इस के भीतर विद्युत्कणो की गति मे अत्यन्त कम रुकावटे पड़ती हैं, यद्यपि इसी तरह प्रायः हर एक धातु में विद्युत्कणों की गति बह सकती है। इस तरह की बाटरी से प्रत्येक प्लेट से तांबे के तार लगे होते हैं। जिन दो तारो के मिलने से चक्कर पूरा हो जाता है उन के सिरों पर बराबर विद्युत्कण मानों आगे बढ़ने के लिये और गति पहुँचाने के लिए तैयार बैठे रहते हैं। जब और जहा यह दोनो सिरे जुट जाते हैं गति की धारा बंध जाती है। इस धारा को, गति को या शक्ति को प्रकट करने के लिए इन दोनों सिरों का छू जाना या अगर धारा बहुत तेज हुई तो पास आ जाना भी काफी होता है। इसी तरह के दो सिरों के मिला

देने से वह गति या शक्ति प्रकट होती है जिससे कि घंटी बजती है, पंखा चलता है, प्रकाश होता है, ट्राम गाड़ी चलती है और मशीनें साधारणतया चलने लगती हैं।

जैसे तांबा बड़ा अच्छा चालक है वैसे ही कई चीज़ें बड़ी रुकावट डालने वाली हैं। यह विद्युत्कणों का मार्ग एक दम रोक देती है। इनका नाम रोधक है। काच, चीनी, मिट्टी गन्धकित रबर, रेशम आदि अच्छे-अच्छे रोधक हैं। इसलिए हम चाहें तो इस गति के चलने के लिए ऐसा बन्द रास्ता बना दें कि भटक कर इधर-उधर न जाने पावे। बाटरी इन्हीं वस्तुओं की बनती है और तांबे के तार पर रेशम आदि पदार्थ लपेट दिये जाते हैं कि इस गति का मार्ग निश्चित रहे।
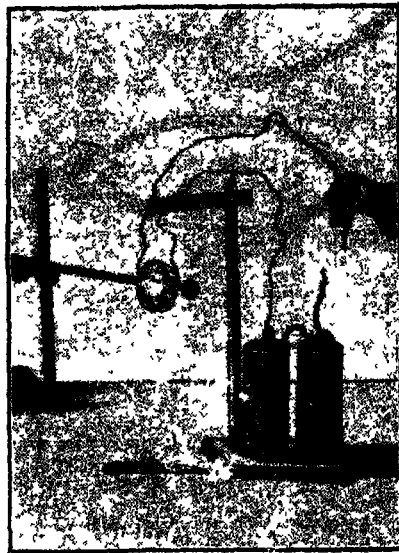
चित्र १४६—धारा तोड़ देने से छड़ का चुम्बकत्व नष्ट हो जाता है और चाकू छूट कर गिर जाता है।

प्रकाशक की अनुमति से] [सायंटिफिक ऐक्वियाज़ आफ़ टुडे से अनुवर्तन

आजकल के शिल्प के बड़े-बड़े कारखानों में इन मामूली बाटरियों से काम नहीं चलता और यह शक्ति की धारा दूसरी तरह पर पैदा की जाती है। अदृश्य विद्युत्कण जब तार में से गुज़रते रहते हैं तो उस के चारों ओर एक तरह का चुम्बकीय क्षेत्र बना देते हैं। इस का अर्थ यह है कि किसी बेजानी हुई विधि से विद्युत्कणों की इस वेगवती गति की धारा से एक अद्भुत प्रकार का खिंचाव चारों ओर फैल जाता है। इस खिंचाव की तेज़ी ज्यों-ज्यों धारा के पास आया जाय त्यों-त्यों बढ़ती जाती है। यह खिंचाव चुम्बकीय हुआ करता है

अर्थात् यह वही खिंचाव होता है जो किसी बलिष्ठ चुम्बक के चारों ओर लोहे के कणों के लिए साधारणतया देखा जाता है। चुम्बक के क्षेत्र में यदि कोई तांबे का तार लाया जाय तो उस के भीतर विद्युत्कणों की धारा चलने लगेगी। इसी का उलटा किया जाय अर्थात् जिन तारों में से विद्युत्कणों की धारा बह रही हो उन की कुंडली के भीतर से यदि कोई लोहे का छड़ निकला हुआ स्थिर रखा जाय तो वह चुम्बक बन जाता है और एक चाकू को भी पकड़ सकता है। परन्तु ज्यों ही धारा तोड़ दी जायगी त्यों ही चाकू छूट कर गिर जायगा।
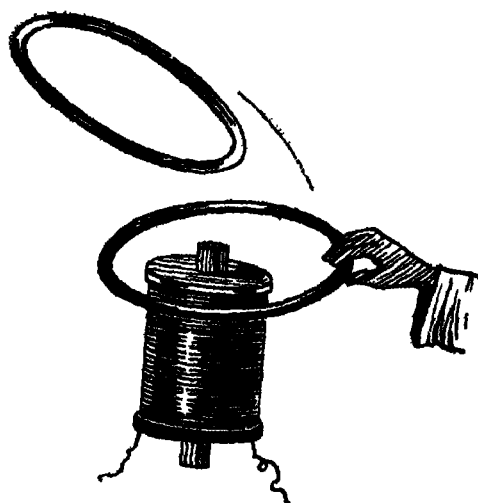
चित्र १४६—उलटी-सीधी धारा बहानेवाले विद्युच्चुम्बकीय यंत्र के ध्रुव पर जब एक तांबे का छल्ला ले जाते हैं तो वह ज़ोर से फेंका जाता है और छूटते ही उछलकर ऊपर को चला आता है।

यदि ऐसा प्रबन्ध किया जाय कि किसी बड़े चुम्बक के चारों ओर बिजली के तारों की कुंडली बड़े वेग से घुमायी जाय तो विद्युत्कणों के भारी समूह उन में से चमक-चमक कर निकलने लगेंगे। यही कुंडली चुम्बकीय क्षेत्र को छोड़ने लगती है तो फिर उसी तरह चमक के साथ विद्युत्कणों का समूह निकलने लगता है। परंतु धारा की दिशा बदल जाती है। यह कुंडली जब इसी प्रकार बहुत तेज घूमती रहती है तो दोनों दिशाओं में बिजली की बड़ी मजबूत धारा बहने लगती है। इसी को हम उलटी-सीधी धारा कहते हैं। ऐसे भी यंत्र हैं कि जहाँ जरूरत पड़े वहाँ इन उलटी-सीधी धाराओं को बदलकर एक ही दिशा में बहा सकते हैं। इन यंत्रों को "परिवर्त्तक" कहते हैं। डाइनमो यंत्र ऐसी ही उलटी-सीधी धारा उत्पन्न करने के लिए यन्त्र है जिस में हम बहुत बड़े पैमाने पर काम कर सकते हैं। इस में यान्त्रिक शक्ति बिजली की शक्ति में परिणत हो जाती है। प्रो० साडी का कहना है

कि डाइनमो को एक तरह का विद्युत्कण निकालने का पंप समझना चाहिए। इस में एक बहुत बड़े चुम्बक के दोनो ध्रुवों के बीच में उस के चारों ओर तांबे के तारों की एक बड़ी घनी कुंडली बड़े ज़ोरों से चक्कर लगाती रहती है। डाइनमो के निर्माण का यही तत्व है। बहुत भारी धाराओं के लिये डाइनमो काम मे आता है। इन्हीं धाराओं के बल से कारखानों मे दानवाकार यंत्र चलते हैं।

कभी-कभी बहुत से विद्युत्कण एक पिंड से फूटकर या टूटकर बड़े वेग से दूसरे पिंड को जाते दिखाई देते हैं। यही बिजली की चिनगारियां हैं जो यंत्रो में या कभी-कभी ट्राम-गाड़ियो मे देख पड़ती हैं। इसी प्रकार का सब से उत्तम दृश्य आकाश में बिजली की चमक है और सूर्य की दुर्दम्य ज्योति से और ताप के भट्ठे से तो विद्युत्कणो की बाढ़ सारे आकाश मंडल में फैलती रहती है। वायु-मंडल के बीच मे कुछ रुकावट पड़ जाती है। ऊपरी भाग में सौर विद्युत्कणो की धारा से धनीकृत और ऋणीकृत परमाणु अलग-अलग हो जाते हैं। समुद्र के ऊपरी तल से निरंतर उठती हुई भाफ अधिकांश धनीकृत परमाणुओं के चारों ओर घिर आती है और वर्षा के रूप मे उन्हें धरती पर ले आती है। इस तरह वायु की ऊपरी तह धन विद्युत् से कुछ हीन हो जाती है अथवा उसका ऋणीकरण हो जाता है। जब बादल घिरे होते हैं तो दोनों तरह के बादलों मे खिंचाव सा रहता है। कुछ ऋणीकृत होते हैं और कुछ धनीकृत। खिंचाव बढ़ते-बढ़ते विद्युत्कण बड़े वेग से एक बादल से दूसरे की ओर अथवा धरती की ही ओर आते हैं। यह भी वही बिजली की चिनगारी है जो भयानक पैमाने पर प्रकट होती है।

६—चुम्बकत्व

चुंबक पत्थर का एक टुकड़ा लोहे कणो को अपनी ओर खींच लेता है। इसी गुण को हम चुम्बकत्व कहते हैं। परन्तु हम पिछले प्रकरण मे यह समझ चुके हैं कि जहां कहीं बिजली की धारा चलती है। अपने चारों ओर चुम्बक की शक्ति का क्षेत्र बना लेती है इसे विद्युत्-चुम्बकीय क्षेत्र कहते हैं। जिस शक्ति से यह प्रभाव उत्पन्न होता है उसे विद्युत्-चुम्बकीय शक्ति कहते हैं। यदि हम एक पुट्ठे के टुकड़े के भीतर से आरपार ऊपर नीचे एक बिजली के तार को प्रवेश करावें और उस गत्ते पर लोहे का चूर्ण बिखेर दे तो देखेंगे कि लोहचूर्ण गत्ते पर गोलाकार रूप में हो जाता है। जान पड़ता है कि बिजली की धारा से उत्तेजित चुम्बक शक्ति तार के चारों ओर गोलाकार रहती है। एक अकेला विद्युत्कण भी चलते हुए अपने मार्ग में इस तरह का चुम्बक-मंडल बनाता चलता है। जहां कहीं विद्युत्कणो की गति होगी वहीं यह चुम्बक-मंडल भी होगा। जब तक यह रहता है तब तक विद्युत्कण की गति भी रहती है। इस संबंध मे अब ऐसा समझा जाता है कि विद्युत्कणो की चक्करदार गतियो से ही चुम्बकत्व प्रकट होता है। इतनी बात तो प्रयोगों से मालूम है कि विद्युत्धारा जिस धरातल पर चलती रहती है उस पर के लम्ब की दिशा में ही चुम्बकत्व का धरातल होता है।

यहाँ इस बात पर विचार करना कठिन है कि चुम्बकत्व किस तरह से प्रकट होता है या यह कि लोहे पर ही क्यों उस का ऐसा प्रभाव पड़ता है। परंतु इतनी बात विज्ञान से अवश्य ही स्थापित है कि धरती का यह पिंड एक बहुत भारी चुंबक है जिस के कारण दिशा-सूचक यंत्र काम करता है। हम यह अन्यत्र दिखा चुके हैं कि पृथ्वी का अन्तरतम भाग अनेक
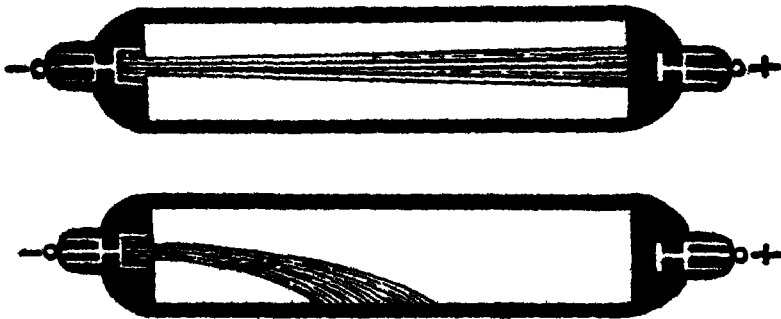
चित्र १४७—शून्य नलिका में विद्युत् का विसर्जन

एक नलिका हवा से प्राय: शून्य करके बन्द कर दी जाती है। उस के दोनों सिरों पर से धन और ऋण तार निकले हुए हैं। धारा में जोड़ देने पर नली से शून्य देश में बिजली का विसर्जन होता है। अँधेरे में एक सिरे से दूसरे सिरे तक सीधी प्रकाश की दौड़ती स्फुलिंगमाला दिखाई देती है, जैसा कि ऊपरवाली नलिका में चित्रित है। परन्तु ज्यों ही नलिका को चुम्बकीय क्षेत्र के अन्तर्गत कर दिया जाता है, स्फुलिंग माला, नीचेवाली नली में जैसा दिखाया गया है, झुक जाती है। रेडियम की किरणें भी इसी तरह झुक जाती हैं। अत: दोनों में एक ही तरह के विद्युत्कणों की धारा निकलती है।

वैज्ञानिकों के मत से लोहा है। और यह बात भी अच्छी तरह मालूम है कि जब सूर्य में काले धब्बे दीखते हैं तब पृथ्वी के चुंबकत्व पर बड़ा उग्र प्रभाव पड़ता है और यह बात अभी हाल में मालूम की गयी है कि यह धब्बे विद्युत्कणों के विशालभ्रमरावर्त्त हैं और इन का चुंबकत्व पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। इन सब बातों में परस्पर क्या और कितना संबंध है और यह क्रियाएं किस प्रकार होती हैं इस पर अभी खोज बराबर जारी है।

७—आकाश-तत्व और लहरें

प्रकाश के संबंध में एक विचार यह है कि आकाशतत्व के भीतर लहरों के रूप में प्रकाश आता है अथवा यह कि आकाशतत्त्व की लहरें जो विविध बड़ाई-छोटाई की

होती हैं जब आँख के परदे पर लगती हैं तब हम प्रकाश का अनुभव करते हैं। वैज्ञानिक आकाश-तत्त्व की कल्पना मात्र करता है और वह इसलिये करता है कि प्रकाश के संबंध के नियमों की उस से व्याख्या हो जाती है। वह आकाश तत्त्व को अखंड मानता है। उस के परमाणु नहीं होते और वह ओतप्रोत भाव से सर्वत्र व्यापक है। इसी तरह की कल्पना आकाश के संबंध में वैशेषिक शास्त्र की भी है। हम इस बात को जानते हैं कि अनन्त दूरी से भी प्रकाश हमारे पास पहुँचता है और पहुँचने में समय सभी लेता है। वास्तविक सूर्योदय हो जाने के आठ मिनिट बाद हमें सूर्य का बिम्ब देख पड़ता है क्योंकि सूर्य की दूरी हम से सवा नौ करोड़ मील के लगभग है। उसे आठ
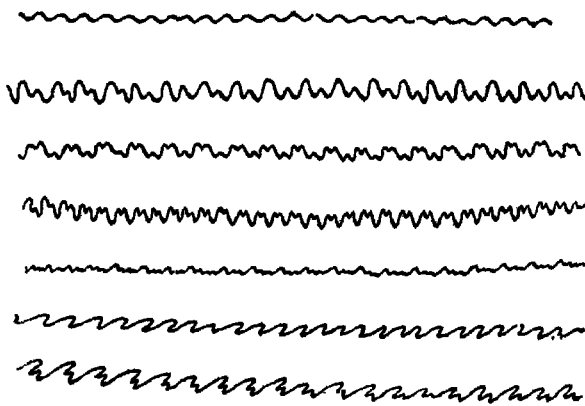
चित्र ११८—लहरों के विविध रूप

मिनिट में तय करके प्रकाश हमारे पास आता है। यदि हम व्योम-मंडल को शून्य कहें और आकाशतत्त्व से व्याप्त न मानें तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि तेजस की शक्ति शून्य में से होकर हमारे तक पहुँचती है। इस तरह हम को उस की निराधार गति माननी पड़ेगी। साथ ही हमें यह मालूम है कि प्रकाश लहरों के रूप में आता है। ध्वनि भी लहरों के रूप में आती है, परंतु हवा की लहरों के बिना वह हमारे कानों तक नहीं पहुँच सकती। शून्य काँच के पात्र में बिजली द्वारा घंटी बजायी जाय तो उस का सुनना असम्भव हो जाता है। परंतु घंटी को देखने में हमें कोई कठिनाई नहीं पड़ती। इस से यह स्पष्ट है कि शून्य में से आते हुए प्रकाश को हम अनुभव कर लेते हैं। ध्वनि को नहीं। वैज्ञानिक यह मानते हैं कि विश्व का सारा शून्य देश मात्र आकाशतत्त्व से भरा हुआ है जो केवल तेज ही नहीं बल्कि सब तरह की शक्ति का वाहक है। जिस चुम्बकत्व की शक्ति पर हम विचार कर आये हैं वह भी इसी आकाश तत्त्व के भीतर खिंचाव या उपद्रव रूप है। सूर्य से जितनी शक्तियाँ गरमी रोशनी विद्युत्कण आदि रूपों में हम पाते हैं उस का एक मात्र मध्यम यही आकाश

तत्त्व है, और शक्ति चाहे जिस रूप में हमें मिले इसी तत्व के भीतर लहरों के रूप में होकर प्रकट होती है। वैज्ञानिकों का एक दल सैकड़ों वर्षों से यह मानता आया है कि प्रकाश लहरों के रूप में आता है और भिन्न-भिन्न रंग की किरणों की लहरों की लम्बाई भी नापी गयी है। सब से लम्बी लहर गहरी लाल किरण की है जो इंच का २ लाख ५० हजारवां अंश लंबी रहती है। गहरी बैंगनी किरणों की लहरें प्रत्येक लम्बाई में एक इंच का ६७ हजारवाँ अंश होती हैं। परन्तु इस से कम और अधिक लम्बाई की लहरें होती हैं। जिन्हें हम देख नहीं सकते। कम लम्बाई की लहरों का पता फोटो से लगता है। सब से कम लम्बाई की लहरें जो अब तक मालूम हुई हैं एक्स किरणें हैं। ज्यादा लम्बाई की भी लहरों का पता लगाया गया है। लाल किरणों से ज्याद: लम्बाई की लहरें गरमी की होती हैं जो देख नहीं पड़तीं। आंच भी आकाश-तत्त्व की एक प्रकार की लहर है। प्रकाश से कुछ बड़ी लहरों को हम गरमी के रूप में अनुभव करते हैं। परन्तु गरमी की लहरों से भी बहुत बड़ी लहरे हैं जो हमारी इन्द्रियों के अनुभव में नहीं आ सकतीं। परन्तु यंत्रों के द्वारा हमें उन का पता लगता है। ऐसी लहरें बेतार के समाचार में और ध्वनि से काम में आती है। इन में से अनेक इतनी लम्बी होती हैं कि उनकी लम्बाई मीलों में बतायी जाती है। इन को विद्युत्-चुम्बकत्व लहरें कहते हैं। प्रकाश, ताप, आँच और विद्युत्-चुम्बक सभी एक ही प्रकार की वस्तुएं हैं, केवल लहरों की लम्बाई में अन्तर पड़ता है।

८—दृश्य और अदृश्य प्रकाश

यदि प्रकाश विद्युत्-चुम्बक ताप आदि सभी लहरें हैं, तो इन लहरों को उठानेवाला या आरम्भ करनेवाला कौन है? जिस किसी शक्ति से ऐसी अत्यन्त वेगवती और अद्भुत लहरें निरंतर उठती रहती हैं वह सचमुच बड़ी भयानक और बहुत भारी शक्ति होगी, जिस में बड़ा ही प्रचण्ड स्फुरण उठता रहता होगा। इस की व्याख्या करने के लिये फिर भी हम विद्युत्कणों पर ही आते हैं और उन्हीं में इन लहरों की व्याख्या पाते हैं।

ठंडे लोहे के एक टुकड़े के भी कण बराबर वेग से स्फुरण कर रहे हैं। इन के हिलने से जो लहरें उठती हैं हमारी इन्द्रियां उन का अनुभव नहीं कर सकतीं। परन्तु वास्तविक बात यह है कि ठंढा चीमटा भी चारों ओर लहरें फेंक रहा है। यह बात इसी से समझ में आ सकती है कि हम हर एक अणु और परमाणु को गतिशील समझा आये हैं। अब चीमटे को दहकते हुए कोयले में थोड़ी देर तक रखते हैं तो क्या होता है? दहकते कोयले के कणों में बड़े वेग की हलचल है। यही हलचल चीमटे के अणुओं में भी अपनी शक्ति पहुंचा देती है, उस में भी हलचल पड़ जाती है। उनसे जो लहरें उठती हैं उन का असर हमारे हाथ की नाड़ियों तक पहुँच जाता है और हम उन्हीं लहरों से चीमटे में गरमी का अनुभव करने लगते हैं। चीमटे को इतनी देरतक आँच में रखते हैं कि लाल हो जाय। अब वही हलचल चीमटे में इतनी बढ़ी और उस के कण ऐसे प्रचण्ड वेग से हिलने लगे कि उत्तरोत्तर छोटी-से-छोटी और तेज़-से-तेज़ लहरें उठाने लगे। लहरें इतनी छोटी और तेज

हो गयीं कि आँखें अब देख सकती हैं। यह दृश्य प्रकाश हो गया। परन्तु फिर भी इस का प्रभाव फोटो के पट पर नहीं पड़ता। अब आँच और तेज की गयी और चीमटे को उसी में रहने दिया। अब और भी छोटी और ज्यादा तेज़ लहरें उठने लगीं जिस से सफ़ेद रोशनी बन गयी। वास्तव में हो यह रहा है कि अब विद्युत्कणों में हलचल बढ़ गयी है और वह अपने घेरे में एक सेकंड में खरबों और नीलों चक्कर लगा रहे हैं। आँच और भी बढ़ाएं तो नीले रंग का प्रकाश निकलने लगता है। इस प्रकाश के साथ-साथ और भी छोटी लहरें उठने लगीं जो दिखाई नहीं पड़ती हैं। परन्तु फोटो के पट पर अपना प्रभाव डाल सकती हैं। इन के बाद और भी अधिक छोटी लहरें उठती हैं, जिन के अन्त में एक्स किरणें हैं जो पत्थर और मांस के परमाणुओं के अन्तराल से भी अपना मार्ग कर लेती हैं।

कोई ढाई सौ बरस पहले यह अन्दाजा किया गया था कि रोशनी ध्वनि की अपेक्षा छः लाख गुने अधिक वेग से चलती है। परन्तु अस्सी बरस हुए प्रकाश का वेग भी यन्त्र द्वारा नाप लिया गया। घुमानेवाले यन्त्र मे एक दांतेदार पहिया इस तरह पर लगाया गया कि प्रकाश की एक किरण दो दांतो के बीच में से पैठ कर एक दर्पण पर पड़े और दर्पण से प्रतिफलित होकर फिर उसी पहिये पर दांतों के पास पड़े। पहिये से दर्पण की दूरी सचमुच बहुत ही थोड़ी है और इतनी दूर चलने में प्रकाश को सचमुच एक सेकंड का अत्यन्त सूक्ष्म अंश लगेगा। तो भी यन्त्र द्वारा यह सम्भव है कि हम पहिये को इतनी तेजी से घुमावें कि जब रोशनी दर्पण से लौटे तब बादवाले दांत पर पड़कर रुक कर जाय। वेग और भी बढ़ा कर ऐसा कर सकते हैं कि जिस राह से किरण आकर दर्पण पर पड़ी उस के प्रतिफलित होने पर बादवाली राह से निकले। पहिये का वेग मालूम है। इस लिये किरण का भी वेग हम मालूम कर सकते हैं। यदि छोटी-से-छोटी भी लहर १।६७ हजार इंच लम्बी है और रोशनी एक लाख छियासी हजार मील प्रति सेकंड चलती है तो सीधा हिसाब है कि लगभग ८ नील लहरें प्रतिसेकंड हमारी आंख में आती रहती हैं, तब हम नीले रंग की रोशनी देखते हैं।

जब विद्युत्कण अपने चारों ओर छोटी-छोटी लहरें फेंकते-फेंकते ३५,००० इंच लम्बाई की फेंकने लगते हैं तब वह लहरें बहुत धुमली-सी दिखाई देने लगती हैं। लहरों की छोटाई और तेजी ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है त्यों-त्यों हमें क्रम से लाल नारंगी, पीला, हरा, आसमानी, नीला और बैंगनी रंग का प्रकाश दिखाई देने लगता है। हर रंग का अर्थ है लहर की भिन्न लम्बाई, परंतु जब सब मिल जाते हैं तब सफेद रोशनी मालूम होने लगती है। सूरज की सफेद रोशनी जब कांच में प्रवेश करती है तो लहरों का वेग कुछ घट जाता है और अगर तिपहले कांच के भीतर पैठे तो अलग-अलग लम्बाई की किरणें उसमें से अलग-अलग राह से निकलने लगती हैं और इंद्र-धनुष के विविध रंगों का फैलाव देखने में आता है। तिपहले बिल्लौर में यह तमाशा हर आदमी देख सकता है या सातों रंगों को ठीक दिये हुए चित्र के अनुसार बड़ाई छोटाई का लिहाज करके एक गोले गत्ते पर चढ़ाकर एक पहिये में लगा दे और बड़े ढंग से चक्कर दे तो सब मिलकर एक ही सफेद रंग होगा। यदि इस चक्कर में से कोई एक रंग छिपा दिया जाय तो छहों का मिला-जुला कोई रंग तेज घुमाने से दिखाई पड़ेगा। अनेक वस्तुएँ ऐसी हैं कि जो आंख के सामने रखकर सफेद रंग

को देखा जाय तो सभी किरणें उस के भीतर से नहीं गुजरेंगी कुछ रुक जायँगी। जिस में से छः तरह की किरणें रुक जायँगी और केवल उस गुजरनेवाले रंग का दिखाई पड़ेगा। हमें किसी काच में हरा रंग इसलिये दीखता है कि हम यदि उसे आँख के सामने रखते हैं तो सफेद रोशनी के और बाकी रंग आने नहीं पाते, रुक जाते हैं।

तिपहले काच में जैसे हम रोशनी के किरणों के टूटकर अलग-अलग रंगों में बँटते हुए देखते हैं उसी तरह प्रकृति में बराबर इस तरह पर प्रकाश का विश्लेषण होता रहता है। इन्द्र धनुष तभी दिखाई पड़ता है जब कि वायु के भीतर की घनी नमी तिपहले कांच का काम करने लगती है। साफ का एक टुकड़ा या गिरा हुआ तेल या पानी पर फैली हुई तेल की तह यही काम करती है। वायुमंडल प्रकाश के लहरों को दिन भर अलगाया करता है। रंग-बिरंग के बादल यही तमाशा दिखाते हैं। धरती पर की फूल पत्तियों और सभी वस्तुओं में यह क्रिया देख पड़ती है। हमारे सर पर का नीला आसमान क्यों प्रकट करता है? ऊपरी वायुमंडल के बहुत सूक्ष्म कण बहुत नन्हें-नन्हें नीले रंग की लहरों को पकड़कर बिखेरा देते हैं। आकाश की नीलिमा हम सहज में जब चाहें तब प्रयोगशाला में एक परख-नली के भीतर देख सकते हैं। जहाँ कहीं हम को सफेदी दिखाई पड़ती है हमें समझना चाहिये कि यह पदार्थ जो सफेद दीखता है सभी किरणों को फेंक देता है या लौटा देता है। जो चीज काली दीखती है वह सभी किरणों को सोख ले रही है। प्रत्येक पदार्थ में विद्युत्कण स्फुरण कर रहे हैं और उन के पास नीली लहरों की बाढ़ आती रहती है। अपनी स्फुरण की दशा के अनुकूल वह लम्बी मझोली या छोटी लहरों को या उन के मिले-जुले अंशों को सोख लेते हैं। जिन को वह छोड़ देते हैं उन का मिला-जुला या असली रंग हमें देख पड़ता है। कभी-कभी सूरज के छिप जाने पर भी या धूप के चले जाने पर भी वह प्रकाश की लहरें देते रहते हैं। यही काला प्रकाश या अदृश्य प्रकाश है, इस से हम फोटो ले सकते हैं। काच की तरह कई पदार्थ ऐसे भी हैं जिन का स्फुरण बिल्कुल प्रकाश की लहरों के ही वेग से होता है। इसलिये उन के भीतर से यह लहरें गुजर जाती हैं।

ऐसी भी वस्तुएँ हैं जो विचित्र रीति से अपना ही प्रकाश देती हैं, अँधेरे में चमकती है। इन की ज्योति में आँच नहीं होती। यह विज्ञान का एक बहुत बड़ा रहस्य है कि ठढी ज्योति किस तरह निकाली जाय। रोशनी करने में व्यर्थ ही बहुत-सी शक्ति आँच और अदृश्य प्रकाश उपजाने में लग जाती है, जिन की हमें जरूरत नहीं होती। यह भेद जुगनू से खुल सकता तो कैसा अच्छा होता! स्कुल यह काम दे सकता है परंतु उस में भयानक दुर्गंध है। हम बड़ा खर्च करके रात को रोशनी करते हैं परंतु वह अच्छे रंग नहीं देती जो हमें सूरज से मिलते हैं। इस तरह रात को रंगीन कपड़े खरीदने में हम धोखा खाते हैं।

बैंगनी रोशनी से भी छोटी लहरोंवाली तेज अदृश्य किरणें होती हैं जो फोटोवालों के बड़े काम की होती हैं। यह या नीली बैंगनी आदि किरणें लाल या नारंगी परदे से गुजर नहीं सकतीं। इसलिये फोटोलेनेवाला ऐसे परदों से काम लेता है। प्रकाश की यही लहरें हरियाली के कणों को यह शक्ति देती हैं कि वह वनस्पति की रचना कर सकें और इसलिये सभी पेड़ों की गति ऊपर की ओर होती है और अपने पत्ते वह पंखे की तरह इसलिये फैलाये रहते

है कि नीले आकाश से जितना अधिक हो सके इन किरणों को वह अपने पत्तों की हथेलियों में रोक लें। कोयले की खानों में इसी विधि से प्राचीन युगों में बटोरी हुई शक्ति गड़ी हुई है जिसे आज हम खोद-खोद कर निकालते हैं और कारून के खजाने की रत्नराशि को बेपरवाही से खर्च कर रहे हैं।
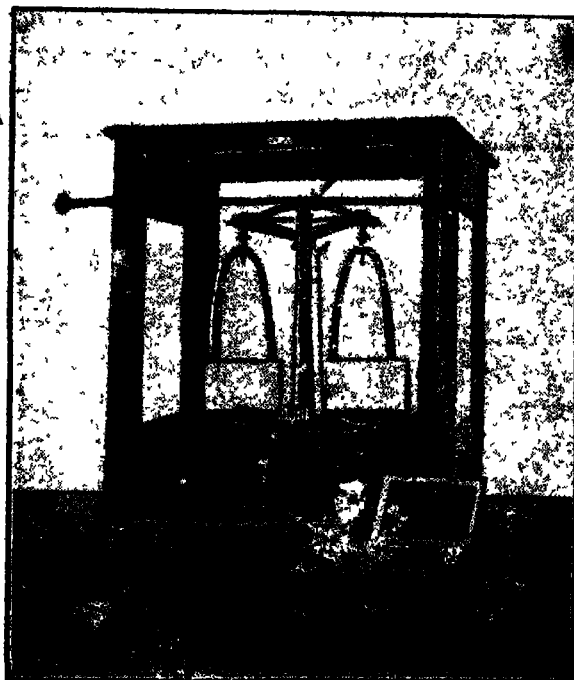
चित्र १४६—रासायनिक तुला के दोनों पलड़ों पर बराबर कटा सफेद कागज रखा हुआ है। दोनों तौल में बराबर हैं। कांटा ठीक शून्य पर है।

प्रकाशक की अनुमति से] [सायंटिफिक पेरिवाल ग्राफ़ हुक से

इन लहरियों की माला के अन्तिम सिरे पर एक्स किरणें आती हैं। इन की लम्बाई भी नापी गयी है, और एक सहस्रांश-मिति का करोड़वां भाग अथवा एक इंच का लगभग पचीस करोड़वाँ भाग पायी गयी है।

कोई दस बरस हुए सूर्यग्रहण के समय यह बात भी मालूम की गयी है कि गुरुत्वाकर्षण का प्रभाव प्रकाश की किरण पर भी पड़ता है और एक तारे से आती हुई किरण जब

सूर्य के पिंड के पास से होकर गुज़रती है तब सूर्य की ओर अपनी सीधी राह छोड़ कर झुक जाती है। प्रो० एडिंगटन कहते हैं कि रोशनी भी तौली जा सकती है और उन का अन्दाज़ा है कि धरती पर सूर्य से प्रतिवर्ष ४३६० मन के लगभग रोशनी आया करती है।

९—शक्ति के रूप

जैसे एक कण को उत्पन्न करने या नष्ट करने की शक्ति मनुष्य में नहीं है, वैसे ही शक्ति की एक छोटी-से-छोटी मात्रा भी न वह उपजा सकता है और न नष्ट कर सकता है।

चित्र १२०—बायें पलड़े के सफ़ेद कागज़ पर पेंसिल से "अल्पमात्रा" लिखकर रखा गया और फिर डांडी उठायी गयी तो कांटा शून्य से हटकर दाहनी ओर चला गया। यह तुला इतनी अल्पमात्रा को भी तोल सकती है। फिर भी आंच और रोशनी जैसी अति सूक्ष्म वस्तुओं को नहीं तोल सकती। इसी लिए इन्हें लोग वस्तु नहीं समझते थे।
प्रकाशक की अनुमति से] [सायंटिफ़िक पेडियाज़ डाक हुबे से

जैसे हम यह नहीं जानते कि बिजली के धनाणु और ऋणाणु क्या हैं वैसे ही हमें यह भी पता नहीं है कि वास्तव में शक्ति या सामर्थ्य क्या है। उस के भिन्न-भिन्न रूप तो मनुष्य मुद्दत

से जानता है। किसी गिरती हुई वस्तु में कितनी शक्ति है यह तो हर पनचक्कीवाला जानता है। ईंधन जलानेवाले गर्मी की शक्ति जानते हैं। पिछले सवा सौ वर्षों में वैज्ञानिकों ने यह अच्छी तरह निश्चय कर लिया कि एक ही शक्ति के अनेक रूप हैं, एक रूप दूसरे रूप में बदल सकता है और शक्ति की मात्रा विश्व में स्थायी है और शाश्वत है।

शक्ति के सभी रूपों पर विचार कर उस के दो मुख्य रूप माने गये हैं। लुढ़कता हुआ पत्थर, बहता हुआ पानी, गिरता हुआ कोई पिंड, अथवा, गति की दशा में कोई भी पदार्थ जो शक्ति रखता है, उस शक्ति को "गति-जनित सामर्थ्य" कहा जाता है। यदि कोई पत्थर का भारी टुकड़ा किसी चट्टान के सिरे पर पड़ा हुआ है तो वह गति की दशा में नहीं है परन्तु उस की अवस्था ऐसी है कि वह गति-सामर्थ्य अपने में छिपा हुआ रखता है। इस तरह के सामर्थ्य को "अवस्था-जनित सामर्थ्य" कहेंगे। इन्हीं दोनों रूपों में हम सामर्थ्य के और सब रूपों को बाट सकते हैं। जो कोयला जल नहीं रहा है उस में अवस्था-जनित-सामर्थ्य भरा पड़ा है। जो जल रहा है उस के अणु परमाणु और विद्युत्कण बड़े वेग से गति कर रहे हैं। इसलिये जलते हुए कोयले में गति-जनित सामर्थ्य है। यह दोनों तो शुद्ध वैज्ञानिक विभाग हुए। परन्तु साधारणतया हम देखते क्या हैं? हम ताप को कहीं गर्मी के रूप में देखते हैं कहीं खिचाव के, कहीं रोशनी के, कहीं यंत्रो के और कहीं बिजली के रूप में देखते हैं। यह भी हम देखते हैं कि एक रूप की ताकत दूसरे रूप में बदली जा सकती है। जैसे गिरते हुए पानी के बल से चक्की भी चलती है और डायनमो भी। पानी में सामर्थ्य है धरती के खिंचाव से। इस खिंचाव को हम पनचक्की में यंत्रबल बना देते हैं। और डायनमो में उसे बिजली का रूप देते हैं। बिजली से गरमी भी पैदा करते हैं और रोशनी भी, और यंत्र भी चलाते हैं, तार और टेलीफोन से ध्वनि भी पैदा करते हैं। इस तरह गुरुत्वाकर्षण के बल को भिन्न-भिन्न रूपों में हम काम में लाते हैं। एक रूप से दूसरे रूप में ताकत या सामर्थ्य का बदल जाना प्रकट ही है। परन्तु सब से अधिक महत्व की बात यह है कि सब तरह का सामर्थ्य गरमी का रूप धारण करने के लिए प्रवृत्त रहता है। गिरते हुए पत्थर से गरमी पैदा होती है। झरने का पानी ऊपर की अपेक्षा नीचे अधिक गरम होता है क्योंकि जल के कण धरती से टकरा-कर गर्मी पैदा करते हैं। अधिकांश रासायनिक क्रियाएं गरमी पैदा करती हैं। तुलसीदास जी ने लिखा है।

एक दारुगत देखिय एकू।
पावक सम युग ब्रह्म विवेकू।

इस से मालूम होता है कि भारत के लोगों को यह बहुत काल से मालूम है कि लकड़ी में गरमी या आग मौजूद है परन्तु छिपी हुई या सोयी हुई है। लकड़ी जलती है तब वह प्रकट हो जाती या निकल पड़ती है। रश्मिम् या किसी और रश्मिशक्तिक पदार्थ के पर माणु टूटती हुई अवस्था में गरमी पैदा करते हैं। हर घंटे में रश्मिम् इतनी आंच निकालता है कि उस के ही आयतन के बराबर जल बरफ की ठंडक की अवस्था से खौलाया जा सकता है।

यह गरमी क्या है ? हम कह चुके हैं कि सभी वस्तुओं के सब से छोटे टुकड़े जिस में उस वस्तु के सभी गुण मौजूद हों अणु कहलाते हैं और यह अणु बड़े वेग से बराबर हिलते रहते हैं। इनके हिलते रहने से वस्तु में गरमी की एक अवस्था बनी रहती है। परन्तु किसी कारण से भी हो यह जब ज्यादा तेजी के साथ हिलने लगते हैं तब गरमी बढ़ जाती है और हम कहते है कि यह चीज़ गरम हो गयी। लकड़ी या कोयला जब जलता है तब अणुओं में भयानक गति होती रहती है और अणु टूट-टूटकर परमाणु रूप में अलग होते रहते हैं और परमाणु टूट-टूटकर विद्युत्कण निकालते रहते हैं। जो गति केवल अणुओं में बड़ी थी वह परमाणुओं में हलचल पैदा करने लगी और परमाणुओं की बढ़ी हुई हलचल विद्युत्कणों तक पहुँची। इन तीनों हलचलों की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई सूक्ष्मता के हिसाब से आकाश तत्त्व में सूक्ष्म-से-सूक्ष्म लहरें उठने लगीं। बड़ी लहरें हमारी त्वचा की नाड़ियों में आंच का अनुभव कराने लगीं और छोटी लहरें प्रकाश की किरणों के रूप में हमारी आंख की नाड़ियों को रोशनी दिखाने लगीं। इस तरह यह बात बहुत साफ हो जाती है कि हम को सामर्थ्य का अनुभव चाहे जिस तरह पर हो वह अन्त में गति ही है, जिस से आकाश तत्त्व में तरह-तरह की लहरें पैदा होती हैं। आकाश तत्त्व बहुत सूक्ष्म है, इसलिये सूक्ष्म-से-सूक्ष्म लहरें उठा सकता है। जो लहरें वायु में पैदा होती हैं वह बड़ी स्थूल होती हैं। उन में से कुछ का प्रभाव हमारे कानों पर पड़ता है, तब हम शब्द सुनते हैं। यह शब्द भी वायु में उस के अणुओं के भीतर हलचल पैदा होने से प्रकट होता है, चाहे वह हलचल दो जड़ वस्तुओं को टकराकर पैदा की जाय और चाहे किसी चेतनप्राणी के वागयन्त्र द्वारा पैदा की जाय। इस तरह शब्द उत्पन्न करनेवाली जो हलचल पैदा की जाती है वह बड़ी ही स्थूल हलचल है। अणुओं की हलचल से गरमी पैदा होती है तब नापी जा सकती है, जब यह हलचल अधिक पैदा की जाय और भरसक ध्वनि में बदलने न दी जाय। जूल ने पानी को तेजी से मथकर यह नाप लिया कि कितने यान्त्रिक बल से गरमी की कितनी मात्रा पैदा की जा सकती है। इस प्रयोगसे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य अपना सामर्थ्य नपे हुए यान्त्रिक बल में बदल देता है। उस से जल में जो हलचल पैदा होती है और अणुओं में अधिक वेग उत्पन्न करती है तो वह यान्त्रिक बल गरमी में बदल जाता है, गरमी से बढ़कर वही रोशनी में बदल जाता है। परन्तु परिवर्त्तन चाहे कितना ही हो सामर्थ्य की पूर्ण मात्रा में कमी-बेशी नहीं आती। वह ज्यों-की-त्यों बनी रहती है।

पत्थर का कोयला काम में लानेवाली पच्छाहीं उद्योगी दुनिया आजकल इस बड़ी चिन्ता में है कि जब कोयलों की खानें खाली हो जायँगी और करोड़ों बरस का सूर्य से लेकर इकट्ठा किया हुआ ताकत का खजाना खाली हो जायगा तो कल-कारखानों के लिये ताकत कहाँ से आवेगी ? इस समस्या को सुलझाने के लिए बहुत से उपाय सोचे जा रहे हैं। गिरता हुआ जल, बहता हुआ पानी, ज्वार-भाटा, सूरज की रोशनी, भूगर्भ की आंच इत्यादि सामर्थ्य के अनेक भंडारों पर विचार किया गया है। परन्तु कोयले के मुकाबिले में इन में से हर एक भंडार बहुत छोटा जंचता है। परन्तु परमाणु के भीतर जितनी ताकत बन्द है, वह बेहद है। परमाणु सामर्थ्य का अटूट भंडार है। फिर भी अभी तक वैज्ञानिक इस भंडार

में हाथ लगाने का साधन नहीं पा सका है। इस विपुल धन को वह दूर से ललचाई निगाहों से देख रहा है, परन्तु कोई राह नहीं पाता जिस से वह बिना जोखिम के उसे निकाले और अपने काबू में कर के उसे काम में लावे।

हम यह कह चुके हैं कि सामर्थ्य या ताकत के रूप तो बदलते रहते हैं परन्तु ताकत नष्ट नहीं होती। फिर वह हो क्या जाती है? वह खर्च हो जाती है या अपने अधिकार से बाहर निकल जाती है और फिर उसे हम काम में नहीं ला सकते। वह कहीं दूर नहीं चली जाती। यह सारा जगत सामर्थ्य का विशाल महासागर है जिस में से अत्यन्त सूक्ष्म अंश हम लोगों को मिल सकता है और हम जब उस से काम ले लेते हैं तब वह उसी अनंत महासागर में विलीन हो जाता है और फिर हमें नहीं मिल सकता। हम लोहे को तपाकर सफेद कर दें और फिर उसे ज्यों-का-त्यों छोड़ दें तो धीरे-धीरे उस की आंच निकलती जायगी और अन्त में वह उसी तापक्रम को पहुँच जायगा जिस पर उस के चारों ओर की चीजें हैं। यह गरमी, यह ताकत भी ताकत के उसी अनंत महासागर में मिल गयी, और वह हमारे लिए अप्राप्य हो गयी। परन्तु इन सब बातों से यह भी स्पष्ट है कि सामर्थ्य सब जगह बराबर नहीं है, बल्कि जैसे पानी ऊपर से नीचे की ओर बहता रहता है उसी तरह सामर्थ्य भी बहता रहता है। यदि सामर्थ्य की मात्रा इस विश्व में सभी वस्तुओं में बराबर होती अथवा सब वस्तुओं में गरमी समान होती, तापक्रम एक-सा होता, तो हम गरमी का कुछ भी अनुभव न करते क्योंकि गरमी तो आखिर एक पदार्थ के ठण्डे और दूसरे के गरम होने से ही मालूम होती है।

गरमी बराबर वस्तुओं में से निकल-निकलकर विश्व के अनन्त देश में समाती जाती है और अप्राप्य होती जाती है। इस तरह हो सकता है कि किसी सुदूर भविष्य में हमारे जगत का तापक्रम समान हो जाय। इस का यह अर्थ न होगा कि वस्तुओं में सामर्थ्य रह ही न जायगा। जो सामर्थ्य वस्तुओं को धारण किये हुए है वह तो बना रहेगा और साथ ही जितना ताप सब वस्तुओं ने सोखकर अपने में मिला लिया है वह भी कहीं गया नहीं है। परन्तु सब का तापक्रम बराबर होने से अब गरमीवाला सामर्थ्य अप्राप्य है। इस का यह अर्थ है कि सारे संसार में शक्ति के भरे रहते भी संसार का सारा काम बन्द हो जायगा। इसी अवस्था को हमारे हिन्दू शास्त्रों ने प्रलय-काल की "साम्यावस्था" कही है। प्रकृति के गुणों का वैषम्य ही तो सर्ग की रक्षा करता रहता है। दुनिया का काम चलता रहता है। वैज्ञानिकों ने हिसाब लगाया है कि ठंढक की एक ऐसी दशा हो सकती है जिस में अणुओं की गति भी बिलकुल रुक जाय। यह ठंढक गलते हुए बरफ से २७३ दर्जा नीचे होती है। इस से अधिक ठण्डक हो नहीं सकती। वैज्ञानिक कहते हैं कि कोई दिन ऐसा आवेगा जब कि सूर्य का ज्वलन्त पिंड भी ठण्डा होकर गलते हुए बरफ से २७३ अंश नीचे पहुँच जायगा।

परन्तु कोई नहीं जानता कि आगे किसी प्रकार से परमाणुओं में छिपी हुई शक्ति काम में लायी जा सके, अथवा जो सामर्थ्य अप्राप्य हो गया हो उसे किसी विधि से प्राप्त किया जा सके, और इस तरह संसार को परम शून्य ताप तक पहुँचने और नष्ट हो जाने से बचाया जा सके।

बीसवां अध्याय

सापेक्षवाद द्वारा विचार-क्रान्ति

१—गुरुत्वाकर्षण

जो लोग समुद्र के किनारे रहते हैं वह ज्वार-भाटे का तमाशा अकसर देखा करते हैं। यह बड़े अचरज की बातें मालूम होती हैं कि चन्द्रमा जो हम से २ लाख ३८ हजार मील दूर है और सूरज जो ६ करोड़ मील से भी ज्यादा दूर है हमारी धरती पर ऐसा खिचाव पैदा करे कि समुद्र में लहरें उठने लगें और धरती दोनों ध्रुवों पर चिपटी हो जाय और बीच में उस की तोंद निकलती आवे। परन्तु यह बात आज विज्ञान से सिद्ध मानी जाती है और पहले-पहल न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त के साथ साथ ज्वार-भाटा के विषय को भी प्रमाणित किया था।

हम धरती के उस भाग पर यदि विचार करें जिस पर प्रशांत महासागर का विस्तार है और यह मान लें कि यही भाग चन्द्रमाके सम्मुख पड़ रहा है तो हम सहज में समझ सकते हैं कि जल के ढीले और चंचल कणों पर चंद्रमा का खिचाव ऐसा पड़ सकता है कि जल को चबूतरों और टीलों की तरह ऊंचा उठा दे। खिंचाव तो सारी धरती पर पड़ता है परंतु ठोस भाग पर खिंचाव का वह प्रभाव नहीं पड़ सकता जो ढीले और स्वतंत्र जल पर पड़ सकता है। वैज्ञानिकों को तो यह भी अनुमान करने का हेतु है कि धरती के ठोस पिण्ड में भी ज्वार-भाटा के तरह की एक गति होती है। परन्तु जल भी सर्वत्र फैला और मिला हुआ है। इस लिये प्रशान्त महासागर के दूसरी ओर इसी तरह का जल का टीला बन जायगा। और यदि पृथ्वी का सारा ऊपरी तल जल की तरह तरल होता तो पृथ्वी के दैनिक चक्कर के साथ-साथ जगदव्यापी जल के दोनों टीले या उभार चौबीस घंटे में जगत् का चक्कर लगाया करते। यह भी सहज में सोचा जा सकता है कि इस प्रकार धरती के किसी भाग में भी समुद्र के जल का दो बार ऊँचे होना अथवा नित्य दो टीलों का उठना जरूरी है। ज्वार-भाटे के गुरुत्वाकर्षण वाले सिद्धान्त का यह मोटे-से-मोटा रूप है। परन्तु वास्तव में जो बातें देखी जाती हैं वह बहुत जटिल हैं और यह समस्या इतनी सीधी नहीं है

जितनी यहाँ समझायी गयी है। समुद्रतट का रहनेवाला यह भी प्रायः जानता है कि ऊँची लहरें ठीक उसी समय नहीं उठतीं जिस समय चन्द्रमा मध्याकाश या याम्योत्तर रेखा से गुज़रता है। उनके उठने का समय कई घंटे पहले या पीछे हुआ करता है। परन्तु ज्योतिषी लोग हिसाब लगाकर बहुत पहले से ऊँची लहरों के उठने का ठीक-ठीक समय बता देते हैं। यद्यपि यहाँ वह हिसाब तो नहीं दिया जा सकता और पूरे सिद्धान्त की व्याख्या नहीं की जा सकती तो भी इतना सहज में समझा जा सकता है कि अकेले चन्द्रमा ही नहीं खींच रहा है, सूर्य भी खींचता है। यद्यपि सूर्य का पिंड चन्द्रमा के पिंड से दो करोड़ साठ लाख गुना बड़ा है और इसलिये उसका खिंचाव अधिक होना चाहिये तथापि वह चन्द्रमा से ३८८ गुना अधिक दूरी पर है। इस दूरी के कारण उसका खिंचाव पिंड की इतनी बड़ाई होते हुए भी बहुत कम पड़ जाता है और चद्रंमा का खिंचाव अधिक पास होने के कारण उसके दूने से अधिक मज़बूती का होता है। इसीलिए जब सूर्य और चद्रंमा दोनों मिलकर खींचते हैं तो सबसे ऊँची लहरें उठती हैं। उसे पूर्ण ज्वार-भाटा कहते हैं। और जब एक दूसरे के विरुद्ध खींचते हैं तब छोटी लहरें उठती हैं और उसे "लघु ज्वार-भाटा" कहते हैं। इन के सिवाय कई और कारण भी हो जाते हैं जिनसे विविध स्थानों में विविध प्रकार की लहरें उठती हैं।

हम पहले खंड में यह दिखा चुके हैं कि धरती की रचना के आरम्भिक युग में यह पिंड अत्यन्त वेग से चक्कर लगा रहा था। चक्कर इतना तेज था कि दो तीन घटे में दिन और रात दोनों हो जाते थे। उस समय इतने वेग से चलने के कारण इस पृथ्वी से अनेक टुकड़ों का टूटकर उड़ने लगना स्वाभाविक है। चद्रंमा उन्हीं में से एक बहुत बड़ा टुकड़ा है जो पहले-पहल पृथ्वी से बिल्कुल रगड़ खाते हुए घूम रहा था। फिर धीरे-धीरे दूर होता गया और उसका चक्कर भी धीमा होता गया। धरती का भी चक्कर तब से बराबर धीमा होता आ रहा है। अब चौबीस घटे का अहोरात्र है। चन्द्रमा का भी चक्कर ऐसा धीमा हो गया है कि वह प्रायः २९ दिनों में धरती की परिक्रमा पूरी करता है। पृथ्वी के धीमे होने में चन्द्रमा का खिचाव और उससे उठनेवाली लहरें भी कारण हैं। यह लहरें पृथ्वी के चक्कर मारने में रुकावट डालती है और उसकी गति धीमी करती रहती हैं। पृथ्वी को चद्रंमा और सूर्य के खिंचाव के विरुद्ध इन लहरों को घसीटते हुए चक्कर लगाना पड़ता है, जिससे चक्कर का वेग बराबर कुछ न कुछ घटता जाता है। दो चार हजार वर्ष में तो इसका पता नहीं लगता, परतु करोड़ों बरसों में तो इस अत्यन्त थोड़े-थोड़े घटाव का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ जाता है।

२—सापेक्षवाद का प्रभाव

गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत पाश्चात्य देशों में न्यूटन के समय से माना जाता है और भारतवर्ष में उस के समय के कई सौ वर्ष पूर्व से अब तक ज्योतिष शास्त्र की जटिल से जटिल गुत्थियों को इसी सिद्धांत से सुलझाया गया है। परतु जर्मनी के प्रसिद्ध गणिताचार्य आलबर्ट ऐंस्टैन ने अपने नये सिद्धान्तों से विज्ञान का एक दम कायापलट कर दिया है। उनकी यह धारणा है कि गुरुत्वाकर्षण कोई शक्ति या बल या सामर्थ्य नहीं है। यह केवल "देश" का एक गुण

या स्वभाव है। उनकी यह भी धारणा है कि प्रकाश भारवान् वस्तु है और उसके परमाणु या कण विशेष मात्राओं में नापे या तोले जा सकते हैं। और उनकी यह भी धारणा है कि प्रकाश की लहरों की गति मानने के लिये जो आकाशतत्त्व मान लिया गया है उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। उन्होंने काल को एक चौथी दिशा या चौथा परिमाण माना है और गणित विज्ञान से अपनी इन धारणाओं के द्वारा प्रायः सभी नियमों को स्थापित कर दिया है और अनेक त्रुटियों को भी सुधार दिया है। यह सारे क्रान्तिकारी विचार ऐंस्टैन के सापेक्ष वाद के नाम से प्रसिद्ध हो गये हैं और इनसे वैज्ञानिक संसार में बड़ा उथल-पथल मच गया है।

एक सफेद कागज़ के तख्ते पर एक फुट लम्बी सीधी लकीर एक सेकंड में एक पेन्सिल से हम खींचते हैं। हम समझते हैं कि यह बिल्कुल सीधी है और हमने इसे एक सेकन्ड में सादे कागज पर खींचा है। परन्तु मान लो कि सूर्य्य के पिंड में रहनेवाला कोई प्राणी हमारी इस क्रिया को देख सकता है। उसने क्या देखा? कि हाथ में पकड़ी हुई पेन्सिल केवल एक फुट नहीं दौड़ी बल्कि पृथ्वी के धुरे पर वाले चक्कर के साथ एक बहुत लम्बी परन्तु झुकी हुई लकीर बन गयी। परन्तु इतनी ही बात नहीं हुई। धरती जो सूरज के चारों ओर चक्कर लगा रही है उसके साथ-साथ पेन्सिल लिये हाथ घूम गया है। और जहाँ केवल एक फुट लम्बी सीधी लकीर हम देखते हैं वहाँ सूर्य के पिंड वाले पुरुष के देखने में अन्तरिक्ष देश में पूरे चालीस मील वक्र या झुकी हुई लकीर दिखाई पड़ती है। अब जो कुछ उसने देखा वह ठीक है या जो हमने देखा वह ठीक है? ठीक दोनों ही हैं। हम बिलकुल पास से देखते हैं और धरती के साथ दोनों तरह का चक्कर लगाते हुए देखते हैं। परंतु सूर्य के पिंडवाला दर्शक धरती के चक्करों के बाहर से और नौ करोड़ मील से भी अधिक दूरी से देखता है। दोनों अपने हिसाब से ठीक देखते हैं और दोनों की दृष्टि अपनी-अपनी परिस्थिति से सापेक्ष है। गति और दिशा सदा देखनेवाले की स्थिति पर निर्भर है। किसी वस्तु को हम चलती हुई इसी लिये समझते हैं कि वह किसी दूसरी वस्तु से अधिक पास या दूर हो जाती है। अगर दूसरी वस्तु न हो तो पहली वस्तु को चल या अचल कुछ भी नहीं कह सकते। इसलिये गति का विचार सापेक्ष है। कभी-कभी दो रेलगाड़ियाँ एक ही दिशा में चलती हैं और हम तेज गाड़ी में बैठे होते हैं तो देखते हैं कि दूसरी गाड़ी मन्द गति से पीछे की ओर जा रही है। परंतु बाहरवाला यही देखता है कि एक गाड़ी दूसरे के साथ चली आ रही है। देखना दोनों का ठीक है और दोनों का विचार अपनी स्थिति से सापेक्ष है। इस तरह गति और दिशा देखनेवाले के लिये सापेक्ष हैं।

हम रेलगाड़ी में बैठे हुए हैं और सारी खिड़कियाँ बन्द हैं। गाड़ी बहुत तेज चली जा रही है, मगर रास्ता सीधा है और वेग समान है, गाड़ी हिल नहीं रही है। ऐसी दशा में यह पता नहीं लगता कि गाड़ी चल रही है या नहीं। जब तक गाड़ी से बाहर की किसी चीज से हम मिलान न करें तब तक न गति का पता लग सकता है, न दिशा का। खिड़की खोल दी और दूसरी गाड़ी गुजरती हुई देख पड़ती है तो यह कहना मुश्किल होता है कि वस्तुतः हमारी गाड़ी चल रही है या दूसरी अथवा कौन सी गाड़ी खड़ी है या कौन हमारे साथ या हमारे

विपरीत दिशा में दौड़ रही है। सापेक्षवाद देखनेवाले की स्थिति के अनुसार विचार करनेकी विधि है। हमने यह छोटे-छोटे उदाहरण विचार के ढग को दिखाने के लिये दिये हैं। वस्तुतः ऐंस्टैन के विचार बड़े गम्भीर और दुरूह हैं।

भारतीय वेदान्तवालो के निकट देश, काल और वस्तु का विचार नया नहीं है। इन्हीं पर ऐंस्टेन ने भी विचार किया है। उनका कहना है कि देश की कल्पना भी सापेक्ष है। देश में अगर कोई वस्तु न रह जाय तो नितान्त शून्य देश हमारे विचार में आ नहीं सकता। देश में वस्तुओं की कल्पना ही हमें देश का भान कराती है। अगर हमारा सारा दृश्य जगत् दबकर नारंगी सा छोटा हो जाय तो उसके भीतर की सारी चीजें उसी अनुपात से छोटी हो जायेंगी। फल यह होगा कि सूर्य्य की दूरी तब भी हम से ६॥ करोड़ मील ही रहेगी। इसलिये बड़ाई छोटाई या परिमाण भी सापेक्ष है।

अगर कभी कोई घटना न हो तो समय कहाँ रह जाय? उस का पता कैसे लगे? जिस तरह गज और हाथ से हम दूरी नापते हैं उसी तरह घड़ी की सुई की चाल से हम समय नापते हैं। वस्तुतः देश क्या है, कितना है, या काल क्या है, कितना है, इसका कोई पता हम को नहीं है। यह सोच लेना कि दो घटनाओं के बीच में जितना समय या जितनी दूरी लगती है सदा बराबर ही होती है, भारी भूल है। हर देखनेवाला अपनी तरह पर विचार करता है। हर एक का अन्दाजा अलग अलग होता है। समय के लिये हम नपना क्या बनाते हैं? वह तो किसी वस्तु की एक विन्दु से दूसरे विन्दु तक गति मात्र है चाहे वह वस्तु एक सूई हो या एक ग्रह।

परन्तु यह गति और देश तो सचमुच कोई वस्तु नहीं है बल्कि देखनेवाले की सापेक्ष दृष्टिमात्र है। यदि किसी अज्ञात शक्ति के सहारे इस दृश्य जगत् की सारी घटनाएँ एक हजार गुना अधिक धीमी हो जायँ तो क्या होगा? घड़िया जितनी देर मे पाच हजार मिनिट की दूरी तय करेंगी या जितनी देर में हम एक हजार बार सास लेते उतनी देर मे एक बार सास लेंगे। दिन, रात, महीने, ऋतु पौधो का अंकुर निकलना और बढ़ना जीव-जन्तुओं की सारी क्रियाएँ, जीवन-मरण, सब कुछ एक हजार गुना ज्यादा सुस्त हो जायगा। हमारा जीवन एक हजार गुना अधिक लम्बा हो जायगा? यह सब होते हुए भी किसी को रत्ती भर यह पता न लगेगा कि समय में कुछ भी हेर फेर हुआ है। * ऐंस्टैन ने यह प्रमाणित कर दिया है कि देश और काल सब सापेक्ष है और असल में यह गुणमात्र हैं जिन का हम वस्तुओं पर आरोप करते हैं। ऐंस्टैन यह भी कहता है कि किसी पदार्थ की लम्बाई,चौड़ाई और मोटाई, और देखने में वह जितने देश में अमाया हुआ है वह सब देश, उस पदार्थ के वेग पर निर्भर है। किसी वस्तु का रूप और उस की बड़ाई-छोटाई उस की गति की दिशा पर और वेग पर निर्भर है। यह सब बातें एक सापेक्षताके विचार पर निर्भर हैं।

---

* "मास दिवसकर दिवस भा मरमु न जानइ कोइ" रामचरितमानस के इस दोहे की गुत्थी ऐन्स्टैन के सापेक्षवाद से खूब सुलझ सकती है।

३—गुरुत्वाकर्षण पर नया विचार

ऐंस्टैन का विचार है कि गुरुत्वाकर्षण कोई शक्ति या बल नहो है। यह केवल देश का एक गुण है। इसे समझने के लिये कल्पना कीजिये कि आकाश के किसी सुदूर अन्तरिक्ष देश में किसी स्वतत्र तारे की तरह आप का कमरा अकेला निश्चल शून्य देशों में स्थिर है, उस के भीतर आप बैठे हुए हैं, तो वहाँ आपके शरीर में कोई भी भार नहीं हो सकता। आपके पाँव नीचे धरती को नहीं दबावेंगे और अगर आप एक गेंद छत की ओर फेंके तो वह छत में जाकर रुक जायगा और वहीं रह जायगा। एक भारी चीज कमानी-वाले काँटे पर लगा दीजिये तो भी कमानी नहीं खींचेगी क्योंकि खिंचने के लिये उस में बोझा नहीं है। अब यह मान लीजिए कि आप का कमरा उस देश मे ठीक वैसे ही बढ़ते हुए वेग से चलने लगा जिस बढ़ते हुए वेग से धरती पर कोई चीज गिरती है। अब क्या होगा ? उस कमरे का फर्श आप के पाँवों को ऊपर की तरफ दबाने लगेगा और गेंद को पकड़ लेगा परंतु यह पकड़ना ऐसा मालूम होगा कि गेंद गिर गया है। अब काँटा जो ऊपर की तरफ लगाया हुआ है ठीक ठीक तौलने लगेगा। कोई ऐसा प्रयोग नहीं है जिसे आप करके जान सकें कि आप का कमरा निरंतर बढ़ते हुए वेग से दौड़ रहा है या स्थिर है और सब चीजों को अपनी ओर खींच रहा है। आपको तो यही ख्याल होगा कि कमरे में आकर्षण शक्ति है। परंतु आप की यह भारी भूल हो सकती है। इसी तरह पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के सम्बन्ध मे भी हमारी ऐसी ही भूल हो सकती है। इस प्रकार के सापेक्ष विचार से इस में तो सन्देह नहीं रह जाता कि गुरुत्वाकर्षण के समझने की और भी विधिया हो सकती हैं।

न्यूटन ने पेड़ से सेब गिरते देखा तो समझा कि धरती उसे खींचती है। ऐंस्टैन कहता है कि सेब इसलिए गिरता है कि जहाँ कहीं पदार्थ होता है वहा स्वयं देश ही वक्र हो जाता है। एक बहुत थोड़े नतोदर दर्पण में कहीं सीधी रेखाएँ नहीं होती और उस पर कोई चीज चलायी भी जाय तो वक्र रेखा में ही चलेगी। एक नतोदर कमरे के ठीक बीचो-बीच एक तकिया पड़ा हुआ है। उस कमरे में भीत के पास जिस ही ओर गोली फेंको, वह लौटकर तकिये के पास आ जाती है। देखने में ऐसा मालूम होगा कि तकिया हर तरफ से गोली को खींच लाता है। परंतु असल बात यह है कि कमरे का फर्श कुछ नतोदर है जैसे एक चिलमची। इसी से गोली तकिये के पास चली आती है। वास्तव में तकिया से उस से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी तरह देशमात्र वक्र है और इसीलिये जितनी चीजें देश के भीतर चल रही हैं सब की ही वक्र गति है। यहाँ तक कि प्रकाश भी वक्र गति से चलता है। इस भौतिक संसार में जो कुछ हमारे जानने में आता है, देश काल वस्तु से मिलकर बना हुआ है। यह तीनों एक ही सत्ता के तीन पहलू हैं। वस्तुमात्रा देश काल के भीतर चल रही है, भरसक सीधे ही रेखा में चलती है, परन्तु वक्रता को क्या करे। देश और काल में एक साथ ही स्थिति-परिवर्त्तन मात्र गति है। जितनी ही अधिक वस्तु की सत्ता होती है उतनी ही अधिक वक्रता देश में आती है। देश काल के भीतर वस्तु-सत्ता के होने से वक्रता के बढ़ जाने का ही नाम गुरुत्वाकर्षण है। पृथ्वी सूर्य के चारों ओर दीर्घवृत्त

मार्ग में घूमती है, इसलिये नहीं कि सूर्य उसे इस प्रकार खींच रहा है बल्कि इसलिये कि सूर्य के महापिंड के होने से देश काल में वक्रता बढ़ गयी है। इसीलिए देश के भीतर गति करते
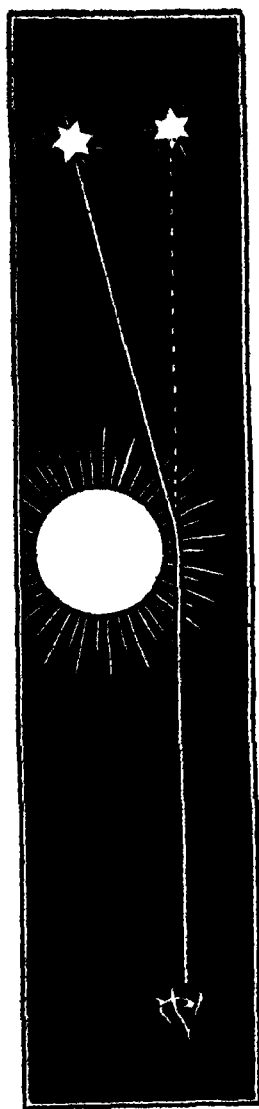
चित्र १२१—"सूर्य के ठीक पीछे रहनेवाले तारे का प्रकाश उस के पास से झुककर हमारी आँखों तक पहुँचेगा", यह बात ग्रहण के समय प्रत्यक्ष हो गयी।

[टामसन से ज्यार्ज न्यून्स की अनुमति से]

हुए भूपिंड के लिये चलने का सबसे निकट का और सीधा मार्ग दीर्घवृत्ताकार है। इसलिये गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त की कोई आवश्यकता नहीं है। असल बात यह है कि वस्तुकी अधिकता से देश की वक्रता बढ़ जाती है। सूर्य के ठीक पीछे रहनेवाले तारे का प्रकाश उस के पास से झुककर हमारी आँखों तक ठीक उसी तरह पहुँचेगा जैसे कि रेलगाड़ी कभी-कभी घूमकर आया करती है। यह बात पूर्ण ग्रहण के समय आँखों से देखी जा सकती है और फोटो ली जा सकती है। इस तरह तारा अपनी सच्ची जगह से हटा हुआ जान पड़ेगा। लगभग पन्द्रह बरस के हुए कि ग्रहण के समय में ठीक यही बात देखी गयी और ऐन्स्टैन ने पहले से हिसाब निकालकर तारे की जो स्थिति बतायी थी वह भविष्यवाद बिल्कुल ठीक निकला।

निष्कर्ष यह निकला कि गुरुत्वाकर्षण देश का एक गुण या धर्म्म है और वस्तु की कोई शक्ति नहीं है।

४—वक्रता की समस्या

प्राचीन उकलैदस के रेखागणित का यह सिद्धान्त है, कि जिस रेखा के एक अंतिम विन्दु की सीध में दूसरे अंतिम बिन्दु को इस तरह पर रख सकें कि पहले विन्दु के पीछे दूसरा इस तरह पर छिप जाय कि सारी रेखा अदृश्य होकर एक विंदु ही दिखाई पड़े तो वह रेखा सीधी रेखा होगी।* यह परिभाषा स्पष्ट ही इस बात पर अवलम्बित है कि प्रकाश की किरण सीधी ही रेखा में चलती है। परन्तु अभी हम देख चुके हैं कि प्रकाश का भी सीधी रेखा में चलना आवश्यक नहीं है। इसलिये जिसे रेखागणित में सीधी रेखा कहते हैं वह शुद्ध कल्पना है क्योंकि जब देश का एक गुण ही वक्रता है तब सीधी रेखा वास्तव में कभी हो नहीं सकती। यह विषय बहुत कठिन है। परन्तु हम कोशिश करेंगे कि पाठकों को भरसक कुछ समझ में आ जाय।

हम वस्तुओं के तीन परिमाण जानते हैं और उसी के भीतर हमारा जीवन है। यह तीन परिमाण हैं लम्बाई, चौड़ाई, और मोटाई। जितनी वस्तुएँ हैं सब में यह तीन बातें जरूर पायी जाती हैं। परन्तु थोड़ी देर के लिये मान लो कि कुछ ऐसे प्राणी हैं जिन के शरीर में लम्बाई और चौड़ाई तो है परंतु मोटाई नहीं है। उन्हें मोटाई की खबर भी नहीं है। उन की दुनिया में लंबाई और चौड़ाई यही दो चीजें हो सकती हैं। न तो वह ऊँचाई या गहराई का पता रखते हैं और न वह एक रेखा को लांघ कर दूसरी रेखा तक पहुँच सकते हैं। क्योंकि लाघने में ऊँचाई का पता होना जरूरी है। वह सीधे चल सकते हैं। परंतु जहाँ उन्हें रेखा मिलेगी वहाँ उन की गति रुक जायगी। वह अवश्य ही सीधी रेखा के सिवाय कुछ नहीं जानते। वह समानान्तर रेखा खींच सकते हैं और अवश्य ही उन के निकट दो विंदुओं के बीच में सब से छोटी रेखा ऋजु रेखा ही होगी और ऐसी रेखा इन्हीं दो विंदुओं के

* उकलैदस के अरबी संस्करण का अनुवाद जयपुर के सम्राट जगन्नाथ ने संस्कृत में किया है। उस में ऋजुरेखा की यही परिभाषा दी गयी है।